प्रवचन-ग्रन्थमाला : ग्रंथ १

प्रवचन-डायरी, १९५३

[आचार्य श्री तुलसी के जनवरी '५३ से दिसम्बर '५३ तक के प्रवचनों का संग्रह]

सम्पादक

श्रीचन्द रामपुरिया, बी० कॉम०, बी० एल०
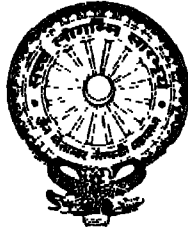
श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा,
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता-१

●
प्रथमावृत्ति :
सन १९६०
वि० सं० २०१७
●
प्रति संख्या :
१०००
●
पृष्ठांक :
३८०
●
मूल्य :
६ रु०
●

मुद्रक :
सुराना प्रिंटिंग वर्क्स,
४०२, अपर चितपुर रोड,
कलकत्ता-७

प्रकाशकीय

पाठकों के सम्मुख तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के ऐतिहासिक अवसर के अभिनन्दन में आचार्यश्री के मूल्यवान प्रवचनों का यह संग्रह प्रकाशित करते हुए परम हर्ष होता है। इस प्रवचन डायरी में जनवरी १९५३ से लेकर दिसम्बर १९५३ तक के प्रवचनों का संग्रह है। बाद की डायरियाँ भी प्रेस में हैं और जैसे-जैसे वे प्रकाशित होती जायेंगी, पाठकों की सेवा में हम उन्हें प्रस्तुत करते रहेंगे। महासभा की यह योजना है कि आचार्यश्री के एक-एक वर्ष के प्रवचन इसी रूप में वर्षों-वर्ष प्रकाशित होते रहें। सन् १९५३ की यह प्रवचन-डायरी "प्रवचन ग्रन्थमाला" का प्रथम पुष्प है।

आचार्यश्री ने मानव को चिरस्थायी सुख की दृष्टि देते हुए जीवन में धार्मिकता अपनाने का आह्वान किया है। इसी तरह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थायी सुख, शान्ति एवं विश्वकल्याण के लिए उन्होंने धर्म, अहिंसा, सत्य, संयम, त्याग, अपरिग्रह आदि-आदि अवलम्बनों का विशद विश्लेपण कर उनकी उपादेयता बतलाई है।

ये प्रवचन सब वर्गों एवं सब व्यक्तियों के लिए उपयोगी हैं। आशा है, पाठकों को इनसे अमित लाभ होगा।

तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह व्यवस्था उपसमिति
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता
५ अप्रैल, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक
साहित्य विभाग

भूमिका

संवत् २००१ की बात है। उस साल आचार्यश्री का चातुर्मास सुजानगढ़ में रहा। मैं प्रातः काल प्रवचन सुनने जाया करता था। प्रवचनों में आध्यात्मिक चिन्तन का एक ऐसा अविरल स्रोत बहता, जो चित्त को अपनी उछालों से शुद्ध ही नहीं करता पर उसमें एक नये जीवन की स्फुरणा और आकांक्षा भी भर देता था। तत्वों का सूक्ष्म विवेचन, चिरंतन सत्यों का सहज गम्भीर स्फोटन, आत्मा की जागृति का एक अनोखा आह्वान एवं सत्य और शिव पर आत्मार्पण कर देने की प्रेरणा की बलवती शक्ति से प्रवचन ओतप्रोत रहते थे। मन में आया कि यह वाणी तो इस युग और पीढ़ी के लिए ही नहीं, अपितु युग-युग के लिए भी एक वरदान है। वर्तमान मानव के लिये ही नहीं पर सदियों के मानव के लिए भी उनमें एक दिशा, शिक्षा और प्रकाश है। मैंने कुछ सन्तों से निवेदन किया—जो सन्त इस विरल युग-पुरुष की अमर वाणी का संग्रह करने में अपना जीवन न्योछावर करेगा वह इस साधना से स्वयं अमर बनेगा। मैंने गुरुदेव के चरणों में निवेदन किया—कुछ सन्त इस कार्य पर आयोजित किये जायँ तो वह मानव हित और सुख के लिए होगा।

उस समय मैंने तीन दिन के प्रवचनों का संकलन किया। प्रवचन सुनकर घर जाता और वहाँ स्मृति से जहाँ तक बन पड़ता मूल शब्दों में लिख डालता। यह संकलन मैंने सन्तों को दिखाया। मेरे सुझाव की महत्ता की बात ध्यान में आने जैसी थी ही। बाद में मैंने इसे विवरण पत्रिका में प्रकाशित किया। आचार्यश्री की वाणी का पहला संग्रह इस प्रकार मेरे हाथों से हुआ।

हमें कोटि-कोटि धन्यवाद देना चाहिए कर्मठ युवक जयचन्दलालजी दफ्तरी को जिन्होंने मेरे उपर्युक्त सुझाव को वर्षों बाद हाथों में लिया और सन्तों द्वारा संकलित प्रवचनों को संग्रहीत करने की योजना बनाई। महासभा भी इस दिशा में कुछ कार्य करती रही। 'जैन भारती' के अपने सम्पादन काल में जो-जो प्रवचन आते उनके सम्पादन का भार सहज रूप से मुझ पर रहता। प्रकाशित प्रवचनों की प्रतिक्रिया बड़ी अच्छी होती। मुझे इस बात का बड़ा हर्ष है कि मेरे सुझाव पर महासभा की ओर से एक-एक वर्ष के प्रवचनों के संग्रह पुस्तकाकार में प्रकाशित हो रहे हैं। इस मंगलमय कार्य के सम्पन्न करने में भी अड़चनें तो कम न आई। बीच में कार्य रोकना भी पड़ा। पर मेरा हठ कहिये अथवा प्रवचनों की अपनी महत्ता, जिससे बेड़ा पार हुआ।

इस १९५३ की डायरी में गुरुदेव के लगभग एक सौ पचहत्तर प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं। जितने प्रवचन उपलब्ध हुए हैं उन्हें दे दिया गया है। प्रतिदिन एक के हिसाब

से वर्ष में तीन सौ पैंसठ प्रवचन तो होते ही हैं। इस तरह हमने प्रायः आधी सम्पत्ति तो खो ही दी है।

इन प्रवचनों में हजारों विषय स्पर्शित हैं। इनमें युग की समस्याओं का गम्भीर चिन्तन और उनके हल की स्पष्ट दृष्टि है। ये भाषण प्रत्येक मानव को स्पर्श करते हैं, चाहे वह किसी स्थान या किसी स्थिति में हो। मानव के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का जो घोष है वह इन भाषणों में अच्छी तरह भाषित हुआ है।

युग के कितने ही ऐसे प्रश्न और विषय होते हैं जिन पर लोक-शिक्षक को बार-बार और स्थान-स्थान पर बोलना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में पुनरुक्ति अनिवार्यतः होती ही है। ऐसा होने पर भी भाव का अनूठापन सर्वत्र है ही और इस दृष्टि से अगाहने जैसी बात इन प्रवचनों में नहीं है। महात्मा गांधी, सन्त विनोबा आदि के प्रवचनों की ही तरह इनमें पुनरुक्ति दोष रूप में नहीं पर "उन्नीस बार कहा हुआ व्यर्थ न जाय इसलिए बीसवीं बार भी कहा गया है"—इस कहावत की पुष्टि है।

ये प्रवचन सुविचारों के भाण्डार हैं। इनमें पद-पद पर मौलिक सम्पदा है। मनुष्य की दृष्टि सत्य पर केन्द्रित हो यही इनका ध्येय है। इनमें जितना उच्छ्वास है उतनी ही प्रेरणा भी।

आचार्यश्री का जीवन एक परिव्राजक का जीवन है। वर्षावास के सिवाय वे जनपदों में पाद-विहार करते रहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर दिये गये आचार्यश्री के इन प्रवचनों से देश के लाखों नागरिकों को श्रवण द्वारा लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त हो सका है, किन्तु, उद्देश्य यहीं पूर्ण नहीं हो जाता। जिन व्यक्तियों को आचार्यश्री के प्रवचनों के श्रवण का लाभ उठाने का मौका नहीं मिला, वे भी लाभान्वित हो सकें, यह इष्ट है। यही दृष्टि इस प्रकाशन की है।

आचार्यश्री के अनुसार मानव कल्याण का सर्वप्रथम सोपान धर्माचरण है। अपने एक प्रवचन में उन्होंने कहा—"धर्म अन्तरात्मा के कण-कण में रमे, और ऐसा रमे कि उतारे न उतरे, तभी आज के भौतिकवादी युग से लोहा लिया जा सकता है।" धर्म का विश्लेषण करते हुए आपने बताया है—"धर्म में जाति-पाँति, लिंग, रंग, निर्धन, धनिक का कोई अन्तर नहीं हो सकता। धर्म सबके लिए शान्ति-सुखप्रद है। उसमें भेद रेखा हो नहीं सकती।" धर्म के बारे में उनकी मान्यताएँ ये हैं—"धर्म से प्राणियों का कल्याण होता आया है और होता रहेगा। धर्म मन्दिरों, मठों में जाने मात्र से होगा, ऐसा विचारना नितान्त भ्रम है। वह आत्मा से होगा—तपस्या से होगा। सही अर्थ में धर्म की यह व्याख्या होनी चाहिए—त्याग धर्म है, भोग अधर्म है। धर्म जीवन

में रहे। जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म की पुट रहे, यह आज के मानव के लिए आवश्यक है।"

धर्म किस प्रकार कार्य करता है, इस पर आपने कहा—"धर्म क्या है? जो आत्मा की शुद्धि के साधन हैं, वे ही धर्म हैं। धर्म प्रलोभन, बलात्कार और बल प्रयोग से नहीं होता। धर्म जिन्दगी को बदलने से होता है; अन्याय, शोषण, अत्याचार से विरक्त रहने से होता है। जीवन को सुधारने से होता है। इसलिए जिन्दगी को बदलना, पापों से डरना और स्वयं को सुधारना यही धर्म है।"

धर्माचरण का मुख्य तत्त्व अहिंसा है। आचार्यश्री के शब्दों में—"अहिंसा धर्म का गौरव है। उसकी जान है। धर्म में से एक अहिंसा को निकाल दिया जाय तो शेष कुछ नहीं बचेगा। सिर्फ अस्थि कंकाल रह जायगा। धर्म की आत्मा अहिंसा है। अहिंसा नहीं तो धर्म नहीं। जिस प्रकार धर्म पर सबका समानाधिकार है, उसी प्रकार अहिंसा का भी हरेक पालन कर सकता है।" आपने प्रायः सभी प्रवचनों में अहिंसा के अवलम्बन पर बल देते हुए कहा है—"कोई भी दुःख नहीं चाहता। अतः मानव किसी को न मारे, वह अपने आपको हिंसा से बचाये। किसी को मत मारिये, मत सताइये। प्रत्येक जीव के प्रति उपयोग रखें। उपयोग परम धर्म है।"

आचार्यश्री की विचार-सरणि में सुधार की इकाई व्यक्ति ही हो सकता है। "व्यक्ति-सुधार, समाज सुधार की नींव है। मुझे समाज, देश या राष्ट्र-सुधार की चिन्ता नहीं, मुझे व्यक्ति-सुधार की चिन्ता है। चाहे आप मुझे स्वार्थी कहें, किन्तु मेरा निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति-सुधार ही सब सुधारों की मूल भित्ति है। व्यक्ति स्वयं ही सुधर कर दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करे। केवल आचारहीन, निकम्मी और थोथी आवाजों से कुछ सम्भव नहीं। उसे जबतक अपने जीवन में समाहित नहीं किया जायगा तबतक कोई गति नहीं आयेगी।"

आचार्यश्री ने अपने प्रवचनों में "उठो और उठाओ" का आध्यात्मिक नारा बुलन्द किया है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री ने आज के गिरते हुए जन-जीवन के प्रति घोर चिन्ता अभिव्यक्त करते हुए निदान स्वरूप बतलाया है—"आज जन-जीवन गिरता जा रहा है। ऐसे समय दो विचारधाराओं से काबू पाने का प्रयास किया जाता है। एक विचारधारा के अनुसार समाज, राष्ट्र और देश का उत्थान हो वहाँ दूसरी विचारधारा बतलाती है—व्यक्ति का सुधार हो, उत्थान हो, वह सत्पथ पर आये। अणुव्रत-योजना व्यक्ति का सुधार करती है। व्यक्ति सुधरेगा तो समाज, राष्ट्र और देश अपने आप सुधर जायेंगे।"

आचार्यश्री आध्यात्मिक जीवन-निर्माण की दिशा में व्रत-ग्रहण को बड़ा महत्व देते हैं। अपने जीवन की बुराइयों को मनुष्य आत्मसाक्षी से देखता चला जाय और उनको दूर करने के लिये अनुकूल व्रतों को ग्रहण करता हुआ उनके पालन पर स्थिर होता जाय। इस तरह का जीवन-निर्माण स्वयं में एक आदर्श होगा और उसके द्वारा समाज और राष्ट्र का भी कल्याण होगा। बुराइयों के साथ आत्म-संग्राम ही वास्तविक क्रान्ति है।

आज विश्व में झूठ और हिंसा की व्यापकता है, उसके स्थान पर अहिंसा विश्व-व्यापी बने – वह जन-जन के मानस में उतरे उसे व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में प्रश्रय मिले। आचार्यश्री का कहना है—"ओ मानव ! यदि तू युद्ध-प्रेमी है तो खूब युद्ध कर, बहादुरी के साथ लड़ और लड़ता रह निर्भयता के साथ, भय और पीछे हटने की आवश्यकता नहीं। पर, वह युद्ध कैसा हो ? किसी बाह्य व्यक्ति के साथ नहीं, अन्तर का युद्ध होना चाहिये। तू अपनी अन्तरात्मा से लड़। अपनी आत्मा को जीत, आत्म-विजय कर। वीरता के साथ उसकी एक-एक बुराई को मिटा दे। तू अपना रास्ता ले, त्याग पर चल ; फिर चाहे वे यम कहलायें या नियम।"

"नैतिक-उत्थान वास्तविक सुख है। अणुव्रती-संघ नैतिकता की दिशा में विशेष जागरूक है। इसका उद्देश्य है—मानव में मानवता आये—वह मानव जो पथ-भ्रष्ट होता जा रहा है, सही पथ पर आए। अणुव्रत-योजना में छोटे-छोटे व्रत हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि के छोटे-छोटे नियम हैं। इन पाँच तत्वों को लेकर चलने की आवश्यकता है।"

इस प्रकार हम स्पष्टतया देखते हैं कि आचार्यश्री तुलसी ने अपने प्रवचनों के माध्यम से जीवन की विभिन्न जटिल समस्याओं के समाधान का विकल्प प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही उन्होंने धर्म, अहिंसा, संयम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, स्वाध्याय आदि के पालन का आह्वान किया है। आचार्यश्री के प्रत्येक प्रवचन चिरंतन सिद्धान्तों की आधारशिला पर अवस्थित हैं।

मुझे विश्वास है कि इस 'प्रवचन-डायरी' से एवं आचार्यश्री के अन्य वर्षों के प्रवचनों के संकलन से जनसाधारण को विशेष लाभ होगा और ये प्रवचन हिन्दी जगत के लिए अमूल्य निधि साबित होंगे।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता
५ अप्रैल, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया

प्रवचन-अनुक्रमणिका

१. प्रकाशकीय

२. भूमिका

३. प्रवचन : पृष्ठ १—३५४

१.	मर्यादा महोत्सव	१
२.	श्रद्धा और ज्ञान	७
३.	धर्म का फल और लक्ष्य	८
४.	विदाई के पूर्व	९
५.	भजन ही करें	९
६.	धर्म और मनुष्य	९
७.	मनुष्य देह का कर्तव्य	१०
८.	सच्चा धर्म	११
९.	अणुव्रत	१२
१०.	मन	१३
११.	सन्तों का स्वागत क्यों ?	२०
१२.	सामायिक	२१
१३.	मुक्ति क्या है ?	२३
१४.	मानव जीवन की बहुमूल्यता (१)	२४
१५.	मानव जीवन की बहुमूल्यता (२)	२५
१६.	सत्संग	२७
१७.	जितशत्रु का मोह	२९
१८.	अणुव्रतों का महत्त्व	३५
१९.	वाणी की महत्ता	३५
२०.	शब्द की उत्पत्ति	३६
२१.	अच्छाइयाँ किससे और कैसे सीखें ?	३७
२२.	भक्ति में शक्ति है	३७
२३.	छात्र आत्मसंयमी और सदाचारी बनें	३८
२४.	महावीर के चरण-चिह्न	३९
२५.	विशुद्धि के स्थान	४१
२६.	त्याग बनाम भोग	४४
२७.	थावरच्चा-पुत्र	४५

पृष्ठ

२८. आत्मा से आत्मा का उत्थान करो ४७
२९. शान्ति का साधन ५०
३०. स्व-कल्याण के साथ जन-कल्याण करें ५२
३१. जीवन को ऊँचा उठाओ ५४
३२. धर्म आत्मा की चीज है ५६
३३. अहिंसा का आदर्श ५६
३४. आत्महत्या के दो पहलू ५७
३५. स्त्रियां आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करें ५९
३६. श्रद्धा और चरित्र : दो महान् तत्त्व ६०
३७. तीन वृत्तियाँ ६६
३८. अभयदान ६९
३९. धर्म विशाल और व्यापक है ७१
४०. विश्वमैत्री ७२
४१. आत्म-वृत्तियों का परिष्कार करो ७३
४२. ममत्व दुःखप्रद है ७६
४३. तत्त्व आचरण में रहता है ७९
४४. मानवता ७९
४५. शत्रु-विजय ८२
४६. धर्म तुम्हें शान्ति देगा, सुख देगा ८३
४७. नैतिकता के स्तर को उठाइए ८३
४८. धर्म की आत्मा अहिंसा है ८४
४९. अहिंसा ८५
५०. सत्य और अहिंसा सभी का धर्म ८७
५१. चरित्र जीवन का अलंकार है ८८
५२. सत्य महाव्रत है ९०
५३. परीक्षक बनो ९२
५४. अचौर्य व्रत ९३
५५. ब्रह्म में रमण करो ९४
५६. जीवन बदलो ९६
५७. युक्तिपूर्ण उत्तर ९८
५८. अपरिग्रह-व्रत ९९

पृष्ठ

५९. अणुव्रत १०३
६०. अहिंसा १०७
६१. मानवता एवं धर्म १०८
६२. तीर्थंकर ऋषभ १११
६३. बहनों से ११५
६४. रात्रि-भोजन-परित्याग : एक तप ११६
६५. जैनों का मूल सिद्धान्त ११८
६६. महिलाओं से ११९
६७. युवकों से १२१
६८. विद्यार्थी के वांछित गुण १२३
६९. सन्तान का सही मार्ग-दर्शन १२४
७०. सामूहिक स्वाध्याय १२५
७१. शिष्य लोलुपता की बुराई १२६
७२. अणुव्रती संघ का उद्देश्य १२७
७३. सुख की खोज १२८
७४. सुखी कौन ? १३०
७५. युवकों का लक्ष्य १३१
७६. जैन-दृष्टि १३२
७७. धर्म और अधर्म १३३
७८. धर्म और त्याग १३६
७९. सही धर्म १३७
८०. सच्ची सेवा १३८
८१. असली आजादी १३९
८२. जीव-अजीव पदार्थ १४०
८३. समस्याओं का समाधान १४७
८४. कल्याण का मार्ग १४८
८५. कार्यकर्ताओं से १५०
८६. मोहजीत राजा १५२
८७. धर्म कण-कण में रमे १५५
८८. सत्संगति १५५
८९. धर्म सुखप्रद है १५५

पृष्ठ

९०. सार्थक जीवन १५६
९१. मनुष्य का कर्तव्य १५७
९२. त्याग का मूल्य १५७
९३. ज्ञान-प्राप्ति का सार १५८
९४. प्रवचनों का मनन करें १६०
९५. प्रगति का वास्तविक अर्थ १६२
९६. कषाय-विजय के साधन १६२
९७. अनेकान्त १६९
९८. चातुर्मास १७१
९९. युवकों से १७२
१००. जीवन, विकास और युग १७३
१०१. छात्राएं चरित्रशील हों १८१
१०२. श्रावकों से १८१
१०३. स्वतन्त्रता में दुःख क्यों? १८२
१०४. अणुव्रत-आन्दोलन १८३
१०५. अति महत्त्वपूर्ण भाग १८३
१०६. कल्याण की अभिसिद्धि १८४
१०७. मूर्त उपदेश १९३
१०८. साधना का जीवन १९३
१०९. मानव का उद्देश्य २००
११०. काव्य की सार्थकता २०७
१११. आत्मसाधक तथा पथदर्शक २०८
११२. त्रिवेणी बहे २०८
११३. अणुव्रत प्रेरणा-दिवस २०९
११४. क्षमा २१०
११५. क्षमत-क्षामना २१४
११६. दासता से मुक्ति २१५
११७. प्रतिष्ठा का मापदण्ड २१५
११८. जीवन को निर्मल करें २१६
११९. पट्टोत्सव २१६
१२०. सिंहावलोकन की बेला २१७

		पृष्ठ
१२१.	आत्मदमन	२२३
१२२.	संस्कृति और युग	२२४
१२३.	विश्वशान्ति और अध्यात्मवाद	२३१
१२४.	जिज्ञासा या एषणा	२३६
१२५.	उत्कृष्ट मंगल	२३७
१२६.	सबसे बड़ी शक्ति	२३८
१२७.	संस्कृत-सम्मेलन	२३९
१२८.	आत्म-निर्माण	२४०
१२९.	अहिंसा और दया	२४३
१३०.	विद्यार्थी बनाम आत्मार्थी	२५७
१३१.	आत्मधर्म और लोकधर्म	२५८
१३२.	धर्म के दो पक्ष	२५९
१३३.	जीवन का सच्चा नेत्र	२६८
१३४.	सक्रिय एवं सजीव योजना	२६९
१३५.	सबसे बड़ा भय	२७०
१३६.	आध्यात्मिक क्रान्तिकारी सन्त	२८०
१३७.	विरोध और प्रतिकार	२९०
१३८.	साहित्य में नैतिकता का स्थान	२९१
१३९.	भारतीय संस्कृति और दीक्षा	२९१
१४०.	प्रभावशाली प्रयास	२९३
१४१.	मुक्ति और वेशभूषा	२९६
१४२.	जीवन-निर्माण के पथ पर	२९६
१४३.	संस्कृति और संस्कृत	२९७
१४४.	जैन-दीक्षा का महत्त्व	२९८
१४५.	आलोक और अंधकार	३००
१४६.	व्यक्ति बनाम समाज	३०१
१४७.	एक साधक का जीवन	३१०
१४८.	हमारा सिद्धान्त	३१२
१४९.	जातिवाद अतात्विक है	३१३
१५०.	सबसे बड़ी आवश्यकता	३१४
१५१.	प्रशस्त और भव्य मार्ग	३१४

		पृष्ठ
१५२.	चरित्रार्जन आवश्यक	३२६
१५३.	अहिंसा के तत्त्व	३१९
१५४.	हृदय के सम्राट	३२२
१५५.	अदृश्य अग्नि	३२४
१५६.	शक्ति की संज्ञा	३२४
१५७.	सत्य पथ का अनुसरण	३२५
१५८.	सुख का मार्ग	३३०
१५९.	जीवन का निर्माण	३३४
१६०.	जीवन की सार्थकता	३३५
१६१.	समय को पहिचानो	३३७
१६२.	परमात्म का अन्वेषण	३३७
१६३.	साधु-समागम	३४०
१६४.	शान्ति आत्मा में है	३४०
१६५.	मानवता	३४१
१६६.	कल्याण का सूत्र	३४२
१६७.	मानव का कर्तव्य	३४२
१६८.	प्रतिस्रोत की ओर	३४२
१६९.	शान्ति का महत्त्व	३४३
१७०.	संस्कृति : पैतृक सम्पत्ति	३४४
१७१.	जन-जन का मार्ग-दर्शक	३४५
१७२.	व्यष्टि ही समष्टि का मूल	३५१
१७३.	एक अमोघ साधन	३५२
१७४.	नागरिकता के जीवन-सूत्र	३५३
१७५.	जैनदर्शन और अनेकान्त	३५४

—:—

प्रवचन-डायरी, १९५३

(आचार्य श्री तुलसी के जनवरी '५३ से दिसम्बर '५३ तक के प्रवचनों का संग्रह)

१ : मर्यादा महोत्सव

यह एक आध्यात्मिक महोत्सव है। सांसारिक उत्सवों में भौतिकवाद की चर्चा होती है और आध्यात्मिक उत्सवों में आध्यात्मवाद की चर्चा। धार्मिक उत्सवों में आचार की शिक्षा दी जाती है, संगठन और अनुशासन का पाठ पढ़ाया जाता है, मर्यादा में किस प्रकार चला जाता है, यह बताया जाता है।

ऐसे उत्सवों को मेले का रूप नहीं दिया जाना चाहिये फिर भी इतने लोग एकत्रित हुए हैं कि जगह की संकीर्णता-सी हो गई है।

आज का दिन कोई जन्म-दिन या निर्वाण-दिवस नहीं है बल्कि निर्माण-दिवस है। निर्माण और निर्वाण शब्द में कोई विशेष फर्क नहीं सिर्फ एक अक्षर का फर्क है। इस दिन न तो 'तेरापंथ' का निर्माण हुआ था और न किसी श्रावक संघ का ही निर्माण हुआ था। इस दिन एक व्यक्ति की कलम से एक विधान का निर्माण हुआ था। विधान बनता है और लोग उसे न मानें तो क्या फायदा ऐसे विधान से? विधान आज भी बनते हैं पर उनपर चलते कौन हैं, उसका पालन कौन करता है? सरकारें विधानों को बनाने में तत्पर रहती हैं और जनता उन्हें तोड़ने में—बेकार करने में तैयार रहती है। हाँ, तो एक व्यक्ति की कलम से इस दिन ऐसे विधान का निर्माण हुआ जिसका अक्षरशः पालन किया गया और किया जा रहा है। इसके निर्माता भिक्षु और निभाने-वाले चरित्रात्मक्ष दोनों की विशेषता है।

वह विधान राजस्थानी भाषा की एक गीतिका में बताया गया है जिसका सारांश ही यहाँ नीचे दिया जा रहा है।

भीखण स्वामी जी ने बड़ा भारी काम किया—एक साधु-संघ की स्थापना की। लोग पूछेंगे—क्या उस समय साधु-संघ नहीं था? थे, पर नहीं के बराबर। तत्कालीन साधु-संघ की शिथिलता और धर्म की दयनीय दशा को देखकर हमारे पूज्य का कलेजा कांप उठा। उन्होंने भगवान महावीर के इस पवित्र संघ में धांधली मचती हुई देखी। अतः उन्होंने एक संगठित और पवित्र साधु-संघ की स्थापना की। उन्होंने कहा—अब मैं निकल पड़ा हूँ, आत्मकल्याण के लिये। मैं मैदान में उतर आया हूँ, सिर्फ आत्मकल्याण ही नहीं मैं दूसरों के कल्याण की कामना रखता हूँ। दीपक एक

होता है पर उसका प्रकाश कितने ही व्यक्तियों का पथ-प्रदर्शन कर देता है स्वामी भीखण जी ने भी ऐसा ही काम किया।

"सब साधु और साध्वियाँ एक गुरु की आज्ञा में चलो। कोई किसी का चेला-चेली नहीं है, सभी एक गुरु के चेला-चेली हैं।" चेला-चेली बनाने की बहुत बुरी प्रथा का आपने एकदम अन्त किया। आज सब परमानन्द में हैं। आज कोई स्वप्न में भी चेला बनाने की भावना नहीं रखता। कोई कहे, —"आचार्य शिष्यों का लोभ करने लग जाय तो? लेकिन आपने आचार्यों को भी मर्यादा में बाँध दिया। उन्होंने मर्यादा बनाई कि पंथ बढ़ाने के लिये जो आया, उसी को मूंड़ लिया ऐसा मत करना। पूरी परीक्षा कर, योग्यता आदि को देख-देखकर दीक्षा देना। कहीं ऐसा न हो कि "कानिया मानिया कुरर तू चेला मैं गुरर" और शिष्य बना लिया।

लोगों को ये मर्यादाएँ छोटी और मामूली लगती होंगी, लेकिन ये मामूली नहीं बड़े काम की हैं। जहाज पानी में चल रहा है पर उसमें बैठनेवालों को इसका पता नहीं चलता।

"श्रद्धा आचार का कोई नया बोल हो तो उसकी जहाँ-तहाँ चर्चा मत करो। आचार्य का वचन प्रमाण मानो फिर भी दिमाग में वह बोल न जँचे तो खींचातान मत करो, उसे केवलियों पर छोड़ दो।"

विधानविज्ञो, शिक्षितो और शिक्षको! ऐसे विधान को समझो जिससे कलह, ईर्ष्या और झगड़ों का वृक्ष पनप नहीं सकता।

"गण और गणपति की उतरती बात मत करो। हर पल रात और दिन संयम का अच्छी तरह से पालन करो। संघ से एक-दो-तीन कितने भी अविनीत निकलें तो कोई बात नहीं। उसे साधु मत समझो, उससे परिचय और प्रीति मत करो। यदि कोई श्रावक भी उसे साधु समझता है तो वह श्रावक नहीं।"

इत्यादि नियमों को भर कर यह लेख विधान लिखा—संवत् १८५९ माघ सुदी ७ शनिवार को। कहा भी है "थावर कीजै थापना, बुध कीजै व्योपार।" शनिवार की स्थापना स्थिर रहती है। आपने इसे लिखा १८५९ में और १८६० में आप का स्वर्गवास हो गया। जनतन्त्र की दृष्टि से इसमें तत्कालीन समय के सब साधुओं के दस्तखत हैं। यह सिर्फ ऐतिहासिक पत्र नहीं है, गण का छत्र है। यह शासन का जीवन-प्राण है।

यह वार्षिक महोत्सव इसी के उपलक्ष में मनाया जा रहा है। यह सूझ जयाचार्य की है। सन् १९२० में जयाचार्य ने इसकी शुरुआत की। कुछ लोग १९२१ में इसकी शुरुवात कहते हैं। शुरुआत के समय बड़ा भारी बवण्डर आया। लोगों ने कहा, "क्या ऐसे महोत्सव साधु को करने कल्पते हैं?" पर जयाचार्य ने किसी

की न सुनी और इसे चालू कर दिया। इस महोत्सव जैसी सजीवता कभी नहीं मिलती। जो कभी नहीं आते वे भी इस अवसर पर तो आ ही जाते हैं। दूर-दूर से मारवाड़, मेवाड़, बंगाल, गुजरात, बम्बई उत्तर प्रदेश से ही नहीं जर्मनी तक के लोग यहाँ उपस्थित हैं।

यह २००६ का माघ-महोत्सव सरदारशहर में मनाया जा रहा है। इसमें १६० साधु और ३६३ साध्वियाँ सम्मिलित हैं, चारों ही तीर्थ में ठाठ लग रहे हैं।

यह तो मैंने विधान के बारे में बताया। अब साधु-साध्वियों को सम्बोधन करके इन्हें भी दो शब्द कहना है।

समस्त साधु और साध्वियों को वही रोजाना की शिक्षा है। मूल लक्ष्य को मत भूलो। पहला लक्ष्य है आचार में दृढ़ रहना और दूसरा लक्ष्य है विचार व्यक्त करना। आचारहीन विचारों में क्रान्ति कोई काम की नहीं। मूल लक्ष्य पर बद्ध होकर चलो। जानते हो अब विदाई होनेवाली है, मेरी भी विदाई होने वाली है। मैं साथ भी नहीं रहूँगा, फिर भी रहूँगा साथ में। हर पल संयम में जागरूक रहो। स्वार्थी मत बनो। जो लोग कल्याण का मार्ग चाहते हैं उन्हें रास्ता दिखाओ। निर्भय होकर व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म का प्रसार करो। चाहे इसके लिये कुछ भी कुर्बान क्यों न करना पड़े।

अब श्रावकों को कुछ कहना है। श्रावक-श्राविका भी सचेष्ट और जागरूक रहें। मैं उनकी ऐसी हरकतें नहीं सुनना चाहता कि वे जीवन को न उठाकर थोथी नुक्ताचीनी में समय बितायें। उन्हें आत्मालोचना में समय लगाना चाहिये।

मुझे कभी-कभी ऐसा सुनने में आता है कि तेरापन्थ का संगठन अब क्या चलेगा, बहुत चला। जैसा कि समय-समय पर पहले भी सुना जाता रहा है। मैं उन्हें स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि यह भगवान महावीर का पंथ है, त्यागियों की जमात का पंथ है। इसके प्रति यदि वे ऐसा स्वप्न देखते हैं तो वह स्वप्न होगा। संगठन था, है और रहेगा। इस संघ की नींव आचार पर टिकी हुई है।

सभी श्रावक जीवन बदलें और जीवन को उठाने के कार्य में सहयोगी बनें।

मैं फिर संघ चतुष्टय से आह्वान करूँगा कि सब आत्म-कल्याण के लिये टूट पड़ें।

संसार अशान्त है, यह कोई नई बात नहीं है। परिस्थिति क्लान्त है यह कोई नई बात नहीं। संसार शान्ति की ओर आँखें फाड़े निहार रहा है, यह भी कोई नई बात नहीं। पर शान्ति मिले कैसे? उसे पाने का क्या रास्ता है? किस मार्ग से हम उसे पा सकते हैं, यह देखना है। भौतिक सुख-सुविधाओं और भोग-विलासों से शान्ति की आशा रखना तो ठीक वैसा ही है जैसा कि एक व्यक्ति गाय-भैंस इसलिये न रखे,

कि उन्हें खिलाने पिलाने का कष्ट कौन करे? दूध और दही भी वह न रखे और चाहे कि सिर्फ पानी को मथ कर घी निकाल ले। भाइयो! यह तो होने का नहीं, पानी से घी मिल सके तो भौतिकता में लिप्त रहकर दुनिया भी सुख पा सकती है।

ऐसी हालत में सुख कैसे मिले? वे लोग जो आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं वे दूसरों को भी आत्मकल्याण का मार्ग दिखायें। उनका भी आत्मकल्याण और उत्थान कैसे हो, यह बतायें। त्यागसे कल्याण होगा, शान्ति मिलेगी। जो व्यक्ति अणुव्रती बने हैं, वे जानते हैं कि उन्हें कितनी शान्ति मिली है? तुम लोग भी अणुव्रती बनकर यह जान सकते हो कि आत्मिक सुख कैसे मिल सकता है। अणुव्रती बनना तो दूर; लोग यहां तक कह देते हैं कि क्या देश, राष्ट्र और समाज के उत्थान के लिये साधुओं को ऐसे संघ का गठन करना चाहिये। मैं उन्हें स्पष्ट कहूंगा कि मेरी इच्छा न तो देश के उत्थान की है और न समाज के उत्थान की ही है। मैं तो सिर्फ चाहता हूँ कि व्यक्ति व्यक्ति का उत्थान हो, व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा का कल्याण हो और इसी कामना के साथ अणुव्रती संघ की स्थापना की गई। तीर्थंकरों ने व्यक्ति-व्यक्ति के कल्याण के लिये उपदेश दिये। उनके बाद गणनातीत आचार्यों ने इस कार्य को चालू रखा। हमारे आठ पूर्वाचार्यों ने जिस जन-कल्याण के लिये प्रचार किया, आज भी वह कार्य चालू है और रहेगा। जन-जीवन के उत्थान और कल्याण के साथ ही साथ यदि समाज या राष्ट्र का स्तर ऊँचा उठता है तो उठे, हमारा उससे कोई राग-द्वेष नहीं है। उपवास किया जाता है, अन्न की बचत स्वतः हो जाती है। पर इसमें अन्न बचत का दृष्टिकोण नहीं होता। आत्मिक शुद्धि के लिये उपवास किया जाता है। अन्न की बचत तो प्रासंगिक है। अस्तु।

प्रत्येक व्यक्ति अणुव्रती बन आत्म उत्थान करे। अपना समय व्यर्थ की नुकताचीनी में न गँवाये।

स्व प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना और स्व निन्दा सुनकर नाराज होना दोनों ही खतरनाक है। किसी व्यक्ति का एक बैल बहुत सुन्दर हो, लोग देख-देखकर उसकी बड़ी प्रशंसा करें और वह व्यक्ति इसे सुनकर बड़ा खुश होता हो तो उसे "सामन्तोपनि-पति" की क्रिया लगती है। बहुत से व्यक्ति तो प्रशंसा करते हैं लेकिन पास खड़े हुए कह देते हैं "क्या है नामवरी के लिये यह काम किया गया है। अमुक व्यक्ति ने अमुक प्रकार का त्याग इसलिये किया है कि उससे उसका नाम होगा। अमुक व्यक्ति इसलिये अणुव्रती बना है कि उसका नाम हो।" यह सब कहना उस व्यक्ति की बड़ी भूल है। नाम के लिये कार्य किया या नहीं पर उसने तो अपने आप को क्रिया का भागी बना ही लिया। अच्छे कार्य जैसे त्याग—प्रत्याख्यान आदि न कर सको तो जो करता है

उसे सुनकर खुश होओ। यदि उसके त्याग की प्रशंसा की तो तुम्हें त्याग की प्रशंसा का लाभ हो जायगा। तुम स्वयं संयोग से सुपात्र दान न भी दे सको तो देनेवाले की प्रशंसा करो। इस तरह अनुमोदना से भी तुम्हारा भला होगा। बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं कि सामने तो प्रशंसा करते हैं और पीठ पीछे निन्दा करते हैं। कहते हैं—"क्या है जी! सामने तो कहना ही पड़ता है पर है जैसे ही है!" ऐसे दुमुँहे व्यक्ति ढके कुएँ हैं। खुले कुएँ में व्यक्ति पड़ता नहीं, कोई अन्धा भले ही पड़ जाय। लेकिन कुएँ पर एक गलीचा बिछा दिया जाय और फिर उस पर किसी को बिठाया जाय, तो बताइये पीछे वह बचेगा क्या? मैं तो स्पष्ट कहूँगा कि ऐसे निन्दकों से तो वे निन्दक कहीं अच्छे हैं जो खुले निन्दक हैं—जिन्हें लोग जानते हैं। इस प्रकार अनिष्ट की वांछा करने से किसी का कुछ बिगड़ थोड़े ही जाता है, लेकिन इस कामना का फल स्वयं को तो मिल ही जाता है और जब उसका विपाकोदय होता है तब पश्चाताप के सिवा और होना क्या है?

लोगों को चाहिये कि उनसे यदि त्याग प्रत्याख्यान न हो सके, अच्छे कार्य करते न बनें तो जो कार्य किये जा रहे हैं उनका अनुमोदन करें, सच्चे दिल से उनकी सराहना करें, सिर्फ वाग-विडम्बना नहीं। यदि कोई व्यक्ति निन्दा करे तो क्रोध न करें—आत्म-चिन्तन करें।

सरदारशहर
२१ जनवरी '५३
(माघ महोत्सव)

२ : श्रद्धा और ज्ञान

व्यक्ति बाह्य—स्थूल शरीर की रचना करता है, देख-भाल करता है। उसकी इतनी सेवा करता है जितनी कि माता-पिता और गुरुजनों की भी शायद नहीं करता। वह उसे सजाता है, उसका पोषण करता है और इस स्थूल शरीर को ही सब कुछ मान बैठा है। वह आभ्यन्तर शरीर तेजस् और कार्मण को भूल गया है। यही नहीं वह आत्मा को भी भूल बैठा है। वह शरीर और आत्मा को एक ही मान बैठा है। वह जड़ शरीर और चेतन आत्मा के अलग-अलग अस्तित्व को भूल गया है।

यह उसकी श्रद्धा में कमी का परिचायक है। लोग श्रद्धा को अन्ध श्रद्धा कहते हैं। एक दृष्टि से उनका कहना ठीक भी है। श्रद्धा की आँख नहीं होती। आँख तो ज्ञान है,

श्रद्धा नहीं। लेकिन बिना श्रद्धा का ज्ञान पंगु है। यदि श्रद्धा है तो ज्ञान अवश्य आयेगा और उस श्रद्धा के सहारे आया हुआ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होगा। यदि ज्ञान असम्यक् है तो यह समझ लेना चाहिए कि श्रद्धा में कमी है। और इस श्रद्धा की कमी का ही परिणाम है कि व्यक्ति अपनी चेतन आत्मा को भूलकर शरीर को सब कुछ समझ बैठा। जब तक वह चेतन और तन को अलग नहीं कर लेगा, शाश्वत् सुख मिलने का नहीं। श्रद्धा और ज्ञान से आत्मा को अपना सही स्वरूप मिल जाना ही शाश्वत् सुख होगा अर्थात् ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे यह आत्मा, जो इस शरीरमें है और एक दृष्टिसे मूर्त है, अपने सही स्वरूप को प्राप्त कर ले।

कुछ लोग कहते हैं—श्रद्धा करना कायरों का काम है, लेकिन मैं स्पष्ट कहूँगा कि कायरों का श्रद्धासे कोई सम्बन्ध नहीं। कायर व्यक्ति क्या श्रद्धा करेगा जब कि वह खुद ही डाँवाडोल है! श्रद्धा वीर कर सकता है। अस्तु; श्रद्धा में मजबूत रहते हुए ज्ञान को प्राप्त करो और कुछ आत्म-सुश्रूषा भी करो जिससे आत्मकल्याण हो।

सरदारशहर
२२ जनवरी '५३

३ : धर्म का फल और लक्ष्य

धर्म हर समय किया जा सकता है। इसका फल तत्काल नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। धर्म का वास्तविक फल तो धर्म करते ही मिल जाता है। धार्मिक क्रिया करनेवाले की आत्मा उज्ज्वल बनी, बुरी क्रिया करनेवाले की आत्मा बुरी बनी, यही तो वास्तविक फल है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पाप करे आज और आत्मा मलिन हो दो वर्ष के बाद या धर्म करे आज और आत्मा उज्ज्वल हो दो वर्ष के बाद। रहा प्रासंगिक फल—पौद्गलिक फल सो वह आज भी मिल सकता है, और दो वर्ष बाद भी। इहलोक और परलोक में भी मिल सकता है। बहुत लोग कहते हैं कि धर्म करने से परलोक सुधरता है। ऐसा समझना भी गलत है। धर्म न तो इस लोक को सुधारने के लिये करना चाहिए और न परलोक सुधारने के लिए ही। वह तो केवल कर्मों की निर्जरा के लिए—आत्मा को निर्मल करने के लिए किया जाना चाहिए।

सरदारशहर
२६ जनवरी '५३

४ : विदाई के पूर्व

आज विदाई है। साधु के लिए जैसा आगमन है वैसा ही गमन है। वैसे भी आगमन कहीं का गमन होता है। इसका न तो दुःख है और न इसकी खुशी। गमन का दुःख तो उन लोगों के लिए होता है जो आकर जाना नहीं चाहते—जमकर एक ही जगह रहना चाहते हैं। पर हम तो साधु हैं। साधु रमते ही भले।

आज विदेश के लिए प्रस्थान है। लोग पहले मेवाड़ और मारवाड़ को देश समझा करते थे क्योंकि पूर्वाचार्य ज्यादेतर उधर ही रहते थे। थली में पधारते भी थे तो उस समय थली विदेश समझा जाता था। आज वह देश है।

श्रावक साधु-संघ के अनुशासन से सबक लें। वे आपसी ईर्ष्या-मत्सर की कलुष भावना को जड़-मूल से समाप्त कर आत्मविश्वास रखें। हमारा सम्बन्ध एक दृष्टि से गृहस्थों से है और दूसरी से नहीं भी। उनके त्याग-प्रत्याख्यान से—नैतिक उत्थान से हमारा बहुत कुछ सम्बन्ध है, पर उनकी सावद्य प्रवृत्तियों से नहीं। वे कलुषित भावनाओं से बचें और नैतिक उत्थान करें। इसी में संघ का और उनका अपना उत्थान है—कल्याण है।

सरदारशहर
५ फरवरी '५३

५ : भजन ही करे

मानव जीवन हीरे के तुल्य कीमती है। इसे यों ही नहीं गंवा देना चाहिए। त्याग-तपस्या व्यक्ति से न भी हो सके तो कम-से-कम सुबह दो घड़ी मन को शुद्ध कर, उसके मैल—ईर्ष्या और मत्सर को तजकर परमात्मा का भजन ही करें।

मीतासर
७ फरवरी '५३ (दोपहर)

६ : धर्म और मनुष्य

धर्म ही सार है। बिना धर्म के मानव, मानव नहीं। पर धर्म है क्या ? किस बला को धर्म कहते हैं ? क्षत्रिय हाथ में तलवार रखे, कृषक खेती करे, बनियाँ व्यापार करे, यह धर्म नहीं है। ये तो उनकी अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। धर्म का वर्गीकरण नहीं हो सकता कि अमुक धर्म मेरा है और अमुक उसका। यह तो व्यक्ति का अपना कार्यक्रम है। तो फिर धर्म है क्या ? धर्म है—सत्य और अहिंसा। झूठ मत बोलो,

हिंसा मत करो। इसका पूर्णरूपेण पालन शायद तुम न भी कर सको, पर जितना निभ सके, निभाओ। आक्रमण से बचने के लिए तुम्हें हिंसा करनी भी पड़े तो बेमतलब किसी को मत मारो, मत सताओ।

तुम जानते हो आज भी वही पृथ्वी है जो पहले थी। बैलों से हल चलाकर खेती की जाती थी और इतना धान्य होता कि मनुष्य खाते, पशु-पक्षी खाते फिर भी बहुत बरकत होती। पर आज व्यक्ति ट्रैक्टर से खेती करता है। उसने मोरों को मारा, सियारों को मारा, बन्दरों को मारा, टिड्डी और फाके को मारा। फिर भी वह भूखों मर रहा है। नीयत के पीछे बरकत है। नीयत ठीक सब कुछ ठीक। नीयत खराब सब कुछ खराब।

अच्छे-अच्छे व्यक्ति जिन्हें खाने को अन्न मिलता है, पीने को पानी मिलता है, दूध मिलता है फिर भी वे मांस खाते हैं, शराब पीते हैं! कितनी बुरी बात है! एक चलते-फिरते प्राणी को मारकर व्यक्ति अपनी आत्मा को पापों से कलुषित बना लेता है। शराब जैसी खराब चीज को पीता है। वह महुआ, जो पत्ते गिरने पर फलता है, उसकी शराब पीनेवालों की गत कैसे रहेगी? कितने समृद्ध परिवार इसके कारण बरबाद हो गये! आज जो नीची जातियां कहलाती हैं वे इन्हें छोड़ती जा रही हैं; वहाँ अपने को कुलवान माननेवाले इसे अपनाने लगे हैं।

राजपूत में रजपूती नहीं रही, महाजन में महाजनता नहीं रही, मुझे तो ऐसा लगता है कि मानव में मानवता नहीं रही। वे धर्म को छोड़ते हैं, धर्म उनको छोड़ देता है। वे धर्म की रक्षा करेंगे, धर्म उनकी रक्षा करेगा। अस्तु। मनुष्य को चाहिए कि सत्य-अहिंसा और त्याग-तपस्या को अपनाकर जीवन उन्नत करें। इसी में मानव जीवन की सफलता है।

घड़सीसर
९ फरवरी '५३

७ : मनुष्य देह का कर्त्तव्य

यह मनुष्य की देह बड़े सौभाग्य से मिलती है। इसमें कुछ न कुछ धर्म क्रिया करनी चाहिए। इसको यों ही गंवा देने का मतलब है ८४ के चक्कर में भटकते रहना। साधु सम्पर्क से लाभ उठाकर जीवन का उत्थान करो।

पनपालिया
१० फरवरी '५३ (सुबह)

८ : सच्चा धर्म

आज करीवन १० वर्ष बाद हमारा कालू में आगमन हुआ है। उस समय डूँगरगढ़ से आना हुआ था और अब सरदारशहर से आना हुआ है उस मार्ग से, जिस मार्ग से हम तो क्या, हमारे पूर्वज भी कभी नहीं आये। रास्ते में छोटे-छोटे ग्रामों में से आना हुआ। वहाँ के लोगों में जो उत्साह और धर्म के प्रति भावना मालूम पड़ी इससे पता चलता है कि लोग आत्म-उत्थान करना चाहते हैं—जीवन सुधारना चाहते हैं पर उनको मार्ग दिखानेवाला नहीं मिलता। एक-एक दिन के उपदेश से नहीं, एक-एक घण्टा भी नहीं, ५-५ मिनट के उपदेश-श्रवण से सैकड़ों व्यक्तियों ने आजन्म के लिए तम्बाकू, शराब, मांस, शिकार आदि के त्यागकर दिये। आज भी कालू का यह इतना मानव समूह आत्म-उत्थान का मार्ग चाहता है और इसीके लिए एकत्रित हुआ है।

लोगों में संकीर्णता की भावना हुआ करती है—यह धर्म उनका है और यह उनका जिस प्रकार कि कूएँ आदि पर लेवल लगा दिये जाते हैं "हिन्दुओंके लिए", "मुसलमानों के लिए", "हरिजनों के लिए" आदि-आदि। पर क्या धर्म के दरवाजे पर भी कहीं लेवल मिलता है? हाँ! "आत्म उत्थान करने वालों के लिए।" धर्म केवल आत्म-सुधार करनेवालों के लिए है पतन करने वालों के लिए नहीं। उनके लिए संसार बहुत बड़ा है।

कहा जाता है, "धर्मकी रक्षा करो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा।' इसका तात्पर्य यह नहीं कि धर्म को बचाने के लिए अड़ंगे करो, हिंसाएँ करो, पर यह है कि धर्म को ज्यादा-से-ज्यादा जीवन में उतारो, धर्माचरण करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा तुम्हें पतन से बचायेगा। सिर्फ बड़े-बड़े तिलक लगाकर ही ब्राह्मण धर्म को नहीं बचा सकता और न शानदार पगड़ी पहनकर महाजन ही इसे बचा सकता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा, मनुष्य! किसी की यह ताकत नहीं कि तेरे धर्म को नष्ट कर दे। यह आत्मवस्तु है। इसको बचाने और बिगाड़नेवाला तू ही है। अच्छाइयों को अपनाया धर्म बचा—आत्म-उत्थान हुआ। बुराइयों, अत्याचारों को अपनाया धर्म गँवाया—आत्म-पतन किया।

धर्म वह महल है जो विश्वमैत्री की भीत्ति पर—सत्य और अहिंसा के खम्भों पर टिका हुआ है, जिसमें लिंग और रंग का विभेद नहीं है। निर्धन और धनिक का भेद-भाव नहीं है। तुम लोग सोचते होगे कि हमारे पास पैसा है हम ज्यादा धर्म कर सकेंगे। पर याद रखो—धर्म धन से नहीं होगा! धर्म होगा अपनी आत्मा से। यदि धन से

धर्म होता तो उनके मालिक फिर धनवान् ही होते, गरीबोंके लिए तो वह स्वप्न की वस्तु रहती। अन्यायों से लाखों रुपया कमाया उसमें से थोड़ा गरीबों को लुटा दिया! सोचने लगे बड़ा भारी पुण्य किया। लेकिन नहीं यह तो सांसारिक व्यवहार है। न धन का संचय करना धर्म है और न व्यय करना ही। धन का त्याग करना धर्म है। लोग गांव में आये हुए साधु सन्तों से लाभ उठायें, ज्ञानार्जन करें, आत्मोत्थान करें।

कालू
१२ फरवरी '५३ (सुबह)

९ : अणुव्रत

आज कालू में अणुव्रत संघ का प्रचार दिवस मनाया जा रहा है जिसकी स्थापना हुए आज पूरे ४ वर्ष होते हैं। संयोग से यह एक ऐसा मौका मिला है, जिस दिन संघ की स्थापना की गई थी। आज भी वही दिन है। आज इस समारोह में सभी जाति के व्यक्ति उपस्थित हैं। ओसवाल, माहेश्वरी, ब्राह्मण, जाट, नाई, राजपूत आदि सबको यहाँ से कुछ-न-कुछ लेकर जाना है, खाली हाथ नहीं जाना है। इसका मतलब यह नहीं कि उन्हें जैनी या तेरापन्थी बनना है। लोगों में एक संकीर्णता की भावना आ जाती है और शायद लोगों को यह कहा जाय कि तुम सब जैनी बन जाओ तो कोई इसे स्वीकार नहीं करेगा चाहे जैन धर्म कितना ही अच्छा क्यों न हो। फिर साधु ऐसा कहेंगे भी क्यों? जब कि १००-२०० व्यक्ति जैनी बन भी जायेंगे तो कौन-सा उनका भाग बटा लेंगे या नहीं बनेंगे तो कौन-सा कोना खाली रह जायगा? फिर भी व्यक्ति को सुधारने के लिए, उसका आत्म-उत्थान करने के लिए जो योजना बनाई गई है उसमें शक की कोई आवश्यकता नहीं। और इसीलिए तो इस योजना का नाम अणुव्रत-संघ रखा गया है। इसमें कहीं संकीर्णता की बू तक नहीं। किसी भी धर्म को दृष्टिगत करते हुए देखिये, इसके नियम उससे परे नहीं होंगे। वैदिक दृष्टिकोण से देखनेवाले के लिए ये नियम अपने ही धर्म के लगेंगे। वैसे ही इस्लाम, क्रिश्चियन, बौद्ध आदि का भी।

बहुत से लोग ऐसा कह देते हैं—"नियम अच्छे हैं, पालने योग्य हैं, पालना चाहिए।" लेकिन जब उन्हें पालने के लिए कहा जाता है तब कहने लगते है—"हैं! हैं!! मुझसे नहीं पाले जाते।" क्यों? कौन ऐसा व्यक्ति है जो कल्याण करना नहीं चाहता? सब कल्याण चाहते हैं। फिर कल्याण करने के लिए उद्यत न होना आश्चर्य है। स्वतः तो कल्याण होगा नहीं। लोग स्व-कल्याण न चाह कर पर-कल्याण देखना चाहते हैं! यदि उन्हें

कल्याण करना है तो कुछ कठिनाइयाँ भी झेलनी पड़ेंगी—नियमों का भी पालन करना पड़ेगा। आज समय है नियमों के पालने का।

नियम भी ऐसे हों जिनसे दूसरों को प्रेरणा मिले। अन्यथा एक सत्तर वर्षीय बुड्ढा आकर कहे—"महाराज! मुझे दूसरा विवाह करने का त्याग दिला दें" तो लोग उस पर उलटे हँसेंगे। धन्यवाद का पात्र वह है जो भरी जवानी में ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार करे। एक बुड्ढा जिसके एक भी दांत नहीं, खोपर की तरह मुँह और कहे—"सुपारी खानेका त्याग दिला दें।" अरे जिससे सुपारी खाई नहीं जा सकती, उसे त्याग लेते देखकर भी लोग हँसेंगे। आज समय है जब कि लोगों में नाना प्रकार की बुराइयाँ घर कर गई हैं। ऐसे समय में उन्हें छोड़नेवाला धन्यवाद का पात्र है।

कालू
१५ फरवरी '५३ (अणुव्रत प्रचार-दिवस)

१० : मन

व्यक्ति का जीवन सुधरे, इस तरफ उसे स्वयं सचेष्ट रहना चाहिए। मनुष्य की पाँच इन्द्रियाँ हैं और छठा मन है। मन को ऋषियों ने नाना प्रकार से सम्बोधित किया है। व्यक्ति यहाँ बैठा है, उसका मन कहीं से कहीं चला जाता है। यह वहाँ तक कैसे चला जाता है? कार से नहीं जाता, रेल से नहीं जाता, वायु से नहीं जाता, फिर कैसे जाता है? ऋषियों ने बतलाया है कि यह बिना पंख का पक्षी है। व्यक्ति मनोविकार और खुशी में उछल पड़ता है, आस-पास वालों को उछाल देता है। इसलिये सन्त पुरुषों ने कहा, यह बिना लगाम का घोड़ा है। जंगली हाथी बहुत तेज दौड़ते हैं। उन पर किसी तरह का अंकुश नहीं होता, महावत नहीं होता। मन की ऐसी ही तेज रफ्तार को देखकर महर्षियों ने इसे बिना महावत का मतंग कहा है।

ऐसा मन जिसपर विजय पाना कठिन है; उसे फिर स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय? ठीक वही कहावत चरितार्थ हो जाती है "जवानी और फिर धन।" एक तो जवानी की गरमी और फिर धन की, सत्ता की गरमी। इस स्वातन्त्र्य से मन विकारी बन जाता है जिससे वह मानव का पतन करता है। उसका दमन करनेवाला धन्यवाद का पात्र है।

भवदेव और भावदेव दोनों एक सम्पन्न परिवार की सन्तान थे। वह परिवार सम्पन्न तो था ही, साथ ही साथ धर्मप्रिय भी था। धन और धर्म दोनों का एक जगह मिलना बड़ा मुश्किल है। धनी धनान्धता में धर्म नहीं करता। गरीब की इच्छा होती है कि

धर्म करे पर अपनी गरीबी के कारण वह तेल, नमक, लकड़ी के चक्कर से पीछा नहीं छुड़ा सकता। इनके परिवार में धन और धर्मप्रियता दोनों ही थी। सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ होती थी। माता-पिता सभी धर्मप्रिय थे। दादी तो उन सब से दो कदम आगे थी। भवदेव धर्माभिरुचि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने दीक्षा ले ली। वह साधु बन गया, सन्यासी जीवन बिताने लगा। एक दिन वह अपने गुरु से बोला,—"मैं अपने गाँव जाना चाहता हूँ।" गुरु जी ने पूछा, "क्यों?" प्रत्युत्तर मिला,—"मैं अपना कल्याण तो करता ही हूँ। चाहता हूँ, मेरा भाई भी स्वकल्याण करे।" गुरु जी ने आज्ञा देते हुए कहा—"अपने संन्यास का ख्याल रखना।" भवदेव गाँव आये। बड़ी खुशीसे आये। इच्छा लेकर आये—"मैं जैसा आन्तरिक सुख पा रहा हूँ, वैसा ही मेरा भाई भी पाये।" गाँव आने पर मालूम हुआ कि भाई आज ही शादी करके आया है। फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और प्रयत्न जारी रखा। संसार-पक्षीय माता दर्शनार्थ आई। बोली,—"महाराज! बड़ी गलती हुई। साधुओं के आगमन पर दो-तीन मंजिल आगे जाती हूँ, आपके दर्शन यहाँ भी देर से कर सकी।" मुनि ने कहा,—"कोई बात नहीं।" भावदेव की बात चलाई। बुढ़िया ने बताया,—"आज ही उसकी शादी हुई है।"

भावदेव दर्शन करने आया। बड़ी खुशी से भ्रातृ-मुनि के दर्शन करने आया। मुनि ने पूछा,—"शादी कर ली।" भावदेव बोला,—"हाँ।" मुनि ने कहा,—"फंस गया जाल में? बन्ध गया बन्धन में? अब भी तो छूट। सांसारिक सुखों में कुछ नहीं है। अपना कल्याण कर। आत्मरमण कर।" जबाब मिला,—"महाराज! मैंने समझा नहीं। आप क्या कहते हैं।" मुनि बोले,—"साधु बन जा। इन झंझटों से मुक्ति पा।" उन्होंने संसार की अनित्यता बतलाई। कुछ वैराग्य से और कुछ बड़े भाई के संकोच से 'हाँ' भर दिया। अपवाद यह रहा कि अनुमति कैसे मिलेगी। "सब की अनुमति दिलाना मेरे जिम्मे रहा"—मुनि ने कहा। माता ने सहर्ष अनुमति दे दी। नव विवाहिता बहू से माता ने अनुमति के लिए कहा। उसने भी हाँ भरते हुए कहा,—"यदि वे दीक्षा लें तो मेरी सहर्ष आज्ञा है। मेरा विचार दीक्षा का नहीं है। मैं श्राविका-धर्म का पालन करूंगी। आप उन्हें देख लेना। बाद में साधुपन न पला तो मेरे घर में जगह नहीं है। मुझ से उनका कोई सरोकार नहीं रहेगा।" माता बोली,—"बहू, ऐसा क्यों बोलती हो? एक भाई साधु है ही; वह अच्छी तरह साधुपन पालता है। यह भी पाल लेगा।" बहू ने कहा,—"पाल लेंगे तो ठीक है।"

भावदेव दीक्षित हो गया। दोनों भ्रातृ-मुनि गुरु के पास आये। वन्दना की। भावदेव साधु-जीवन बिताने लगे। किसी तरह की गलती नहीं करते। भाई का संकोच था। पर साधुपन का रंग उनको रग-रग में जमा नहीं, रमा नहीं। वह सोचते—मैं कहाँ

आ गया, कब गाँव जाऊँगा। विकार उत्पन्न हुआ, पर भाई का संकोच था। प्रतिज्ञा की—भाई के जीते जी घर नहीं जाऊँगा, साधु ही रहूँगा। अब यही धुन रहती कि कब भाई मरे, कब घर जाऊँ ?

एक दिन एक ज्योतिषी आया। भावदेव के मन में आया "भाई कब मरेगा" ज्योतिषी से कैसे पूछूँ ? युक्ति सूझी। पूछ बैठा "मुझे भाई का कितना सुख है ?" "ज्योतिषी ने बताया,—"बहुत वर्ष बाकी है।" यहाँ तो एक-एक क्षण वर्ष की तरह बीत रहे थे और उधर बहुत वर्ष बाकी हैं ! क्या किया जाय ? कब भाई मरे, कब गाँव जाऊं ? उनके रहते भला कैसे जाऊँ ?

पूरे १२ वर्ष बीत गए। भाई को बीमारी ने आ घेरा। विकट बीमारी। भावदेव ने डाक्टरसे पूछा "नाड़ी कैसी है।" "कमजोर है",—डाक्टर ने कहा। मन में खुशी हो रही थी। किन्तु ऊपर से बड़ी उदासी दिखाई। रात्रि के १२ बजे शरीर ठण्डा होने लगा और इतना हुआ कि भावदेव आजाद हो गए। मुनि भवदेव स्वर्गगामी हो गये। अब भावदेव को रोकने वाला कौन था ? शर्म किसकी थी ? बहुत दिनों की आशा पूर्ण हुई और उसने सुख की सांस ली।

सुबह होने वाली थी। लोग मृत शरीर का जलूस निकालने के कार्यक्रम में व्यस्त थे। भावदेव अपनी योजना बना रहा था। उसने नवीन वस्त्रों की गठरी बाँधी, फटे-पुराने धर्मोपकरणों को छोड़ा; पर साधु-वेष नहीं छोड़ा। सूर्योदय से पूर्व ही उसने यात्रा का श्री गणेश कर ग्राम का रास्ता लिया। विचारता जाता था—कि घर कैसे जाऊंगा, पहले कहाँ ठहरूँगा। इसी प्रकार विचारों का आवागमन होता रहा।

सूर्योदय होने का था। गुरु जी ने देखा,—आज भावदेव नहीं दीख रहा है। फिर सोचा कार्य-निमित्त बाहर गया होगा। इन्तजार की। निगाह किया। कोई पता नहीं। उसके नये उपकरण भी नहीं थे। सोचा—निकल गया होगा। पर विचार था कि १२ वर्ष का पुराना साधु जिसने कोई गलती नहीं की, जिसकी कभी कोई शिकायत नहीं आई कैसे चला गया ?

भावदेव विचारों में लीन, चलता जाता था। चलते-चलते ग्राम आया। "सीधा घर कैसे जाऊँ ?"—यह प्रश्न उसके मन में बार-बार उठता। आखिर गाँव के बाहर एक रमणीक बाग में उसने डेरा डाल दिया।

उद्भ्रान्तमना भावदेव मुनि वेष में खड़ा है। विचार करता है कैसे घर जाया जाय। माता जीवित है या नहीं। यदि वह जीवित होगी तो मुझे घर में घुसने नहीं देगी, किससे पूछा जाय ? इस तरह भावोंकी उथल-पुथल चल रही थी। संयोग ऐसा मिला कि नागला (इनकी पत्नी) अपनी सहेलियों के साथ कहीं जा रही थी। उसने मुनि को

देखा और उसे बड़ा हर्ष हुआ। "धन्य भाग्य जो आज सन्त-दर्शन हुए।" उसने दर्शन करने के लिए सहेलियों से चलने को कहा, पर उन्होंने टाल दिया। नागला अकेले ही दर्शन को चली। आई और दर्शन कर उसने पूरे तीन बार प्रदक्षिणा दी तथा सुख-साता-कुशल-क्षेम पूछी।

मुनि अकेले कैसे? अकेला रहना उन्हें कल्पता नहीं। गुरु की आज्ञा होगी। साधु अकेली स्त्री से बात करते ही नहीं। दूर से कहते हैं—"हमें कल्पता नहीं है।" इन्होंने तो कुछ कहा नहीं। दाल में काला तो नहीं है? नाना प्रकार के प्रश्न चित्रपट की तरह आँखों के सामने नाचने लगे।

व्यक्ति अपने सबसे ज्यादा प्रिय व्यक्ति का बुरा फौरन सोच लेता है। नागला ने सोचा कि कहीं मेरे पति तो नहीं हैं। फिर सोचा, "मेरे विचार असत्य हों। होगा कोई, मुझे क्या? क्यों सोचूं? सहेलियाँ इन्तजार करती होंगी।" यह सोच चलने लगी। फिर विचारा—बातका पूरा पता लगाना चाहिए।

इधर मुनि ने सोचा, "यह औरत आकर चली जा रही है, क्यों न इसी से सब बात पूछी जाय?" मुनि ने आवाज दी। जवाब मिला,—"महाराज! मैं अकेली हूँ।" मुनि ने कहा, "ऐसी क्या बात है, तुम दरवाजे के बाहर खड़ी हो, मैं भीतर हूँ।"

नागला ने नजदीक से देखा। सन्देह हुआ कि पति ही है। खैर हुआ सो हुआ। यदि वे ही हैं तो मैं उन्हें सही रास्ते पर लाकर ही छोड़ूँगी। घर तक पहुँचने न दूंगी। यह उपकार की भावना—सच्चे उपकार की भावना है। व्यक्ति भूखे को रोटी खिलाता है। प्यासे को पानी पिलाता है। गरीब को आर्थिक सहायता देता है। रोगी को दवा देता है। उसका लौकिक व्यवहार है। नामवरी की भावना से भी यह सब किया जा सकता है। लेकिन गिरते को उठाना, पापी को पवित्र बनाना सच्चा उपकार है।

हां, तो नागला ने कहा—"क्या आज्ञा है, महाराज!" मुनि ने कहा, "तुम्हारे इस सुग्राम में बड़े-बड़े श्रावक थे। एक प्रसिद्ध श्राविका भी थी जिसका नाम था रेवती, भावदेव की माता। वह अब जीवित है या नहीं?"

नागला ने सोचा, "यह सब नाम तो मेरे परिवार के ही हैं। जवाब कुछ सोच-विचार कर देना चाहिए।" असमंजस में पड़ी हुई थी। फिर बोली,—"महाराज! मैं याद कर रही हूँ, कौन रेवती है। नगरी बड़ी है, यहाँ कई रेवती हैं।"

इस तरह नागला बड़े सोच-विचार के बाद जवाब देती है। अपना कुछ भी भेद न देती हुई मुनि का भेद लेती है। विचार के बाद उसने बताया, "मैं रेवती को जानती हूँ। बड़ी नामी श्राविका थी। उसके बराबर श्रावक व्रतों में कोई मजबूत नहीं है। ब्रह्मचर्यव्रतधारिणी रात्रि को चौविहार का त्याग, और भी नाना प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान किये उसने।"

मुनि को तो जल्दी लग रही थी यह जानने की कि वह जीवित है या नहीं। नागला इसी तरह टालती जाती थी। बड़े घुराव के बाद जवाब देती।

मुनि ने कहा,—"यह तो मैं जानता हूँ वह बड़ी पक्की श्राविका थी। अब वह जीवित है या नहीं ?" नागला ने बताया—"वह अब जीवित नहीं है। उसे देवलोक प्राप्त हुए कई वर्ष हो गए।"

मुनि ने सुख की सांस ली। न अब भाई कहनेवाला है, न माता। वह दोनों तरफ से आजाद है। पर यह तो पूछ लूं कि मैं जिसके लिए आया हूँ, वह अब जीवित है या नहीं। बदनामी के पीछे कुछ स्वार्थ तो सधे। जूठा भी खाय जब मीठा हो तब न ? बदनामी हो और काम भी न बने यह ठीक नहीं। पूछने ही लगा कि इतने में नागला चली,—"महाराज ! मत्थयेण वन्दामि।" मुनि ने कहा,—"एक बात फिर पूछनी है। रेवती के लड़के की बहू थी वह अब जीवित है या नहीं ?"

नागला ने मन ही मन कहा, "आई बात समझ में। मेरे लिए ये आतुर हैं।" उसने थोड़ा क्रोध दिखाते हुए कहा—"महाराज ! आप कैसी बातें करते हैं ? कभी रेवती जीवित है या नहीं, कभी नागला जीवित है या नहीं। क्या मतलब है आपको स्त्रियों से ? साधु पूछ सकता है—आहार पानी का संयोग कहाँ होगा ? लोगों में धर्म-ध्यान की रुचि कैसी है ? सो तो नहीं, अमुक जीवित है या अमुक मर गई। मुझे शक होता है, आप साधु नहीं हैं ! अन्यथा ऐसी बातों से क्या प्रयोजन ?"

मुनि ने सोचा कि बात आगे न बढ़ जाय और बोले—"वाह ! मैं पूछूँ और बिना मतलब। वह मेरी पत्नी है। इसीलिए मैंने पूछा।"

नागला बोली, "महाराज कैसी अविचारपूर्ण बातें करते हैं ? मैंने न कभी सुना न देखा, कि जैन साधु की भी पत्नी होती है। हाँ, कई घर-गृहस्थीवाले साधु—नाथ, योगी, वैरागी होते हैं, पर जैन साधु की कभी पत्नी नहीं सुनी।"

मुनि ने सोचा अब बात छिपानी नहीं चाहिए और बोले, "मेरा नाम भावदेव है। आज १२ वर्ष पूर्व की बात है। मैं शादी करके आया ही था। इसी समय मेरे बड़े भाई ने, जो मुनि थे, मुझे सांसारिक बन्धनों से बचने का उपदेश दिया। मैं उसे न टाल सका ; साधु बन गया। उन्होंने कहा था कि सांसारिक फँदे में मत पड़। पर मैंने अभी 'कांकण-डोरड़े' का सम्बन्ध भी नहीं तोड़ा कि इस फँदे में फँस गया···।" नागला बीच में ही पूछ बैठी, "तो क्या आपको जबरदस्ती साधु बना लिया गया ?" मुनि ने कहा "नहीं, मेरी रजामंदी थी मैं भाई की बात न टाल सका।"

"तो अब भाई का क्या हुआ ?"

"वे भी वहाँ पहुँच गए जहाँ रेवती चली गई।"

"अच्छा, १२ वर्ष विताये तो अब फिर क्या है ?"

"बस पूछिए मत, एक-एक क्षण वर्ष की भांति बीता, अब नहीं रहा जाता।"

"शर्म नहीं आती। साधु-वेष लजाते हो? उतारो इन वस्त्रों को, अपनी मुँह की भी मक्खियाँ नहीं उड़तीं, नागला के लिए मुँह धोकर आए हो। नागला, तन-मन से आपकी वांछा नहीं करेगी। वह मेरी सहेली है। उसने रेवती की ठोकर खाई है। वहाँ तक न जाकर यहीं से लौट जाइये।"

कैसी-कैसी गुणवती स्त्रियाँ होती हैं। एक तरफ पुरुष जो पात्र कहलाता है, पतित हो रहा है और दूसरी तरफ स्त्री उसे पावन बनाने की कोशिश कर रही है। पुरुष गिर रहा है, स्त्री उठाने की कोशिश कर रही है। इतिहास के पृष्ठ के पृष्ठ ऐसे उद्धरणों से भरे मिलेंगे। यह महिला-समाज के लिए गौरव की चीज है। यह उनकी सद्गुण-प्रियता और धर्मनिष्ठा का परिचय है। आज भी जितनी संख्या 'सतियों' की मिलती है, 'सन्तों' की नहीं मिलती है।

"जा! जा!! देख लिया तेरे मुँह का रुआब। तू जानती है दूसरों के मन की बात? मैं जिस नागला को क्षणभर भी नहीं भूलता, अवश्य वह हर वक्त मेरे लिए कौए उड़ाती होगी। भला, स्त्री के लिये पति के सिवा और है ही क्या?" भावदेव ने नागला से कहा जिसे वह अब तक भी न पहचान सका।

"अच्छा! बिना नमस्कार किए ही चलती हूँ। आप साधु नहीं हैं, मैं पक्की श्राविका ठहरी", नागला बोली।

"जा! जा!! मुझे ख्वाहिश नहीं है तेरे नमस्कार की।" भावदेव ने प्रत्युत्तर दिया।

चिन्तातुर नागला घर की ओर चली। क्या किया जाय? नाड़ी बिलकुल धीमी पड़ चुकी है। प्राण जानेवाले हैं। नाममात्र का साधुवेष है। मैं क्या करूँगी, घर आ ही गए तो! वह इसी उधेड़बुन में घर पहुँची। कुछ हल निकाला जाय। अपनी विश्वास-पात्र पड़ोसिन के पास गई। सारी बात कह सुनाई। सलाह-मशविरा कर सारी योजना बनाकर दोनों चलीं—उस बाग में जहाँ मुनि ठहरे थे।

मुनि ने सोचा "अब यहाँ क्या करना है? घर चलूं।" वे रवाना होना ही चाहते थे कि इतने में नागला अपनी सहेली के साथ आ पहुँची। बोली—"आप साधु तो नहीं हैं फिर भी सामायिक तो यहीं कर लें।"

भावदेव ने सोचा—"इनके देखते कैसे जाऊँगा?" उन्हें वहाँ सामायिक न करने को कहा। नागला बोली,—"हम दो हैं। यहाँ रहना कल्पता है।" और दो सामायिक पच्चक्ख ली।

"अब क्या किया जाय इतनी देर और रुकना पड़ेगा।" भावदेव विचार में पड़ गया। इतने में एक बच्चा भागा २ आया और बोला—"माँ! ओ माँ!!" और गोद में आने लगा।

"ना बेटा! मेरे सामायिक है।" माता ने कहा।

"माँ! ओ माँ!! एक बात कहूँ" और वह गोद में आ ही गया। माता पहले गोद में आने के लिए मना करती थी। अब पुचकारने लगी, दुलारने लगी। कहो, वत्स! क्या बात है?"

मुनि मन ही मन सोचने लगे—कैसी मूर्ख स्त्री है। अभी-अभी मना कर रही थी। अब दुलार रही है।

बच्चा बोला, "मां! आज तूने खीर बड़ी अच्छी बनाई। रसास्वाद अच्छा, केशर की गंध, बादाम, नोजा, पिस्ता, चिटकी आदि के मिश्रण से बड़ी स्वादिष्ट बनी। मैं खाने बैठा और खाता ही गया। सारी खीर खाकर ही रहा। पर माँ! कै हो आई। सारी खीर खाई वैसे ही बाहर निकल आई। मेरे हाथ पैर सभी अंग सन्न हो गए।"

"फिर क्या किया?" माता ने प्यार से पूछा।

"माँ! करता क्या? खीर बड़ी सुस्वादु थी। गवाँई जा नहीं सकती थी। कै में निकली खीर को मैं फिर चाट गया। मां! वह बड़ी स्वादिष्ट लगी। चाटते-चाटते हाथ पैरों को साफ कर दिया।"

माता ने वात्सल्य-भाव दिखाते हुए कहा,—"बहुत अच्छा किया बेटा! खीर गवाँई नहीं। भला छोड़ी भी कैसे जाती?"

मुनि से न रहा गया। एक तरफ ये घिनौनी बातें! ऊपर से माता का प्यार! बच्चे ने कुत्ते का काम किया और फिर दुलार—समर्थन! कैसी उल्टी गंगा बह रही है! वे बोल पड़े, "तुम कितनी मूर्ख हो? यदि बच्चे के द्वारा कोई अच्छा काम होता तो सराहना भी करती।"

बस, और क्या चाहिए था, नागला बोल पड़ी, "बच्चा है, कर भी लिया तो क्या? कहने चले हो किस मुँह से। बारह वर्ष का साधुत्व गवाँने जा रहे हो! कै की तरह छोड़े काम-भोगों को चाटने जा रहे हो! यह तो बच्चा है, चाट भी लिया! तुम इतने बड़े होकर चाटने की इच्छा रखते हो? कहते शर्म नहीं आती। कहना सरल है करना कठिन! पर खबरदार यदि घर की तरफ पैर बढ़ाया तो पैर काट लूँगी। मैंने रेवती की ठोकर खाई है। तन मन और वचन से पुरुष-मात्र की वांछा नहीं करती। आपसे मेरा कोई सरोकार नहीं है।"

मुनि की आँखें खुल गईं। यही है नागला। मैं बड़ा नीच हूँ। कहाँ मैं मुनि था, कहाँ भ्रष्ट होने जा रहा हूँ। उसने कहा—"मैं इन कामभोगों को आजीवन के लिए ठुकराता हूँ। आज तुमने मुझे सत्पथ पर ला दिया इसके लिए आभारी हूँ। पर गुरु के पास कैसे जाऊं? मैं बिना आज्ञा आ गया था।"

नागला ने कहा, "चलिए। किसी बात का डर नहीं है।" वह उन्हें गुरु के पास लिवा लाई। सारी बात बताई। भावदेव पुनः साधु-जीवन बिताने लगे। वे संयम में रत हो गए और अन्त में स्वर्ग-सुखों को प्राप्त किया। वे ही अगले जन्म में जम्बूकुमार हुए, जिन्होंने अति उच्च वैराग्य-वृत्ति से साधुपन लिया और भगवान् महावीर के तीसरे पट्टधर हो मुक्ति प्राप्त की।

लूणकरणसर
२२ फरवरी '५३

११ : संतों का स्वागत क्यों ?

आज संतों का इतना स्वागत होता है, इसका क्या कारण है? बड़े-बड़े लीडर और ऑफिसर ग्राम में आए और उनका अधिक से-अधिक स्वागत किया जाय, इससे तो उनका कुछ स्वार्थ सध सकता है लेकिन उनके गाँव में फकीरों का (संतों का) जिनके पास एक कौड़ी नहीं, बिलकुल अकिंचन हैं, इतना स्वागत क्यों? इसका भी कुछ रहस्य होगा और है भी।

जो चीज अमीरों के पास नहीं वह फकीरों के पास मिल सकती है। आज दुनिया सुख और शान्ति चाहती है। कोई दुःखी बनना नहीं चाहता। दुःख की ओर मुख करने की कामना कौन रखे? पर सुख भी कैसे मिले? यह एक समस्या है। दुःख बहुत बड़ा रोग है। डाक्टर इलाज करते हैं बाह्य रोग का, पर इस आभ्यन्तरिक रोग का इलाज कैसे हो जो एक घर नहीं, एक गाँव नहीं, एक शहर, एक प्रान्त या एक देश नहीं, जन-जन में, अखिल विश्व में फैला हुआ है और जिसका परिणाम है अशान्ति और आत्मक्लेश। और वह रोग है बुराइयों का। लोग नाना प्रकार के व्यसनों में पड़कर स्व-आत्मा के साथ धोखेबाजी कर रहे हैं। कोई धुआँ निकाल रहा है, तो कोई गांजा पीकर मस्त बना हुआ है। कोई शराब से दिमाग खराब कर रहा है, तो कोई मांस से मोटा बनता है। अन्य भी अनेकानेक दुर्गुणों—चोरी, जारी, व्यभिचारी, धोखाधड़ी—में फँसकर मानव, दानव बन रहा है। इस रोग का इलाज भला डाक्टर कैसे करें?

बहुत से शिक्षित या अर्द्धशिक्षित व्यक्ति तो यहाँ तक कह देते हैं कि इन बुराइयों का मूल धर्म है। धर्म ही के कारण हम पराधीन हुए और धर्म ही के कारण हमारी यह हालत हुई। आज हम गिर गए। किन्तु यह ठीक नहीं। यह सब किए का फल है। धर्म कभी गिरा नहीं सकता। अपने किए पाप ही आपको खा रहे हैं। धर्म जिसमें मैत्रीभाव, समता, संतोष, सत्य, अस्तेय आदि चीजें हैं, कभी भी दुःखप्रद नहीं हो सकता। पर किसी हद तक उनका कहना सत्य भी है। धर्म को बदनाम करने वाले व्यक्ति भी हैं, जो धर्म की आड़ में स्वार्थ साधते हैं, पेट-भराई करते हैं। अरे! यही नहीं, यह कहकर कुर्सी प्राप्त करना चाहते हैं, "ओ भाइयो! आप अपना वोट हमें दें, अन्यथा धर्म खतरे में हो जायगा। हम धर्म की रक्षा करेंगे।" मानो धर्म की पतवार उन्हीं के हाथ में है। धर्म के रक्षक वे ही हैं। पता नहीं इस तरह वे किसकी रक्षा करते हैं। अस्तु।

मैं जिस रोग की बात करने जा रहा हूँ वह है आभ्यन्तरिक रोग, इन बुराइयों का रोग। इसको त्याग रूपी अमोघ औषधि ग्रामानुग्राम देने आज यहाँ आना हुआ है। यहाँ के लोगों को भी इसकी घूँट दी जाय जिससे वे भी इस रोग से मुक्त हो सकें। यही वह रहस्य है, जिसके लिये लोग संतों का स्वागत करते हैं, उनके आगे सहसा उनके मस्तक नत हो जाते हैं।

लूणकरणसर
२२ फरवरी '५३

१२ : सामायिक

सामायिक जैनों की आध्यात्मिक क्रियाओं का एक अंग है। अन्य धर्मावलम्बी जैसे संध्या-वन्दन आदि में दो-एक घड़ी लगाते हैं इसी तरह जैन श्रावक सामायिक आदि करते हैं।

सामायिक में व्यक्ति एक मुहूर्त के लिए साधु-सा बन जाता है। सांसारिक परिग्रह आदि झंझटों से मुक्त रहता है। और रहना भी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि मुझे जल्द से जल्द मुक्ति मिले। मुक्त होने के लिए साधु बनना, साधुत्व का आना जरूरी है और सामायिक साधु बनने का प्रयास है। प्रत्येक व्यक्ति की आन्तरिक आकांक्षा यही रहनी चाहिए कि वह दिन धन्य होगा जब मैं भी साधु बन अपनी कर्म वर्गणाओं से मुक्त हो जाऊँगा।

आजकल बहुत से व्यक्ति सामायिक का नाम ही नहीं लेते। कहने पर नाना प्रकार के बहाने बनाकर निकलना चाहते हैं। वे गलती करते हैं। सामायिक की दो घड़ी इतनी उपयोगी है जितनी कि हाथ में पकड़ी दो अंगुल डोरी। कुएँ में डोरी बांध कर डोल से पानी निकालते हैं। सारी डोरी कुएँ में चली जाती है, सिर्फ एक-दो अंगुल डोरी हाथ में रहती है और उसी से वह डोल कुएं में से निकाल ली जाती है। यदि यह मानकर कि क्या है दो अंगुल ही तो है, वह दो अंगुल डोरी भी छोड़ दी जाय तो? डोल कुएं में गिर जाती है, बड़ी मुश्किल से निकाली जाती है। इसी तरह यह दो घड़ी धर्म की शेष ५८ घड़ी का मुकाबला कर सकती है। व्यक्ति को गिरने से बचा सकती है। ऐसे समय में जब कि मानव अपना समय व्यर्थ में खो रहा है, अपना जीवन व्यर्थ में गवां रहा है, सद्गुरु उसके कान उमेठ रहे हैं, "प्रत्येक पल धर्म के लिए जागरूक रह, हर क्षण में धर्म का ख्याल रख। यह अमूल्य जिन्दगी यों ही मत बीतने दे।"

व्यक्ति जो त्याग प्रत्याख्यान करता है उसे भी ख्याल रखे, की हुई प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहे। मुसीबत में भी उनका पालन करें। बहुत से ऐसे त्याग करने वाले हैं जो रोजाना एक सामायिक करते हैं, चाहे उन्हें इसके लिए गाड़ी का टाइम क्यों न चुकाना पड़े। बंगाल-आसाम से आना होता है, ५-५, ६-६ दिन के सफर होते हैं, फिर भी रास्ते में गाड़ी चुक जाय पर सामायिक करते हैं। एक नहीं अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं। श्रावक रूपचन्दजी ने लाखों रुपया खर्च कर हवेली बनाई पर पानी कभी अनछाना नहीं लगाया। रात को पानी का भी प्रबन्ध नहीं रखा। कितनी जागरूकता रखते थे। इस तरह अन्य व्यक्ति भी जागरूक रहें।

व्यक्ति श्रावक अणुव्रती बने या साधु महाव्रती दोनों रास्ते सन्मुख हैं। बड़े नियम न पाल सकें तो छोटे ही पालें। छोटों को पालना बड़ों की ओर बढ़ने का प्रयास है, धीरे-धीरे उन्हें अपनाने की कोशिश करे और अपनाएँ।

सामायिक का मतलब है एक मुहूर्त के लिए पापकारी कर्मों का त्याग और समता का भाव रखना। किसी भी व्यक्ति से द्वेष-भाव न रखकर स्व-तुल्य समझना। मनुष्य तो क्या पानी, वनस्पति, अग्नि, तिर्यंच आदि सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना और इसी क्रम को बढ़ाते-बढ़ाते साधु बनकर मुक्त हो जाना, परमात्मपद को प्राप्त कर लेना।

लूणकरणसर

२५ फरवरी '५३

१३ : मुक्ति क्या है ?

आज दो व्यक्ति—एक भाई और एक बहन इस असार संसार की धधकती अग्नि से निकल कर मुख की मांग लेने जा रहे हैं। वे ज्ञान और आचार के सहारे अपनी आत्मोन्नति करते हुए स्व-कल्याण तथा पर-कल्याण करेंगे।

ज्ञान और आचार दोनों ही आत्मोपयोगी तत्त्व हैं। ज्ञान को हम आँख कहें तो आचार को पैर कहा जा सकता है। दोनों ही आवश्यक अङ्ग हैं। ज्ञान की कमी तो हो भी सकती है पर आचार की विशुद्धि अत्यावश्यक है। आचार का स्थान प्रथम है। आचारभ्रष्ट का ज्ञान कोई मूल्य नहीं रखता।

ये दोनों ज्ञान और आचार के सहारे अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाएंगे। मुक्ति और है ही क्या ? आत्मा की पूर्ण विशुद्धि ही तो मुक्ति है। सारे कर्म बन्ध टूट कर उसका सत् स्वरूप निखर आता है ; बस यही मुक्ति है।

लोग पूछेंगे—"क्या बिना साधु बने मुक्ति नहीं मिल सकती ? गृहस्थ में भी तो मुक्ति पाने के उदाहरण मिलते हैं।" मैं उन्हें बता देना चाहता हूँ,—"गृहस्थ रहते कभी भी मुक्ति नहीं मिल सकती।" हाँ, गृहस्थ-वेश में मुक्ति मिल भी सकती है, परन्तु उस समय उसके वस्त्र मात्र ही गृहस्थ के होते हैं। उसमें परिणामों की उज्ज्वलता से साधुत्व आ जाता है।

जब कि संसार नाना प्रकार के व्यसनों में फँसा बुराइयों की भट्ठी में जल रहा है, ये दोनों शांति की ओर अग्रसर हो रहे हैं, एक बहुत बड़ा त्याग करने जा रहे हैं। ये आजन्म अहिंसक, सत्यवादी, अचौर्य व्रतधारी, ब्रह्मचारी, अपरिग्रही बनने जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में ये मेरु के समान उच्च पाँच महाव्रत को अपना रहे हैं। क्या तुम लोग मामूली त्याग-प्रत्याख्यान भी नहीं कर सकोगे ? अपने जीवन की कम से कम एक-बुराई को तो इसके उपलक्ष में छोड़ दो। यह तुम लोगों के लिए शायद बड़ी बात नहीं होगी। देखें कितने व्यक्ति अपने को बुराइयों से बचाने की प्रतिज्ञा करते हैं ?

लूणकरणसर,
२६ फरवरी '५३ (दीक्षान्त भाषण)

१४ : जीवन की घड़ियाँ घट रही हैं

जीवन की घड़ियां घट रही हैं, बढ़ती नहीं हैं। जितने भी दिन बीतते हैं, अंजलि में पानी की तरह उम्र घटती जाती है। लोग कहते—"मेरा लड़का इतना बड़ा हो गया, इतने वर्ष का हो गया।" बड़ा कहां हो गया? पता नहीं। वह तो उतना ही छोटा होता जाता है। पर यह सब लोक-भाषा ठहरी। बड़ा कहां होता है?

उम्र दिन पर दिन घटती है। रोजाना व्यक्तियों को काल-कवलित होते देखते हैं। देखते ही नहीं, दाह देकर आते हैं। दाह-संस्कार करते हैं फिर भी व्यक्ति चेतते नहीं, सचेष्ट नहीं होते। एक दिन जाना है। तुम सोचते होगे—"जाना नहीं है यहीं रहना है।" ऐसा ही सोचा भी जाने लगता है। तभी तो लोग लापरवाही से रहते हैं। घरेलू झंझटों में दिन प्रति दिन फँसते जाते हैं। वे भूल जाते हैं—"सब हैं आपो आप—कुण बेटा कुण बाप"। माता, पिता, पुत्र, बहन, पत्नी कोई किसी का नहीं है। अस्तु।

कुछ धर्म-क्रिया करो। साधु-संगति से लाभ लो। अपने जीवन को सात्त्विक बनाने के लिए सचेष्ट रहो।

दुलमेरा,
२ मार्च '५३ (रात्रिकालीन प्रवचन)

१५ : मानव-जीवन की बहुमूल्यता

[१]

बनिये बड़े चतुर होते हैं। वे सहज में नहीं ठगाते। एक दफा अकबर बादशाह ने बीरबल से कहा,—"सबसे ज्यादा सयाना कौन और सबसे ज्यादा भोला कौन?" बीरबल ने कहा—"सयाना तो बनिया है और भोला है आपका गुरु-मौलवी।" बादशाह क्रोधित हो उठा—"मेरे गुरु का अपमान! तुम्हें प्रमाण देना पड़ेगा।"

बीरबल ने कहा,—'ठीक है। आप स्वयं कुछ मत बोलिए। अभी प्रमाण देता हूँ। एक मौलवी बुलाया गया। बीरबल ने उससे कहा—"तुम अपनी दाढ़ी काटकर दे दो, बादशाह को जरूरत है। जितनी इसकी कीमत हो, ले लो।"

मौलवी ने सोचा, "बादशाह से बढ़ कर कौन होगा? कीमत भी इसकी क्या हो सकती है?" कहा—"इसकी कीमत चार आने हैं।" हजामत कर दी गई।

सारी दाढ़ी बादशाह के पैरों पर थी। बादशाह नहीं समझ सका कि बीरबल क्या कर रहा है।

अब एक बनिया बुलाया गया। उससे भी वही बात कही गयी जो मौलवी से कही गयी थी। बनिये ने कहा—"मैं भी बादशाह का हूँ और यह दाढ़ी भी। कीमत की क्या बात है? और यदि देनी है, तो फिर कीमत भी बता दूँ। एक बार मैंने यह दाढ़ी उतारी थी, जब कि मेरी मां मरी थी। पूरे २५ हजार का खर्च औसर-मौसर आदि में हुआ था। दूसरी बार पिताजी मरे तब दाढ़ी उतारी। तब पूरे ३१ हजार का खर्च हुआ। इस तरह ५६ हजार तो इसका खर्च लग चुका है। और आगे जाकर इसकी कीमत क्या पड़ेगी पता नहीं। अभी तक तो ५६ हजार रुपये ही कीमत हुई है।" ५६ हजार रुपये राज-कोष से दिये गये। बनिया फिर बोला, "दाढ़ी कटाने से बाजार में मेरी इज्जत न गिर जाय, इसलिए इस आशय का रुक्का लिख दीजिये कि आल-औलाद तक मेरी इज्जत बनी रहेगी।" ऐसा रुक्का भी लिख दिया गया।

अब बनिया दाढ़ी उतरवाने बैठा। मन में सोच रहा था दाढ़ी किस तरह बच जाए। हजाम ने उस्तुरा चलाया और बनिये ने हजाम पर हाथ चलाया। कहा, "मूर्ख समझता नहीं। बादशाह सलामत की दाढ़ी उतर रही है और सावधानी नहीं रखता।" बादशाह असमंजस में पड़ गया। बोला—"मेरी दाढ़ी कहाँ उतर रही है?" बनिया बोला, "जहाँपनाह! मैं तो इसे आपके हाथ बेच चुका हूँ। अब दाढ़ी आपकी है बादशाह को कहना पड़ा कि मुझे दाढ़ी नहीं कटानी है। बनिये कहा—"आपकी मर्जी है, चाहे इसे रखें या कटवायें।" इस तरह बनिया बिना दाढ़ी कटवाये रवाना हो गया।

बीरबल ने बादशाह से कहा—"देखा हुजूर! बनिया कैसा होशियार होता है! रुपये ले गया, आल-औलाद की इज्जत का रुक्का ले गया और सब से बड़ी बात यह है कि दाढ़ी भी ले गया। एक तरफ इन मौलवी साहब को देखिए। इतने भोले हैं कि चार आने में दाढ़ी बेच दी।"

दाढ़ी की कीमत अदा करनेवाले चतुर बनिये की तरह जो नर मनुष्य-भव की पूरी कीमत आँकता है, उसे तुच्छ वैषयिक आनन्द के लिये व्यर्थ ही न्योछावर नहीं करता पर पूरा आत्मिक लाभ उठाता है वही परम विवेकी पुरुष है।

[२]

चार बनिये विदेश कमाने गए। खूब धन कमाया। एक-एक के हिस्से में १००० सोने की मोहरें आईं। वे वापस देश के लिए रवाना हुए। पुराना समय था। रेलादि वाहन थे नहीं। पैदल सफर हुआ करता था। दिन तो ज्यादा अवश्य लगते पर

स्वास्थ्य ठीक रहता। कभी ५ कोस तो कभी ७ कोस चल लेते। एक दिन गांव में ठहरे। रसोई का समान एक मोदी से खरीदा। भोजन से निवृत्त हो आराम किया। दूसरे दिन अगले गांव पहुँचे।

एक बनिया जो कि अपने को ज्यादा चतुर समझता था, बोला, "हिसाब करके तो देख लें। कहीं पिछले गांव में मोदी को ज्यादा तो नहीं दे दिये। हिसाब किया। एक कांगणी-नाणा (पौन पैसा) ज्यादा दे दिया था। वापस जाकर लाने की बात सोची। साथियों ने कहा, "क्या है, जो पौन पैसे के लिए वापस ५, ७ कोस जाया जाय? हम नहीं जायेंगे। पौन पैसे में एक हिस्सा ही तो तुम्हारा है तुम हम लोगों से ही पौन पैसा ले लो।" उसने कहा—"नहीं, तुम मूर्ख हो। वह बनिया ही क्या जो हिसाब में भूल कर दे। बनिया रोकड़ में एक पैसे की भूल निकालने के लिए चार पैसे का तेल जला देता है। हमें भी पौन पैसे को छोड़ना नहीं चाहिए।" साथियों ने हँस कर कहा—"हमें वापस नहीं लौटना है। तुम जाओ तो तुम्हारी इच्छा। उसमें से हमारा हिस्सा भी तुम ही ले लेना।"

बनिया रवाना हुआ। साथियों से बोला, "यह १००० मोहर तुम रख लो।" पर साथी खतरा उठाने के लिये तैयार न हुए। बनिया चला। रास्ते में सोचा, "मोहरों का भार कौन ले जायगा? इस वृक्ष के नीचे गाड़ दूं। कौन देखता है? चारों तरफ देखा, कोई व्यक्ति वहाँ नहीं था। उसे क्या पता कि दो आँखें ऊपर से उसे देख रही हैं। वह ऊपर देखने ही क्यों लगा? वृक्ष पर एक ग्वाला था। बनिया ज्योंही आगे चला, ग्वाला मोहरें लेकर चंपत हुआ।

गांव पहुँच कर उसने मोदी को भूल बताई। मोदी कांगणी-नाणा देने लगा। बनिया बोला—"इस तरह क्या धर्म में दे रहे हो? रोकड़ देखो, हिसाब मिलाओ, फिर दो।" मोदी बोला—"मुझे क्यों देर करते हो? तुम्हें भी देरी होगी, ये ले जाओ अपने पैसे।" पर बनिया न माना। हिसाब किया और कांगणी-नाणा लेकर खुशी-खुशी रवाना हुआ। वृक्ष के नीचे आकर देखा तो धन लापता था। बड़ा दुःख किया, रोया, छाती पीटी, पर अब क्या होने को था? मोहरें ग्वाले के घर पहुँच चुकी थीं।

यह मनुष्य-भव मोहरों के समान अमोल है। इसे भौतिक सुख रूपी कांगणी-नाणा लिये यों ही गवां देनेवाले से बढ़कर और कौन मूर्ख होगा?

बड़ावास

६ मार्च '५३

१६ : सत्संग

व्यक्ति जन्म लेता है। बड़ी खुशियाँ होती हैं। वह बड़ा होता है, शक्ति बढ़ती है। जबरदस्ती भी कर सकता है और यहाँ जोर जबरदस्ती चल भी सकती है; पर परभव में पोंपाबाई का राज्य नहीं है। उसके लिए व्यक्ति को अपनी शारीरिक शक्ति नहीं आत्मिक शक्ति बढ़ानी चाहिए। शरीर बल तो पशु में भी बहुत होता है। क्या मानव भी उसको पशु की तरह ही काम में ले? पशु और मनुष्य में क्या भेद है? आंखें पशु की भी होती हैं—मनुष्य की भी। कान-नाक आदि सभी इन्द्रियाँ पशु की भी होती हैं और मनुष्य की भी। फिर पशु और मनुष्य में क्या अन्तर है? ऐसी कौन-सी चीज है जिससे दो पैरोंवाला यह जानवर—मनुष्य कहलाता है? मनुष्य का ज्ञान विकसित होता है और उसके सदुपयोग के कारण वह मनुष्य कहलाता है। आज वह उससे अलग होता जा रहा है। क्यों? संगति ऐसी ही ठहरी! जैसी संगति होती है वैसा ही वह स्वयं होता है। बुरी संगति का फल बुरा और अच्छी का अच्छा। एक ही समय में पड़नेवाली पानी की बूंदें संगति के कारण भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त कर लेती हैं। एक बूंद गरम तवे पर पड़ती है और उसी समय वाष्प बनकर अपना अस्तित्व खो देती है। एक बूँद कमलिनी पर पड़ती है, क्या सुन्दर वह लगती है—मोती के तुल्य! मोती तो नहीं बनती पर वैसी ही सुन्दर लगती है। एक बूँद सीप की संगति करती है, मोती का रूप ले लेती है, मोती बन जाती है। क्या कारण है जो एक ही समय एक ही बादल से पड़नेवाली तीन बूँदों की तीन अवस्थाएं होती हैं? संगति में फर्क रहा। अच्छी संगति अच्छा फल, बुरी संगति बुरा फल।

इसी तरह आज मानव को सत्संगति करने का मौका नहीं मिलता। वह परमात्मा और धर्म के साथ सौदा करने लग गया। कुआँ बनाया, जोहड़ बनाया, कुण्ड बनाया, रोटी खिलाई, क्यों? धर्म होगा। धर्म के साथ धन का सौदा! धर्म को धन से खरीदने की हास्यास्पद चेष्टा! और हो भी क्यों नहीं, उपदेश देनेवाले भी 'भज कलदारम' की माला फेरनेवाले मिल जायँ तब? किस तरह आजीविका के लिए प्रपंच चलते हैं। कंठी पहनाई—पाँच रुपये का एक नारियल लिया और कान में एक मंत्र दिया 'कानीया मानीया कुर, तू चेला मैं गुर' और गुरू बन गये। पैसे का गुरु पैसे से धर्म खरीदवा दे, तो क्या बड़ी बात है! और फिर शिष्य लोभी मिल जाय तब तो इससे बढ़ कर धर्म कमाने का सरल रास्ता उसे कौन-सा मिले! इस तरह लोभी गुरु और लालची चेला दोनों दांव-पेंच खेलते हैं। पत्थर की नौका पर बैठ कर समुद्र पार करना चाहते हैं। कैसे पार हों?

गुरु लोभी चेलो लालची, दोनों खेले दाव।
दोनों डूबे बापड़ा, बैठ पत्थर री नाव॥

ऐसे लोभी गुरु जो स्वयं गृहस्थ हैं, घर-बारी हैं, कंचन और कामिनी के फेर में हैं, किसी को तार नहीं सकते। त्यागी सन्तों के सत्संग से जीवन की बुराइयों को निकाल आत्म-उत्थान करो।

रूणिया-सिवरेरां

१७ : जितशत्रु का मोह

जितशत्रु नामक एक राजा था। उसकी रानी का नाम सुकुमाल था। वह 'यथा नाम तथा गुण' की परिचायिका थी। जैसा नाम था वैसी ही वह सुकुमार थी। राजा का उसपर अगाध प्रेम था। इतना प्रेम बढ़ा कि उसने आसक्ति का रूप ले लिया। वह राज-पाट को भूल बैठा। रात-दिन रानी के साथ महलों में रहता। राज-काज का काम मंत्री चलाता।

राजा को न देखकर जनता में अशान्ति फैल गई। लोगों ने एकत्र होकर मंत्री से शिकायत की। मंत्री ने किसी तरह बहाना बनाकर पिण्ड छुड़ाया। वह राजा के पास आया। बोला—"राजन्! जनता तबाह हो रही है। आप के दर्शन के लिए आतुर है। कृपया राजसभा में पधारिये।"

राजा बोला—"मैं राजसभा में आकर क्या करूँगा? तुम तो राज करते ही हो। मुझे पूरा विश्वास है।"

मंत्री असमंजस में पड़ गया—अब क्या किया जाय? जनता कान खींच रही है, राजा जागता ही नहीं। ऐसा राजा किस काम का?

राजमंत्रियों की सभा बुलाई गई। राजा की इस भूल-भुलैया पर विचार किया गया। अन्त में यह तय हुआ—रात्रि में राजा और रानी को जंगल में छोड़ दिया जाय।

अर्द्धरात्रि के अंधेरे में राजा और रानी ढोलिये सहित जंगल में छोड़ दिये गये। थोड़ी देर बाद राजा जगा। चारों ओर देखने लगा—"क्या बात है? मैं कहाँ हूँ? स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ।" रानी को जगाया। वह बोली, "हम कहाँ आ गये, क्या हो गया?" राजा बोला, "जो होना था, हो गया।" रानी बोली,—"अब कहाँ चलें, चलो वापस लौट चलें।" राजा ने कहा—"अब वहाँ फूल नहीं है, जूतेवाले हैं।

चलो आगे चलें।" रानी ने कहा,—"यह कीमती ढोलिया!" राजा ने कहा—'राज ही गया तो ढोलिये का फिर क्या करना है।"

राजा-रानी आगे बढ़े। थोड़ी दूर चले होंगे, रानी को प्यास लग गई। राजा न सोच सका,—"पानी कहाँ से आए।" अपना खून पिलाकर प्यास शान्त की। लड़ाई झगड़े में तो कह दिया जाता है, "मेरा खून पी गई।" पता नहीं दानवी थी या मानवी? राजा ने नाना प्रकार की तकलीफें उठाई पर रानी को गर्म फूंक भी न लगने दी। थोड़ी दूर चलने के बाद रानी को भूख लग गई। जंगल में भोजन कहां से आये? राजा ने अपनी जांघ चीर कर मांस खिलाया, रानी की भूख शान्त हुई।

इस तरह चलते-चलते एक नगर आया। दोनों किराए में एक मकान लेकर रहने लगे। रानी का गहना बेचकर कुछ दिन काम चला। आखिर इस तरह कबतक काम चलेगा? राजा नौकरी के लिए एक सेठ के पास आया। सेठ ने उसका नाम-ठांव पूछना चाहा। राजा बोला,—"मेरे पुराने इतिहास को छोड़िये—काम करने के लिये तैयार हूँ।" सेठ ने राजा को रख लिया। राजा आराम से रहा हुआ था, यहाँ कठोर मेहनत करनी पड़ती थी और ऊपर से तीखे तीर सहने पड़ते थे। पेट पापी था; पर रानी को तकलीफ नहीं दी। राजा सुबह काम पर जाता और रात्रि के दस बजे घर लौटता।

एक दिन रानी बोली "वहां तो पास में दासियाँ रहती थी, आप भी रहते थे। यहाँ दिन नहीं कटते। आप तो काम कर दिन काट लेते हैं मैं क्या करूँ?"

शहर में एक गवैया आया। बड़ी मीठी तान में वह गाता था। जब वह गाता हजारों व्यक्ति सुनने के लिए कान उधर कर देते। सब कुछ ठीक होते हुए भी वह पंगु था। राजा ने भी उसे देखा। सोचा इसे अपने घर रख लिया जाय। गाने सुनायेगा। रानी के दिन भी कट जाएँगे। राजा उसे अपने घर ले गया। रानी से बोला,—"तेरे लिए खिलौना लाया हूँ।"

राजा, रानी और गवैया तीनों रहने लगे। शास्त्रों में ऐसा आया है चाहे छोटी बच्ची हो या १०० वर्ष की वृद्धा, जिसकी इन्द्रियाँ कुंठित भी क्यों न हो गई हों, उसके साथ पुरुष को न रहना चाहिए। गवैया और रानी दिन भर अकेले घर पर रहते। राजा रात्रि में घर आता। गवैये ने बहुत मधुर-मधुर गाने गा-गाकर रानी को प्रसन्न कर लिया और उसकी यह प्रसन्नता आपसी अनुचित सम्बन्ध में परिणत हो गई। दुनिया के सम्बन्ध ऐसे ही हैं। उस रानी ने, जिसके लिए राजा जान देने को तैयार रहता था, अपना सर्वस्व एक पंगु को अर्पित कर दिया।

कई दिन अन्दर-अन्दर यह सम्बन्ध पलता रहा। एक दिन गवैया बोला,—"राजा को पता चल गया तो जान से मार देगा।" रानी बोली, "मैं राजा का ही काम समाप्त कर दूँगी।"

फाल्गुन का महीना था। रानी ने राजा के सम्मुख प्रस्ताव रखा, "आज जलक्रीड़ा करने नदी चलें।" प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। रानी मन ही मन खुश हो रही थी। आज मैं राजा से हमेशा के लिए मुक्त हो जाऊँगी। मुझे कोई कहनेवाला नहीं रहेगा। रानी ने राजा को पानी में कुछ आगे चलने के लिए कहा। राजा निष्कपट था। वह रानी के लिए जान देने को तैयार था। पानी कुछ गहरा आने पर रानी ने धक्का दे मारा। राजा पानी की तेज धार में बह गया पर उसके हाथ एक तख्ता लग गया और आगे जाकर किसी तरह तट सतह पर आ गया। पास एक नगर था उसके बाहर बैठ वह विश्राम करने लगा।

किसी किसी व्यक्ति के संसर्ग से बुरे दिन आ जाते हैं पर ज्यों ही साथ छूटता है, अच्छे दिन भी लौट आया करते हैं। रानी के संयोग से राजा की ऐसी हालत बनी थी। अब न रानी साथ थी और न बुरी हालत ही। अच्छे दिन आ गये थे। शहर का राजा मर चुका था। आल-औलाद कुछ नहीं था। हथिनी को माला देकर छोड़ दिया। जिसके गले में माला पड़ेगी वही राजा होगा। आगे हथिनी चल रही थी और पीछे-पीछे राजमन्त्री अपने कर्मचारियों सहित चल रहा था लोग हथिनी के आगे सिर झुकाते। शायद माला गले में डाल दे। सारे शहर का चक्कर काट हथिनी बाहर आ चुकी थी। वह राजा के आगे आकर रुकी और दूसरे ही क्षण माला राजा के गले में थी। प्रतिद्वन्द्वियों ने ईर्ष्या भरी दृष्टि से राजा को देखा? कहाँ का व्यक्ति है जिसके गले में माला पड़ गयी है। राजमंत्री ने राजा का नाम-ठाम पूछा—राजा ने बताया—जितशत्रु! मंत्री दंग रह गया —आप हैं जितशत्रु जिन्होंने रानी के कारण राज गवाँया। राजा ने कहा, "हां मैं वहीं हूँ।" मंत्री ने पूछा अब रानी कहाँ है? मद्य तो अब नहीं पीते हो।" राजा ने कहा "न तो अब रानी है और मद्य तो क्या तम्बाकू भी अब नहीं पीता हूँ।" राजा राजा बन गया। अच्छी तरह राज करने लगा।

उधर रानी और गवैया कुछ दिन तो रहे पर गुजारा कैसे चले? खाएँ क्या? पास में कुछ था नहीं। नये बालम पंगु ठहरे—कमाएँ कैसे?

"वाह मेरे सपटसपाट, हूं तने चाटूं तु मने चाट" वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी।

रानी ने गवैये से कमाने के लिये कहा। गवैया बोला "मैं कैसे चलूँ, सिर पर चढ़ा ले। मैं गाऊँगा, पैसे आएँगे उनसे काम चल जायेगा।" इस तरह वह रानी

एक भारी भरकम पंगु व्यक्ति को कन्धे उठाए फिरने लगी। अपने सतीत्व की दुहाई देती। कहती —"क्या करूँ मेरे माता-पिता ने इनके साथ सम्बन्ध कर दिया, अब जो कुछ हैं मेरे तो यही हैं।

लोग खूब रुपये देते—एक तो गवैया दूसरे साथ में सती स्त्री!

इस तरह घूमते-घामते पेट पालते वे उस नगरी में पहुँचे जहाँ राजा जितशत्रु राज्य करता था। शहर में हवा की तरह बात फैल गई कि एक गवैया आया है। बड़ा सुन्दर गाता है। उसके साथ सती है। राजा ने सोचा, कहीं रानी और गवैया वे ही तो नहीं हैं।

राजा ने गवैये को आमंत्रित किया। गवैया आया, गाना गाया। लोगों ने बहुत पसन्द किया। दोनों सोच रहे थे आज दरिद्रता दूर हो जायेगी। रानी ने सतीत्व का बखान किया। राजा ने पूछा "तुम्हारा विवाह इसके साथ कब हुआ? अब तो औरत स्वयंवर भी कर सकती है।" रानी ने कहा "मेरी शादी १३-१४ वर्ष की उम्र में कर दी गई। स्त्री की जाति ठहरी, कौन देखे? माता-पिता को धन चाहिये।"

राजा ने सोचा, कितना कपट करती है। यह तो मेरी वही पुरानी रानी है। वह बोला "एक पति तुम्हारा वह भी था जिसने रक्त और मांस से तेरी भूख-प्यास मिटाई थी जिसको तुमने नदी में धकेल दिया था।" रानी ने टकटकी लगा कर देखा अपने पूर्व पति को महाराजा के रूप में। उसके नीचे की जमीन गायब-सी मालूम पड़ी। राजा ने विचारा—"स्त्री जाति है क्या सजा दूँ? उसने अपने सेवकों को आदेश दिया कि वे इन्हें राज्य के बाहर छोड़ आएँ और कभी भी इन्हें राज्य में प्रवेश नहीं करने दिया जाय। खबरदार!!

राजा को वैराग्य उत्पन्न हो गया और साधु बन कर अपना कल्याण करने लगा। भव्य जीवो! तुम भी चेतो। मोह के बन्धनों में अँधे मत बनो।

१८ : अणुव्रत का महत्व

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मईमं पडिलेहिया।
सव्वे अकन्त दुक्खाय, अओ सव्वे नहिंसया॥
सूत्र कृतांग १-११-९

सब प्रकार की युक्तियों से बुद्धिमान अन्वेषण करें, विचारें तो वे जानेंगे सबको दुःख अप्रिय है। जब ऐसी बात है तब वह किसी की हिंसा न करे, किसी को न सताए। अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही सब धर्मों का सार है। धर्म के किये जाने वाले अन्य सभी भेदोपभेद अहिंसा के पोषक हैं। प्रश्न हो सकता है—अहिंसा पर आज ही इतना जोर क्यों दिया जाता है। अहिंसा की महिमा सदा से गायी जाती है, उसको अपनाने के लिए दी जानेवाली प्रेरणा भी कोई नई नहीं; किन्तु यह मानी हुई चीज है कि भूख और प्यास के समय अन्न और पानी की बहुत बड़ी कीमत होती है। पेट भर जाने के बाद अन्न और पानी को कोई याद नहीं करता। आज का जीवन हिंसा से जर्जरित है, हिंसा के थपेड़ों से क्षत-विक्षत है। आज का मानव इसीलिए अहिंसा को आशाभरी दृष्टि से देखता है। अतएव आज के समय में अहिंसा का उपदेश भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आज का मानव अपनी मानवता खो बैठा है, मानवीय आदर्शों की अमूल्य संपत्ति उसके हाथों से निकल गई है। देहली चातुर्मास में १५ अगस्त के दिन मैंने यह आशा व्यक्त की थी "क्या मानव अपनी मानवता को फिर से प्राप्त करेंगे?"

मनुष्य को हताश नहीं होना चाहिए, हीनतावादी नहीं बनना चाहिए। निराशा में उन्नति संभव नहीं। आजकल प्रायः लोग कहा करते हैं कि हमारा पतन हो गया। उनको सोचना चाहिए—दुनिया में आज भी अहिंसक हैं, जो राग-द्वेष से परे हैं, अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में समभाव रखते हैं। आज ऐसे अनेकों गृहस्थ हैं जिन्होंने अपने जीवन की प्रवृत्ति में ब्लैक का व्यवहार नहीं किया, व्यापार के लेन-देन में उसे व्यवहृत नहीं किया, यहां तक कि खाद्य-सामग्री को भी ब्लैक से नहीं खरीदा। आज भी ब्रह्मचारी हैं, सत्यवादी हैं, स्वावलम्बन से अपना जीवन-यापन करनेवाले हैं। यह अवश्य है, अच्छाइयों की अपेक्षा बुराइयों का पलड़ा भारी है, अतः बुराइयों की ओर, पतन की ओर, ध्यान जाना भी स्वाभाविक है। किन्तु सिर्फ पतन की आवाज लगाने से क्या होगा? प्रतिकूल स्थिति के समय आवश्यकता होती है उसके खिलाफ जिहाद बुलन्द करने की, सच्चा कदम उठाने की। धैर्य के साथ प्रयास किए बिना प्रतिकूल स्थिति दूर भी कैसे हो सकती है? विरोधी स्थिति में कायल बन जाने वाले दुनियाँ में कर भी क्या सकते हैं? महाराज रामचन्द्रजी का उदाहरण हमारे सामने है।

वे वनवासी थे, जीवन संगिनी सीता का अपहरण हो चुका था। उस स्थिति में उस लंका को जीतना था, जिसके बारे में कहा जाता है—'चारों तरफ तलवारों का पहरा रहता था। रास्ते में भयंकर समुद्र पार करना पड़ता था, और शत्रु था वह दशमुखवाला रावण। संग्राम-भूमि में बन्दर ही सिर्फ सहायक थे, फिर भी एक राम ने सारे राक्षस-कुल का नाश कर दिया। इसलिए एक संस्कृत कवि ने लिखा है :

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिः।
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येकोरामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं ॥
क्रियासिद्धिः सत्त्वे, वसति महतां नोपकरणे ॥

अर्थात् महापुरुषों की कार्यसिद्धि उनके पुरुषार्थ में ही रहती है—वे बाहरी उपकरणों की, सामग्रियों की अपेक्षा नहीं रखते।

आशावाद में सफलता रहती है। धैर्य उन्नति का प्रतीक है। विशेष आशा तथा धैर्य को लेकर ही साधुओं का यह नैतिक आन्दोलन सतत जारी रहता है। लोग कहते हैं—"महाराज ! आपको क्या आवश्यकता है इन नैतिक आन्दोलनों की ? आप अपनी साधना करें। समाज के उत्थान और पतन से आपको क्या मतलब है ?" ऐसा कहनेवाले भूल करते हैं। समाज की अन्य स्थितियों से हमारा कोई सम्पर्क नहीं; किन्तु जहाँ तक नैतिकता तथा सदाचार के प्रसार का प्रश्न है उस आधार पर हमारा समाज से पूरा सम्बन्ध है। जैन-शास्त्रों में चार प्रकार के मनुष्य बतलाए गए हैं। हमारा समावेश तीसरे प्रकार में होता है। अर्थात् हम उभयानुकम्पी हैं। हमारी दलाली बड़ी विचित्र है। माल बिके या न बिके, हमें तो हमारी दलाली मिल ही जाती है। खुद तरना और लोगों को तारना हमारा कार्य है। हमें पुरुषार्थ करना है, नैतिकता का प्रसार करना है लोग चाहे उसका उपयोग करें या न करें।

नसर्वतिधर्मः श्रोतुर्वक्तुस्त्वेकान्तहित श्रवणात्।
बुवतोनुग्रह बुद्धय्यावक्तुस्त्वेकान्त भवति ॥

अर्थात्—हित श्रवण से श्रोता को एकान्ततः धर्म नहीं होता। अनुग्रह बुद्धि से बोलने वाले वक्ता को तो एकान्ततः धर्म होता है। साधारणतया दुनिया में माल बिकने पर ही दलाली मिलती है, किन्तु हमारे लिए यह चीज लागू नहीं है। उपदेशों का स्थायी असर होता है या नहीं, यह भी एक प्रश्न रहता है। उपदेशों के प्रभाव में कोई सन्देह नहीं; किन्तु स्थिति यह है कि उपदेश घण्टा डेढ़ घण्टा सुना जाता है और दिन के बाकी २२-२३ घण्टे बिताये जाते हैं दुनियादारी में। आज की दुनियादारी कितनी गन्दी है यह बतलाने की जरूरत नहीं। सभी जानते हैं। उस स्थिति में लोग अपने मानस

की कमजोरियों के कारण अपने आपको उन स्थितियों से नहीं बचा सकते। उपदेशक का सबसे बड़ा असर तो यह होना है कि लोगों का दृष्टिकोण शुद्ध होता है। हमारे आदि गुरु भिक्षु स्वामीजी ने दृष्टिकोण की शुद्धि पर बहुत जोर दिया है। मनुष्य अपनी कमजोरियों के कारण कुछ करता है किन्तु बुरे को अच्छा समझ लेना दोहरी भूल होती है। दृष्टिकोण की विशुद्धता को जैन-दर्शन में सम्यक्त्व के नाम से पुकारा गया है। दृष्टिकोण की अशुद्धता मिथ्यात्व है, जो आत्म विकास में बहुत बड़ा बाधक है। बुरे को बुरा समझनेवाला व्यक्ति क्रमशः उस बुराई को छोड़ सकता है, किन्तु बुरे को अच्छा समझने की दोहरी भूल करनेवाला व्यक्ति बुराई के पंजे से मुक्त नहीं हो सकता। कहा गया है :

पठितव्यं सोऽपिमर्तव्यं
अपठितव्यं सोऽपि मर्तव्यं
दन्तकटा कट किं कर्त्तव्यं

यह दृष्टि की भूल है। खुद नहीं पढ़ सकते, किन्तु इस प्रकार कहना पढ़ाई की विडम्बना करना है जो शोभाप्रद नहीं।

अणुव्रती संघ की स्थापना

इसका उद्देश्य आज के जन-जीवन की बुराइयों की ओर दृष्टिपात करना है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और लोभ इन पाँचों में सबका समावेश भी हो गया किन्तु आज के मानव इस प्रकार समझनेवाले तो नहीं हैं जब चिलम का निषेध किया जाता है तो वे सिगरेट की मनाही नहीं समझते। अर्थात् बुराइयों का अलग-अलग विश्लेषण करने की आवश्यकता हो जाती है। अणुव्रत नियमों में ८४ बुराइयों का संकलन है तथा प्रत्येक मनुष्य को उनसे दूर रहने के लिए कहा गया है। चौरासी का चक्कर सभी जानते हैं। नियम भी ८४ ही हैं। बुराइयों के संकलन में आजकल की मौजूदा बुराइयों का विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया है। संघ से और कोई मतलब नहीं है, जो लोग इन नियमों को—अणुव्रतों को पालते हैं उनके समूह का ही नाम 'अणुव्रती-संघ' है। 'अणुव्रती संघ' एक असाम्प्रदायिक कदम है। जो कोई भी व्यक्ति इन बुराइयों से बचकर अपना नियमित जीवन बिताना चाहता है, वह बिना किसी जाति, वर्ग तथा धर्म के भेद-भाव से इस संघ का सदस्य हो सकता है। आचार्य विनोबा भावे से जब अणुव्रतों के बारे में बातें हुईं तो उन्होंने कहा—"आपने महाव्रत और अणुव्रत के रूप में धर्म के दो विभाग क्यों कर दिये?" मैंने कहा—"कोई अलग विभाग नहीं है ; किन्तु एक ही चीज के दो रूप हैं, पूर्ण और अपूर्ण। साधारण आदमी आदर्श की पूर्ण उपासना नहीं कर सकते। इसका मतलब यह

तो नहीं कि आदर्श उनके लिए अव्यावहारिक हो जाता है। इसलिए उनके लिए अपूर्ण आदर्श का मार्ग है। अपने जीवन में क्रमशः पूर्णता लाएँ।" मेरे इतना कहने के साथ ही विनोबा जी ने कहा—"अच्छा, मैं समझ गया। यह मानवता की न्यूनतम मर्यादा है।" अणुबम के युग में अणुव्रत और ज्यादा उपयोगी है। अणुबम विध्वंसक है। अणुव्रत में निर्माण है। विध्वंस में अशान्ति है, दुःख है। यह तो सभी जानते हैं। अणुव्रत योजना में सम्मिलित होने के लिए १२ महीनों की साधना करनी होती है जिसमें व्यक्ति अपने आप को अच्छी तरह से तोल लेता है।

१९ : वाणी की महत्ता

शब्द दो प्रकार के होते हैं—भाषा-शब्द और नो-भाषा शब्द। भाषा-शब्द वे हैं जो भाषा-रूप में बोले जाते हैं और नो-भाषा शब्द जैसे बिजली की गड़गड़ाहट आदि नाना प्रकार के शब्द।

कैसी सुन्दर रचना है! व्यक्ति बोलता है, सुनता है, देखता है और गंध लेता है। इसके लिये अलग-अलग स्थान निर्मित हैं। रेडियो का बटन दबाया और विभिन्न स्टेशनों से बोलने लग जाता है। इसी तरह आँख से देखता है। थोड़ी दूरी से कानों से सुनता है और नाक से गन्ध लेता है। मुँह से शब्द बोलता है। ताज्जुब यह है कि यह सब करनेवाला एक ही है और वह है, आत्मा। ऐसा कभी नहीं होता कि कोई मुँह से सुन ले और कान से बोल ले।

शब्द में ऐसी शक्ति है कि एक शब्द अच्छा लगता है, दूसरा अच्छा नहीं लगता। कोयल मृदु भाषा में बोलती है, लोगों की इच्छा होती है—एक मरतबा और बोले। काक बोलता है, अप्रिय लगता है। उसे भगा दिया जाता है। क्यों? एक की बोली मृदु है, प्रिय लगती है; दूसरे की नहीं लगती। पक्षियों की बात छोड़िए। मनुष्य को लीजिये। वह एक समय बोलता है, अच्छा लगता है; दूसरी बार वहीं बुरा लगने लगता है, जबकि वह मुँह से अश्लील और गन्दा बोलता है। बोली ही ऐसी है जो टूटे दिलों को मिला देती है और मिले दिलों को अलग कर देती है। बोली विश्वास जमा देती है, बोली ही संदेह पैदा कर देती है। बोली में खार है और बोली में ही प्यार है। बोली से ही जब राक्षस-तुल्य विभीषण रावण से सम्बन्ध तोड़कर राम के पास आ रहे थे, सुग्रीव ने राम से कहा—"महाराज! सावधान रहिए। यह राक्षस कौम है—छल प्रपंची है। कहीं रावण का गुप्तचर होकर सारा काम चौपट न कर दे।" राम विभीषण से मिले और उससे पूर्व उनकी आँखें आपस में मिलीं। राम ने समझा, आँखों में खार नहीं, प्यार है; शत्रुता नहीं, मित्रता और जब उन्होंने सारी बातें बताईं तो राम के दिल में पूर्ण विश्वास पैदा हो गया। उन्होंने उसी समय प्रेमवश कह दिया—"विभीषण!

तुम्हें लंका का राज्य मिलेगा।" उस समय उनकी लंका थी कहाँ? वहाँ तो अभी रावण ही राज्य करता था। जीतने से पूर्व वचन दे देना साहस का परिचय था और परिणाम था मृदु वचन का जिसने राम के दिल में विश्वास पैदा कर दिया।

मेरे कहने का तात्पर्य है कि शब्दवाणी में ऐसी शक्ति है जो घर को स्वर्ग बना सकती है और अप्रिय वातावरण भी पैदा कर सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह कटुता को छोड़े और फिर देखिए सास-बहुओं के, भाई-भाई के, पिता-पुत्र के बीच होनेवाले आज के आपसी वैमनस्य कहाँ टिक सकते हैं? चारों ओर एक मैत्रीपूर्ण वातावरण नजर आयेगा। और सबसे बड़ी बात यह होगी कि व्यक्ति में बसनेवाला भूत, क्रोध जो कि सभी बुराइयों का मूल है, विदा हो जायगा और मानव आत्मिक शान्ति की अनुभूति पाएगा।

कालू
१७ फरवरी '५३ (प्रातःकालीन प्रवचन से)

२० : शब्द की उत्पत्ति

शब्द कैसे उत्पन्न होते हैं, इस पर दार्शनिकों के नाना मत हैं। कई दार्शनिक इसे आकाश का गुण मानते हैं, अन्य दार्शनिकों की भी अपनी-अपनी धारणाएँ हैं। जैन-दर्शन बतलाता है कि पुद्गलों के मिलन और बिछुड़न से शब्द उत्पन्न होता है। पुद्गल किसे कहते हैं, यह जान लेना भी जरूरी है। वे सब पदार्थ जो रूपवान हैं, जिनमें वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श हैं, पुद्गल कहलाते हैं। बिना पुद्गल के सांसारिक आत्मा का कार्य नहीं चलता। इंजन के लिये जिस प्रकार कोयला और पानी अत्यावश्यक है, आत्मा के लिए पुद्गल भी आवश्यक हैं। मनुष्य का शरीर और उसका खान-पान सब पुद्गलों का ही होता है।

पुद्गल के दो भेद हैं—पहला परमाणु और दूसरा स्कंध। परमाणु छोटा से छोटा पुद्गल है और स्कंध दो या दो से अधिक परमाणुओं के मिलने से होता है।

जब पुद्गल आपस में मिलते या बिछुड़ते हैं—उनका विघटन होता है—शब्द उत्पन्न होता है। जैसे दोनों हाथों के टकराने से ताली बजती है—वहाँ उनका आपस में मिलन होता है। इसी प्रकार लकड़ी तोड़ी जाती है तो शब्द होता है—यहाँ पुद्गलों का विघटन होता है। इसी तरह जब हम बोलते हैं तब पुद्गलों का मिलन-विघटन होता रहता है और शब्द उत्पन्न होते रहते हैं।

कालू,
१८ फरवरी '५३

२१ : अच्छाइयाँ किससे और कैसे सीखें ?

प्रश्न है कि व्यक्ति अच्छाइयां अपनाना किससे और कैसे सीखे ? अच्छाई अच्छे लोगों से सीखी जा सकती है और बुरे से भी। सद्गुण संत से भी सीखे जा सकते हैं और दुर्जन से भी। जिस गुण से व्यक्ति बुरा कहलाता है—बेवकूफ कहलाता है तुम उसे छोड़ते जाओ। बस तुम अच्छे बन जाओगे।

कालू
१८ फरवरी '५३

२२ : भक्ति में शक्ति है

आज कालू में यह क्या हो रहा है ? यहाँ इतने व्यक्ति क्यों एकत्रित हुए हैं। एक मेले का रूप ले लिया है इस विशाल 'टाडे' ने। एक लड़की दीक्षा लेने जा रही है—सती होने जा रही है। इतिहास में पढ़ा जाता है, लोगों से सुना जाता है कि पुराने समय में महिलाएँ पति के साथ जलकर सती हो जाती थीं। पर यहाँ मरकर सती नहीं हुआ जाता, जीते जी सती हुआ जाता है।

लोग कहेंगे—यह बालिका सती क्यों होती है ? जब कि एक ६० वर्ष का बुड्ढा जिसके मुँह में दांत नहीं, खोपरे की भाँति मुँह, सिर के बाल लरड़िये (भेड़) की तरह सफेद हो गए हैं उसे माला फेरने के लिए कहने पर जवाब मिलता है—"मुझे मारने की बात सोची है क्या ? अभी तो मैं एक विवाह और करूँगा।" ऐसी हालत में यह लड़की कहती है—"नहीं, नहीं, मैं विवाह नहीं करूँगी।" जब कि व्यक्ति हाय धन ! हाय धन !! करता है, यह धन को धूल के समान समझती है। जब कि आज कपड़ा पर कपड़ा ओढ़ने से भी जाड़ा नहीं मिटता यह इन परिमित कपड़ों से काम चलायेगी। जेठ-असाढ़ की वह गरमी जब जमीन अंगारों की तरह लहक उठती है और जिसपर मजबूत से मजबूत जूते पहनकर चलना भी मुश्किल होता है, ऐसे दुर्द्धर्ष पहर में आज का व्यक्ति घर में हाथ से भरकर पानी का लोटा भी नहीं पी सकता, यह अपने कन्धों पर १०-१० सेर वजन रखकर ५-५, ७-७ कोसों का पैदल विहार करेगी। यह सब यह क्यों करेगी ? और इस छोटी उम्र में सती क्यों होती है ? इसका एकमात्र कारण है भक्ति ! भक्ति में शक्ति है। भक्ति उत्पन्न होने से व्यक्ति इन सांसारिक झंझटों से मुक्ति चाहता है। इतिहास इसका साक्षी है। प्रह्लाद, ध्रुव और शुकदेव बाल्यकाल में ही सन्यासी हो गये थे। वर्तमान में भी ये छोटे-छोटे साधु प्रह्लाद और ध्रुव की याद ताजी कर रहे हैं। ये सब धर्म-भक्ति के ही कारण संभव हो पाते हैं।

भाइयो! आज जब कि यह लड़की सती होने जा रही है—पाँच महाव्रत—अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपना रही है, तुम लोगों को भी इससे सबक लेना चाहिये। अपनी बुराइयों को निकालकर जीवन-पथ प्रशस्त करना चाहिए। इनके लिए अणुव्रत योजना के ८५ नियम तथा ११ नियम भी उस दिन बताये गए थे। उन्हें अपना कर तुम लोगों को अपना जीवन नैतिकता से परिपूर्ण बनाना चाहिए।

कानोड़

१९ फरवरी '५३ (दीक्षान्त भाषण)

२३ : छात्र आत्मसंयमी और सदाचारी बनें

विश्व की प्रमुख शक्तियों में छात्र-शक्ति भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। आज जो ये छोटे २ बच्चे दीखते हैं वे कल के नौजवान होंगे, इनके कन्धों पर ही युग का भार होगा। ये छात्र ही आगे चलकर व्यापारी, कृषक, मजदूर, डाक्टर, एडीटर ऑडिटर आदि बनेंगे। कहने का तात्पर्य है कि भविष्य की नैया के खेवनहार ये ही हैं। अतः इनका सुधार भविष्य का सुधार है। वर्तमान बुराइयों को नष्ट करने का एक क्रान्तिकारी कदम है।

छात्र अभी से जाति-पांति के झमेले में न पड़ें, ऊँच नीच की भावना न रखें। व्यर्थ की घृणा भरी भावना रखना, नीच कहकर किसी का तिरस्कार करना या दिल दुखाना ठीक नहीं। जब तुम किसी भी तरह का दुःख नहीं चाहते, अप्रिय शब्द तुम्हें अच्छे नहीं लगते तो तुम्हें चाहिए कि तुम भी किसी को दुःख न पहुंचाओ, अप्रिय शब्द न कहो; क्योंकि इनसे उसे भी वैसा ही दुःख होता है जैसा तुम्हें होता है। कहने का तात्पर्य है कि सबको आत्म-तुल्य समझो। अहिंसक बनो। झूठ बोलना, चोरी करना आदि दुर्गुणों को त्याग दो और धर्म की ओर रुचि बढ़ाओ। धर्म कौन सा? अहिंसा असत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। छात्र-छात्र में यह सिद्धान्त रहे कि वे इन्हें अपनाएँ। वे अपने माता पिता को स्पष्ट कह दें—"यदि आप ब्लैक करते हैं तो हम आपकी कमाई की एक कौड़ी नहीं खाएँगे। यदि आप मिथ्याचार से पैसा कमाते हैं तो हमें वे पैसे नहीं चाहिए। यदि आप धूम्रपान करते हैं या अन्य अवगुणों में फँसते हैं तो हमारे प्रति गद्दारी करते हैं, आप हमारा भविष्य अन्धकारमय बनाते हैं। और यदि आप इनको नहीं छोड़ेंगे तो हम इसका भी इलाज कर लेंगे।" मैं नहीं कहता कि छात्र उच्छृंखल बन जाएँ, उनके लिए उद्दण्डता अपनाएँ। यह इसका सही इलाज नहीं। वे अपनी आत्मा पर संयम रखते हुए उन अवगुणों को छोड़ने के लिये अपने माता-पिताको

संकेत करें। छात्र क्या नहीं कर सकते? वे सब कुछ कर सकते हैं। जो छात्र स्वातंत्र्य-संग्राम में इतना बलिदान कर चुके हैं; क्या वे आत्मसंयम कर अपने माता-पिता को ठीक रास्ता नहीं दिखला सकेंगे? जो छात्र अपने देश को आजाद करने के लिए बलिदान हो सकते हैं, वे आत्म-संयम रखते हुए अपने घर की, अपने परिवार की बुराइयों को भी दूर कर सकते हैं। मैं फिर कहूँगा कि छात्र सदाचारी बनें और उन दोषों को कभी न अपनाएँ, जिनसे आज का जन-जीवन दुर्वह भार बना हुआ है।

कालू

२० फरवरी '५३ (छात्र-सम्मेलन)

२४ : महावीर के चरण चिह्न

अनुस्रोत में चलना आसान है। दुनिया अनुस्रोत में चलती है। ऐसे समय में विवेकी जन प्रतिस्रोत में चलें। प्रतिस्रोत में चलना कठिन अवश्य होगा पर उसका भविष्य अच्छा होगा। अनुस्रोत में आसानी से बहने वाला समुद्र में जाकर हमेशा के लिए समा जायेगा। प्रतिस्रोत में चलने से कठिनाई अवश्य होगी पर वह उस धारा से छुटकारा पा जायेगा जिसके अनुस्रोत में बहने से समुद्र में समाया जा सकता है। भगवान् महावीर स्वयं प्रतिस्रोतगामी हुए और उन्होंने प्रतिस्रोत में चलने का पाठ पढ़ाया। आज उन्हीं भगवान् महावीर की जयन्ती मनाई जा रही है। जयन्ती की अपेक्षा दीक्षा-दिवस, बोधि-दिवस और निर्वाण-दिवस का विशेष महत्त्व रहता है। जन्म के सामने जीवन का सारा भविष्य रहता है और निर्वाण के दिन सारा भविष्य अतीत हो जाता है। पर महापुरुषों के जन्म-दिन का भी महत्त्व होता है।

भगवान् महावीर ने दुनिया को अहिंसा का पाठ पढ़ाया। उस समय लोग धर्म के नाम पर हिंसा करने लगे थे। वे भूल बैठे थे विवेक को और उन्होंने समझ लिया था, धर्म के लिए हिंसा करना भी जायज है। ऐसे समय में भगवान् महावीर ने सही अहिंसा का सिंहनाद किया। उन्होंने कहा—"सबको आत्म-तुल्य समझो। किसी के बीच ऊँच-नीच की भेद-रेखा मत खींचो। जैसी तुम्हारी आत्मा है, वैसी अन्य की भी, अतः किसीको भी दुःख मत दो।" यह था अहिंसा का पाठ जो भगवान ने दुनिया को सिखाया। सिर्फ सिखाया ही नहीं, इससे पूर्व जीवन में उतारा, पूर्णरूपेण अपनाया। उन्होंने १२॥ वर्ष तप किये, नाना प्रकार के उपसर्गों को सहा और दुनिया को दिखाया कि अहिंसा के पथ पर बढ़ने में कितने ही कष्ट क्यों न आएँ उनका हिंसामय मुकाबला मत करो। यहाँ तक कि भगवान् के एक कुशिष्य गोशालक ने भगवान् के सामने उनके दो शिष्यों को भस्मीभूत कर दिया, यही नहीं उसने अपने तेज

और तेजोलेश्या का भगवान् पर भी प्रयोग किया पर उन्होंने मन में किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं लाई। यह था उनके पूर्ण अहिंसक होने का अनुपम उदाहरण। भगवान् महावीर की अहिंसा, दया और दान को समझना और उसे अपने जीवन में उतारना बच्चों का खेल नहीं। साधारण शिष्टाचार और सामाजिक कार्यों को अहिंसा, दया और दान में घुसेड़ देना मामूली-सी बात है पर उसके सही स्वरूप को समझना और जीवन में उतारना बड़ा कठिन है।

मैत्री-भाव बना रहे इसलिये भगवान् महावीर ने स्याद्वाद का आविष्कार किया। उन्होंने बताया, "एक वस्तु में समानता और असमानता दोनों विद्यमान हैं। सिर्फ समानता या सिर्फ असमानता को लेकर चलने से सही तत्त्व की जानकारी नहीं होती। दोनों को दृष्टिगत रख कर ही सही तत्त्व को जाना जा सकता है। एक हाथ से बिलोना होता नहीं और मक्खन मिलता नहीं। दोनों हाथ चलाने पर ही यह काम बन सकता है। यदि व्यक्ति असमानता की ओर ध्यान देगा तो उसे असमानता ही असमानता दृष्टिगत होगी। यदि वह समानता को दृष्टिगत रखेगा तो उसे समानता ही समानता दीखेगी।

यदि आपको धर्म का गौरव है तो कैंची का काम मत करिए। सुई का काम करिए। धर्म काटता नहीं—अलग-अलग नहीं करता; वह जोड़ता है—मिलाता है। समन्वय का पाठ न सिखाकर एकता के लिए डींग हाँकना सिर्फ डींग हांकना है; उससे कुछ होनेवाला नहीं। आज भगवान् महावीर की जयन्ती है; लोग इस अवसर पर ऐसी अपील करते हैं कि मैत्री बढ़े पर वे इसके लिए क्या करते हैं? यह आवाज बाहर की न होकर अन्तर की आवाज होनी चाहिए। मैत्री इस तरह बढ़नी चाहिए कि पत्थर भी पिघल जाय। पर वह बढ़े कैसे? कांसे के बर्तन की हिम्मत नहीं कि वह अपने में सिंहनी का दूध टिका सके। ज्यों ही दूध की धार पड़ेगी वह फूट जायगा। उसके दूध के लिए सोने का बर्तन चाहिए; उसी में वह ठहर सकता है—टिक सकता है। अतः अपने आपको इस योग्य बनाइये कि महावीर के उपदेशामृत रूपी दूध को टिकाया जा सके—अपनाया जा सके। इसके लिए सर्व प्रथम साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, ओछी वृत्तियों को छोड़िए और विशाल बनिए। यदि यह मल अन्दर रहा तो कोई भी दवा काम नहीं कर सकेगी। पेट ही खराब रहेगा तो दवा क्या कर सकेगी? इस योग्य बनकर भगवान् की वाणी के अनुकूल अपने जीवन को बनाइए इसी में जयन्ती की और अपने जीवन की सार्थकता है।

बीकानेर
२८ फरवरी '५३

२५ : विशुद्धि के स्थान

आज विश्व अशान्ति और दुःखों की भट्ठी में जल रहा है। आज का जन-जीवन निश्चेतन हो गया है। वह नाना बुराइयों से भरा पड़ा है। उसका विशुद्धिकरण अत्यावश्यक है।

लज्जा दया संजम बम्भचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं

अर्थात् लज्जा, दया, संयम, और ब्रह्मचर्य ये चार कल्याण चाहनेवाले के लिए विशुद्धि के स्थान हैं।

लज्जा

प्रत्येक व्यक्ति को लज्जा रखनी चाहिए। लोग कहेंगे हमारे यहाँ तो इतनी लज्जा रखी जाती है कि औरतें पर-पुरुष के सामने मुँह तक नहीं खोलतीं। वे अवगुंठन भी रखती हैं। मेरा इस लज्जा का न तो विरोध है और न समर्थन ही। लज्जा ऐसी होनी चाहिए जिससे आत्मोत्थान हो। आज लोगों को इसके लिए समय नहीं या वे इस ओर ध्यान नहीं देते। जब भी कहा जाय—"फुरसत नहीं।" पर याद रखो—तुम करोगे तब ही सृष्टि का कार्य चलेगा, ऐसी बात नहीं है। यह कार्य यों ही चलता रहेगा और उस समय तक यह कार्य बना रहेगा जब तक जिन्दा रहोगे। समय रहते चेतो, अन्यथा वही होगा।

रात दिवस तो धन्धो करतो,
दो दो एवड़ पातो।
कुआ मां स्यूं चरस खांचतो,
गयो गड़िदो खातो॥

एक जाट रात-दिन कार्य करता और यदि कोई उसे विश्राम या धर्म-ध्यान के लिए कहता और यह भी कहता कि तुम्हारा काम मैं कर दूं तो वह कहता, "अपना कार्य मैं स्वयं ही करता हूँ। मेरे बिना वह नहीं हो सकता।" एक दिन वह भेड़ों को पानी पिलाने के लिए कुएँ से चरस खींच रहा था कि डोरी टूट गई और वह उसके साथ कुएँ में गिर गया। वह मर गया, पर क्या उसके घर का कार्य बन्द हो सकता है? वह कार्य यों ही चलता रहेगा।

लज्जा वैसी होनी चाहिए जो आत्मा का उत्थान करे। वैसी लज्जा जैसी मेघकुमार ने की थी। मेघकुमार दीक्षित हुए। प्रथम दिन था, रात्रि में कहीं दरवाजे के आगे सो गए। रात में आने जाने वालों की ठोकरें लगीं। सारी रात जागरण-सा हुआ। सुबह उठे—मन में सोचा, "ऐसा साधुपन नहीं पालना है।" वे चले भगवान् महावीर के पास

रजोहरण और मुख वस्त्रिका सौंपने। भगवान् केवलज्ञानी ठहरे, उन्हें जानते क्या देर लगनी थी? वे बोले, "क्यों मेघकुमार! क्या बात है?" मेघकुमार नतमस्तक हो गए। वे कुछ भी न बोल सके। भगवान् ने कहा. "तुम घर जाना चाहते हो इस मामूली-सी तकलीफ से ऊबकर। एक तुम्हारा वह पूर्व जन्म था सुन्दर जिसके फलस्वरूप तुम इस जन्म में राजपुत्र बने।" मेघकुमार के मन में आया कि अपने पूर्वजन्म की बात जानूँ। उसने भगवान् के आगे अपनी अन्तःकामना प्रकट की।

भगवान् ने कहा—"तू पूर्वजन्म में हाथी था। अपने दल का तू मुखिया था। जिस जंगल में तू मुखिया था एक बार उसमें दावानल लगा। तेरे रहने का स्थान सुरक्षित था, अतः जंगल के सभी जीव-जन्तु भाग-भागकर तेरे यहां आ गए। तेरा निवासस्थान उन जीवों से खचाखच भर गया। तूने खुजलाने लिये पैर उठाया और उस रिक्तस्थल की पूर्ति एक खरगोश ने कर दी। अब पैर नीचे कैसे रखे? बेचारा खरगोश मारा न जाय! हत्यारा होने का भय था। तूने पैरों को ऊँचा उठाये रखा। एक-दो घण्टा या एक-दो दिन नहीं बल्कि उस समय तक उसे वैसे ही रखा जब तक कि दावानल शान्त न हो गया और सारे जीव-जन्तु वापिस न लौट गए। जगह खाली हुई तब सोचा पैर को नीचे रखूँ पर बात वश की न रही? पैर अकड़ चुका था और तू उसी क्षण गिर पड़ा। इसी का फल है कि तू राजकुमार बना। अब तुझे इतनी छोटी बात के लिये साधुत्व को त्यागते शर्म नहीं आती! तू उस समय साधु नहीं था, श्रावक नहीं था, सम्यक्त्वी नहीं था और इन सब गुणों को समझनेवाला भी नहीं था फिर भी तेरी आत्मा ने पैर के नीचे जीवों को दबोच कर नहीं मरने दिया। अब तू साधु है, त्यागी है और इतनी-सी तकलीफ के कारण इस शरीर का इतना मोह कर रहा है।" मेघकुमार की आखें खुल गईं। वह गिरते गिरते बच गया। पतित होते-होते पावन हो गया। यह वह लज्जा है जो आदेय, उपादेय है।

दया

धर्म में दया का एक बहुत बड़ा स्थान है। कहा भी जाता है—"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।" भगवान् महावीर ने सब प्राणियों की दया के लिए, रक्षा के लिये प्रवचन दिये "किसी भी प्राणी को मत मारो"—यह उनकी दया का स्वरूप था। दया के दो प्रकार हैं—निषेधात्मक और विधानात्मक। निषेधात्मक रूप जैसे—'मतमारो'। निर्विवाद हो इसमें किसी तर्क का स्थान नहीं। यह विशाल और पूर्णरूप है। विधानात्मक रूप पूर्ण नहीं कहा जा सकता। किसी प्राणी को बचाने के लिए किसी का उत्पीड़न भी हो सकता है इसी तरह 'बचाओ' दया का पूरा रूप नहीं हो सकता है। किसको बचाया जाय, बकरों को या कसाई की आत्मा को? यहाँ 'बचाओ' का स्थान उठाओ ले लेता है। "जीओ और जीने दो" का स्थान "उठो और उठाओ" ले लेता है।

वास्तव में बकरों को बचाना, पैसे देकर बचाना, बचाना नहीं है। इससे बकरे बच जायें ऐसा नहीं लगता। मान लिया जाय एक बार बकरे बचा भी लिए गये तो क्या हुआ? कसाई के व्यापार को प्रोत्साहन मिला इसके सिवा और क्या हो सकता है? सही अर्थ में कसाई का हृदय-परिवर्त्तन करना चाहिए। उसके अन्तर में इस जघन्य कर्म के प्रति घृणा पैदा होनी चाहिए। इस तरह एक बार के लिए नहीं बल्कि यावज्जीवन उसकी आत्मा उसके खूनी व्यापार से पतित होने से हमेशा के लिए बच जाती है। बकरों का बचना तो प्रासंगिक है ही। इस तरह सभी के प्रति आत्म-तुल्य दृष्टि रखते हुए उनकी आत्मा का उत्थान हो ऐसा प्रयास होना चाहिए।

संयम

संयम एक विशाल शब्द है। इसमें सभी अच्छी चीजें प्रविष्ट हो जाती हैं। इन्द्रिय-संयम, धन-संयम आदि पर संयम रखना चाहिये। लालसाओं पर संयम होना चाहिए।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य एक बहुत बड़ी शक्ति है। ब्रह्मचर्य का मतलब जनेन्द्रिय को जीत लेना ही नहीं है। इसका मतलब है सब इन्द्रियों को जीतकर आत्म-रमण करना। आज सर्वत्र ब्रह्मचर्य कमी नजर आ रही है। प्रमाण सामने हैं—ये निस्तेज चेहरे। एक तरफ इन साधु-साध्वियों को देखिये जिनके चेहरे पर एक ओज चमक रहा है और दूसरी तरफ गृहस्थों की ओर देखा जाय तो गाढ़ी मुर्दनी छाई हुई मिलेगी। यह ब्रह्मचर्य की कमी का प्रतीक है। आज व्यक्ति इससे दूर भाग रहा है। वह अपनी इन्द्रियों पर, अपनी काम पिपासा पर कन्ट्रोल करना नहीं चाहता। संतति-निरोध हो, पर उसकी काम-पिपासा का निरोध न हो। आज वह इसके लिये नाना तरीकों को अपना कर अपनी गयी गुजरी वृत्तियों का परिचय दे रहा है। व्यक्ति ब्रह्मचारी बने, सन्तति निरोध तो स्वतः हो जाता है पर संतति निरोध ही यह लक्ष्य न रखना चाहिए।

आज व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनने के उपदेश के साथ-साथ व्यभिचारी न बनने के लिए भी कुछ बताना ठीक रहेगा। आज एक नहीं अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो व्यभिचार में फंसे हैं—जो अपने धन, यौवन और आत्मा के साथ मखौल कर रहे हैं। उन्हें शर्म नहीं आती दुनिया भर का जूठन चाटते फिरते हैं, छुआछूत में भूत बने रहते हैं पर वहां न मालूम वे उसे किस ताक पर रख आते हैं। उन्हें सोच-समझकर अपनी आत्मा के साथ धोखा नहीं करना चाहिए।

व्यक्ति ब्रह्मचारी न बन सके तो व्यभिचारी कतई नहीं बनना चाहिए। स्वदार के साथ भी उसे संयम रखना चाहिए। विशिष्ट तिथियों, त्यौहारों के दिन व दिवा-

संभोग से तो बचना ही चाहिए। मानव इसमें पशुता को भी मात कर गया है। पशुओं के पास घड़ियाँ नहीं होतीं फिर भी उनका कार्य-क्रम व्यवस्थित-सा मिलेगा। उनका विकार भी बिना ऋतु के नहीं होता, पर मानव के अन्तरस्थल में यह भट्टी यों ही जलती है और पता नहीं कबतक यों ही जलती रहेगी। उसे चाहिए कि वह ब्रह्मचारी बने और इसके लिए वह संयम का पथ अपनाए।

२६ : त्याग बनाम भोग

मनुष्य किस घमण्ड में भूला है—मन ही मन फूला रहता है। ज्यों-ज्यों एक-एक क्षण बीतता है उसकी आयु घटती जाती है। फिर भी धर्म को भूल कर अभिमान करता है। सांसारिक बन्धनों में बँधता जाता है, फँसता जाता है और उनमें सुख का, तृप्ति का आभास पाता है।

पतंगे दीपक में पड़कर अपने जीवन को स्वाहा कर देते हैं। वे नहीं जानते दीपक की लौ में उनकी मौत पल रही है। वे तो उसे अपने लिये कोई अच्छी-सुखप्रद चीज ही समझते होंगे और उसकी प्राप्ति के लिए जीवन भेंट कर देते हैं।

मछलियों के मुख में पानी भर आता है जब वे मांस के टुकड़े को अपने आगे पाती हैं। वे नहीं जानती कि यह उसकी मौत है। और जब वे स्वाद-पूर्ति के लिए ललचाई दृष्टि से उस मांस के टुकड़ों को मुँह में दबाती हैं तो एक झटके के साथ मौत उसे अपने पंजे में पकड़ लेती है। दूसरे ही क्षण लोग देखते हैं उसका मृत शरीर मछुए की टोकरी का एक सदस्य बनने जा रहा है।

लोग दोनों को मूर्ख बताते हैं। पतंग लौ के लिये और मछली मांस के लिए प्राण गवाँ देते हैं। वे योंही प्राण गवां देते हैं इसमें कोई बड़ी बात नहीं; उनका ज्ञान तिमिराच्छन्न है, विकसित नहीं। वे जानते नहीं हमारी यह सुख-लालसा मौत का कारण बनेगी। पर मनुष्य का ज्ञान विकसित है। वह जानता है ये भौतिक सुख उसके आत्म-पतन के कारण हैं फिर भी छोड़ता नहीं। वह जान बूझकर फँसता जाता है। बताइए क्या कहा जाय? इससे बढ़कर और कौन-सी मूर्खता होगी? स्पष्ट है—'त्याग सुख है, भोग दुःख है।' भिक्षु स्वामी ने इसे यों कहा—'त्याग धर्म है, भोग अधर्म।'

उदासर
१५ मार्च १९५३

२७ : थावरच्चा-पुत्र

थावरच्चा-पुत्र एक दिन अपनी अट्टालिका पर खड़ा था, उसके कानों में मधुर-मधुर गीत सुनाई दिया। वह उसे सुनता गया। उसे बड़ा अच्छा लगा। पर यह न जान सका गीत का भावार्थ क्या है और कहाँ से ऐसी स्वर-लहरी आ रही है। वह अपनी माता के पास आया और पूछने लगा। पुत्र को माता से बढ़कर और होता ही कौन है? फिर उसके लिये तो सब कुछ माता ही है। छोटी-सी-छोटी और बड़ी-से-बड़ी बात का समाधान उसे माता से ही मिलता है। आगे चलकर पुत्र चाहे पलट जाय पर माता का दिल तो सदैव गंगा रहता है। बहुत व्यक्ति तो ऐसे मिलते हैं जो माता को गाली दिये बिना बोलते ही नहीं! यह उनकी नासमझी है, थावरच्चा-पुत्र माता से पूछने लगा, उस मधुर स्वर-लहरी के बारे में। माता ने बताया कि पड़ोसी के घर पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसकी खुशी में गीत गाये जा रहे हैं। वह बोला—"अच्छा! पुत्र उत्पन्न होने पर इतनी खुशी होती है!" "हाँ, बेटा"—माता ने कहा। "तो क्या जब मैं पैदा हुआ था तब भी इसी तरह गीत गाये गए थे?"—थावरच्चा-पुत्र अपने बचपन के स्वाभाविक भोलेपन के साथ पूछ बैठा।

बालक जब बोलता है तब व्यक्ति चाहता है कि वह एक बार फिर बोले। उसकी वाणी में मधुरता भरी रहती है। युवक या वृद्ध की बोली वैसी अच्छी नहीं लगती जैसी बालक की लगती है। बालक की बोली अन्तर की आवाज होती है। वह निष्कपट होती है। दूसरों की आवाज ऊपरी आवाज होती है। उसमें शाब्दिक सजावट होती है, हृदय की भावना नहीं होती। एक वक्ता अच्छी से अच्छी शाब्दिक-सजावट कर सकता है; वह एक बार श्रोतावर्ग को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है; पर उसका असर स्थायी न होकर क्षणिक होता है यदि वह आवाज अन्तर की आवाज न होती है तो, यदि वह दी गई शिक्षा और सिद्धान्तों की बातें स्वयं अपने जीवन में न उतारता हो। माता ने बताया—"वत्स! जब तुम्हारा जन्म हुआ तब एक दिन ही नहीं कई दिन तक ऐसे क्या इससे भी ज्यादा अच्छे गीत गाये गए थे। खुशियाँ मनाई गई थीं।" थावरच्चा-पुत्र बोला—"माँ अब यहाँ ज्यादा सुनने का समय नहीं है। मेरे कान उन गीतों को सुनने के लिए लालायित हैं।"

वह भागा और छत पर आया। ध्यान से गीत सुनने लगा; पर अब उन गीतों में मधुरता नहीं थी। कान उन्हें सुनना नहीं चाहते थे। वह असमंजस में पड़ गया। क्या बात है? गीत वह नहीं है या गानेवाले दूसरे हैं? कुछ समझ में नहीं आया। वह माता के पास पुनः दौड़ा हुआ आया और पूछने लगा—"माताजी गीतों में इतना फर्क क्यों

हो गया ?" माता की आँखों में पुत्र की यह बात सुनकर आँसू आ गये। वह बोली—"हमारे उस पड़ोसी का वह पुत्र पीछा हो गया है।" वह बोला "मैं समझ नहीं पाया—क्या पहले आगे था और अब क्या पीछे हो गया ?" माता बोली—"अब वह गुजर गया है—मर गया है।" थावरच्चा पुत्र बोला —"ठीक, अब वह मर गया है इसलिये रोते हैं। अच्छा, माँ! व्यक्ति मरता क्यों है ?" माता बोली—"जब उसकी आयु पूर्ण हो जाती है, काल आ जाता है। थावरच्चा पुत्र ने उसी सरल भाव से पूछा—"तो माँ! यह काल कब आता है ? छोटे-बड़े का कुछ ख्याल रखता है क्या ?"

माता बोली—"नहीं, वह छोटे बड़े का कोई लिहाज नहीं रखता। तू ऐसी बातें मत कर। छोड़ इन्हें।"

थावरच्चा-पुत्र ने जिद् भरे स्वर में कहा—"नहीं-नहीं माँ! थोड़ा और बता दो। क्या मुझे भी इसी तरह मरना होगा ?"

माता बोली—"अरे तुम्हें क्या मुझे भी मरना पड़ेगा।"

थावरच्चा-पुत्र ने पुनः पूछा—"अच्छा, क्या तुम्हें भी मरना पड़ेगा माँ ? तो क्या इससे बचने का कोई उपाय है, दवा है ? यदि है तो उसे देनेवाले डाक्टर कौन है ?"

माता बोली—"इसमें बचना बड़ा मुश्किल है। दवा अवश्य है और उसके डाक्टर अभी अरिष्टनेमि भगवान् हैं। उनके चरणों में रहकर साधना करते हुए कर्मों को जो खपा दे, वही इससे बच सकता है।

थावरच्चा पुत्र ने पुनः प्रश्न किया "ऐसा कितने दिनों तक करना पड़ता है ?"

माता बोली—"जीवनपर्यन्त।"

थावरच्चा-पुत्र को उसी क्षण संसार से विरक्ति हो गई। हर वक्त यही ध्यान रहता—कब भगवान् पधारें और कब साधु बनूँ।

थावरच्चा-पुत्र के दिल का वैराग्य-भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आखिर उनकी कामना सफल हुई। भगवान् अरिष्टनेमि शहर में पधारे और यशस्वी बालक थावरच्चा-पुत्र ने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली।

बीकानेर
२० मार्च १९५३

२८ : आत्मा से आत्मा का उत्थान करो

"आप्त पुरुष उपदेश क्यों देते हैं" ?—गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा। "क्या वे कामना के लिए, बालक्रीड़ा के लिए, राजा के दबाव से या भय से उपदेश फरमाते हैं ?" भगवान् महावीर ने कहा—"नहीं।" गौतम ने फिर पूछा—"तो क्या कारण है ?" भगवान् ने फरमाया—"वे उपदेश फरमाते हैं, इसलिए कि स्वयं सिद्ध बनें—अपनी आत्मा को उठायें और साथ ही साथ उस अमृतमयी वाणी से भवसागर तरें। वह वाणी तारने में सहायक बनें जिससे जनता अपनी आत्मा को उठा सकें।"

आज महावीर-जयन्ती-सप्ताह आरम्भ किया जा रहा है और महावीर स्वामी के बारे में सुनने के लिए लोग एकत्रित हैं। अतः महावीर स्वामी के बारे में आज कुछ सुनाया जाय। पर यहाँ तो हमेशा ही भगवान् महावीर की वाणी सुनाई जाती है। हमारे पास उसके सिवा और है ही क्या ? प्रत्येक कार्य महावीर-वाणी के इंगित से अनुप्राणित होता है। लोगों के धन रुपये, पैसे, जवाहरात, घर, मकान, आदि होते हैं पर हमारा तो सब कुछ धन भगवान् की वाणी ही है। उसके सिवा कौड़ी भी पास मिलेगी नहीं। एकदम फकीर हैं। जब मैं ग्रामीणों के बीच होता हूँ वे कहते—"महाराज ! धर्म कैसे करें ? रुपया पैसा है नहीं ! बिना इनके धर्म कैसे हो ?" मैं उन्हें कहता हूँ, "भाइयो ! तुम्हारे पास कुछ धन है तो सही पर यदि धन से ही धर्म होता तो हमारी क्या हालत होती ? हम सबसे पीछे रह जायेंगे।" धन धर्म से नहीं होता, वह आत्मा की वस्तु है और आत्मा से ही होता है। अतः आत्मा से आत्मा का उत्थान करो !

भगवान् महावीर ने लगभग १२॥ वर्ष तपस्या की। उन्होंने विश्व को अहिंसा और सत्य का पाठ पढ़ाया। उसका मार्ग-दर्शन किया। आज उनके नाम से सब परिचित हैं। पर ज्योंही भगवान् महावीर का नाम आता है लोग कहते हैं वे जैनों के महापुरुष, तीर्थंकर थे। मुझे खेद होता है वे उन्हें सिर्फ जैनों के साथ क्यों जोड़ देते हैं जबकि उन्होंने विश्वभर को शान्तिप्रदायक देन दी। वास्तव में देखा जाय तो जैन शब्द पहले था नहीं। साधुओं के लिए निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता था और श्रावकों लिए श्रमणोपासक। यह जैन शब्द तो शायद बाद में प्रचलित हुआ है। निर्ग्रन्थ का भी वही मतलब है जो जैन का है। अब ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए कि लोग यह समझें कि वे सब के थे। प्रयास का मतलब यह नहीं कि उन पर बल दिया जाय ताकि वे बाध्य होकर यह मानें। लेकिन उसका मतलब यह है कि उसका निरवद्य प्रचार किया जाय। उनकी वाणी को जीवन में उतारा जाय। एक दो दिन नहीं, महीना और वर्ष के लिए नहीं यावज्जीवन उनको अपनाया जाय और लोगों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया जाय।

लोगों की आवाज है, "सभी जैन एक हो जायँ।" आज के इस पण्डाल में लोग देखें तो उन्हें पता चले—जैन-जैन तो क्या जैन जैनेतर में भी वे कोई भेद-रेखा न पायेंगे। एक हाथ में पांच उंगुलियां हैं। सबका अस्तित्व अपना-अपना अलग-अलग है पर सब आपस में एक दूसरे की सहयोगी हैं। एक उंगुली के साथ ही दूसरी। सहयोग के लिए तत्पर रहती है। मैं समझता हूं इस सहयोग का नाम ही एकत्व है। यदि एकत्व का मतलब यह किया जाय कि सब उंगुलियां आपस में मिल जायँ यह तो ठीक नहीं।

हमारा अनेकान्तवाद-समन्वयवाद है, जो विश्व के झगड़ों को मिटाकर मैत्री स्थापित करनेवाला है। कई द्वैतवादी हैं तो कई अद्वैतवादी। पर जैन दोनों को ठीक मानते हैं। द्वैत भी ठीक है। वह इसमें 'ही' को स्थान नहीं देता उसके स्थान पर वह 'भी' प्रयुक्त करता है। लोग कहते हैं हमारे देश के किसान सुखी हैं। किसान एक नहीं अनेक हैं। पर जातिशः किसान एक हैं व्यक्तिशः अनेक। इसी बारे में भगवान् महावीर का एक जीवन प्रसंग बता देता हूँ। यह कोई निरर्थक कहानी-किस्सा नहीं, बल्कि उनका मननीय जीवन-प्रसंग है।

भगवान् महावीर अपनी संत मंडली सहित कयंगला नगरी में पधारे। पास ही एक सावत्थी (श्रावस्ती) नामक नगरी थी। लोगों का अवागमन रहता था। वहां एक स्कंद नामक सन्यासी रहता था। वह प्रकाण्ड विद्वान था। एक दिन पिंगल नामक निर्ग्रन्थ रास्ते में उससे मिल गया। उसने उनसे पूरे पांच प्रश्न किये। लोक शान्त है या अनन्त? जीव शान्त है या अनन्त? सिद्ध शान्त है या अनन्त? वह कौन-सी मौत है जिससे जन्म-मरण बढ़ता है? सन्यासी तत्त्वदर्शी थे। पर एकाएक प्रश्नों का जवाब देते न बना। पिंगल ने दुबारा पूछा—प्रश्न तो आपने सुन लिए होंगे। वह समझ गया—जवाब नहीं दिया जा सकेगा। इज्जत नहीं लेनी है पिंगल वापिस लौट गया। वास्तव में शास्त्रार्थ विचारों के आदान प्रदान की भावना से किया जाना चाहिए। उसमें जय-पराजय की भावनावाले शास्त्रार्थ तो मल्ल-कुश्तियां हैं।

स्कन्दक को रात में नींद नहीं आती; दिन को भोजन अच्छा नहीं लगता। सोचता "मेरे लिए शर्म की बात है, जवाब न दे सका" सारी पुस्तकें टटोलीं पर प्रश्नों का कोई जवाब न मिला। आखिर एक दिन सुना—भगवान् महावीर आये हुए हैं। वे त्रिकालज्ञ हैं—भूत, भविष्य, वर्तमान की बात को जानते हैं। अवश्य उनसे जवाब मिल जायगा।

स्कन्दक भगवान महावीर के दर्शन करने के लिए रवाना हुआ। गौतम भगवान् से बोले—आज तुमसे तेरा पुराना मित्र मिलेगा।

गौतम—पुराना मित्र कौन?

भगवान्—स्कन्दक।

गौतम—कब, कहाँ और क्यों मिलेगा ?

भ०—यहीं और अभी आ रहा है। उसके मन में ऐसे प्रश्न हैं। भगवान् गौतम स्कन्दक के सामने आये। "सुमाअयं खन्दया!" इन शब्दों से उसका स्वागत किया जबकि स्कन्दक असंयति थे। टीकाकार अभयदेव सूरि लिखते हैं, "गौतम वीतराग नहीं थे, सरागी थे।" छद्मस्थतावश असंयति का स्वागत करने गये उन्होने स्कन्दक से कहा—"तुम क्यों आ रहे हो मैं बताऊँ ? तुम्हारे मन में ये ये प्रश्न हैं।"

स्कन्दक दंग रह गया। "क्या यह सब जाननेवाला भी कोई व्यक्ति है ?"—उसने पूछा। गौतम ने भगवान् महावीर के दर्शन कराये। पहुँचते ही वह नतमस्तक हो गया। भगवान् ने प्रश्नों का जवाब देते हुए फरमाया, "लोक शान्त भी है अनन्त भी। इसी तरह जीव सिद्धि भी हैं। ऐसा मरण पण्डित मरण है। जो साधु बँधे कर्मों को खपाता हुआ अनशन कर मरता है वह भव भ्रमण को मिटाता है, घटाता है अन्यथा भव-भ्रमण बढ़ाता है। यह है अनेकान्तवाद।

स्कन्दक वैराग्य भाव से भगवान् का शिष्य बन गया और उसने साधुपन पालते हुए अपना कल्याण किया।

स्कन्दक ने सही तत्त्व समझा, उसे जीवन में उतारा और आत्मा से आत्मा का कल्याण किया। वह स्वदोषदर्शी था, पर-दोषदर्शी नहीं। वह क्या करेगा, जो पर दोषों को ढूँढ़ेगा ? जो परोक्ष में हैं जिन्हें जान सकना आसान नहीं। मैं तो यह कहूँगा कि व्यक्ति, अमुक ऐसा है अमुक वैसा न कहकर, सोचे मैं कैसा हूँ। आज लोग स्वदोष-दर्शी न बनकर पर दोषदर्शी बनते जा रहे हैं। स्त्री और शूद्र को तो पढ़ने का अधिकार ही नहीं है! भला स्त्री पढ़े! एक घर में दो कलम कैसे चले! भगवान् महावीर जैसे महापुरुष नहीं होते तो न मालूम आज उनकी क्या स्थिति बनती! भगवान् महावीर ने उन्हें मुक्ति प्राप्त करने की अधिकारिणी बताया। कहाँ एक तरफ उन्हें पैर की धूल बनाने को कहा जा रहा है और दूसरी तरफ समता की दृष्टि से देखा जाता है। रात-दिन का सा अन्तर है। एक समय ऐसा माना जाता होगा पर आज वह समय नहीं है। जमाना पलट चुका है। जब मैं सुनता हूँ मुझमें भी काफी परिवर्तन आ गया है, मुझे खुशी होती है। हमारा तो यह सिद्धान्त रहा है—द्रव्य परिवर्तनशील है। जिसमें परिवर्तन न आए वह द्रव्य क्या ? हमें विशाल बनना है और इतना परिवर्तन करना है कि एक क्षण में लोक से लोकान्त तक पहुँच जायें। लोग सर्दी में कपड़े पहनते हैं—कोट, बनियान और मोटे-मोटे कपड़े। लेकिन ज्यों ही सर्दी गई, गर्मी आई, वे कपड़े सन्दूकों में रख दिये जाते हैं और आज तो महीन-महीन मलमल के ढीलेढाले चोले नज़र

आ रहे हैं। ऊपरी कपड़ों में परिवर्तन हुआ, पर अन्दर का यह शरीर नहीं बदला जाता। वह तो गंजाना यही रहना है। शरीर बदल जाय तो वह परिवर्तन नहीं मृत्यु होती है। मेरे कहने का तात्पर्य है कि ऊपरी व्यवस्थाओं का चाहे जैसा परिवर्तन किया जा सकता है और वैसा परिवर्तन किया भी जाना चाहिये, जिससे तत्त्व व्यक्ति के दिल और दिमाग में उतारा जा सके। लेकिन मौलिक तत्त्वों को नहीं बदला जाता। मौलिक तत्त्वों को बदलने का मतलब है खोखलापन, और दूसरे शब्दों में एक तरह से मृत्यु।

बीकानेर
२२ मार्च '५३

२९ : शान्ति का साधन

आज विश्व अशान्ति से ओत-प्रोत है, यह किसी से छिपा नहीं है; इसे सब व्यक्ति जानते हैं। जन-जन चाहता है उसे शान्ति व सुख मिले। चाहना भी चाहिये और मिलना भी चाहिए। पर विश्व अशान्त क्यों है? इस 'क्यों' की कसौटी पर जब तक कोई प्रश्न या विषय न कस लिया जाय तब तक आज के तार्किकों को सन्तोष नहीं मिलता।

मानव पहले भी गुजर-बसर करता था आज भी करता है। फिर ऐसा कौन-सा अन्तर उसमें आ गया कि पहले वह सुखी था और आज वह अपने आपको अशान्ति के झंझावातों में लड़खड़ाता पा रहा है? व्यक्ति की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं, उसकी इच्छाएँ दिनोंदिन तर से तम की ओर दौड़ रही हैं। प्रत्येक व्यक्ति चाहेगा उसे कम से कम एक 'कार' मिले। उसे कम से कम अपने कानों के पास एक रेडियो चाहिये, जिससे वह विश्व भर की खबरों को सुनता रहे और मकान-हवेली नौकर चाकर सेवा में हाजिर रहें। कहने का तात्पर्य यह है कि वह चाहता है उसे हर तरह से शान्ति मिले, सुख मिले। चाहता अवश्य है, पर इस तरह शान्ति मिले—यह उसके वश की बात नहीं। एक तरफ इच्छाएँ फैलती हैं और दूसरी तरफ अशान्ति। इस अशान्ति के भट्ठी से जलता हुआ मानव विदेशी वादों की ओर आशाभरी दृष्टि से निहार रहा है, किसी तरह साम्यवाद आये। साम्यवाद आयेगा और शान्ति मिलेगी। पर याद रखिये यह उसका स्थायी हल नहीं क्षणिक हल है। इससे आत्मा को शान्ति मिलने की नहीं, और इस बात का तो बड़ा ताज्जुब होता है कि इन वादों के पीछे दो बड़ी शक्तियाँ भृकुटियाँ ताने काम कर रही हैं। वाद-विचार के लिए लड़ाइयाँ होती हैं। बड़े-बड़े महायुद्ध हुये और अब भी लोगों के सामने यह भय हर समय बना रहता है।

व्यक्ति धन के लिए लड़ सकता है। जमीन के लिए झगड़ लेता है, पत्नी के लिए भी लड़ सकता है, यह सम्भव है। पर विचारों के लिए लड़ें, बड़े-बड़े महायुद्ध करें, लाखों व्यक्तियों के खून से होली खेली जाय, यह तो आश्चर्यचकित करनेवाली-सी बात है। आज वे भारतवासी जो संसार भर को शान्ति का सन्देश देते थे सन्तप्तावस्था में शान्ति के लिए दूसरों की आंखें फाड़ रहे हैं। उलटा नमक सांभर को जाता है! होता तो यह है कि सांभर से लोगों को नमक मिले। भारतवासी आज भी देखें-टटोलें कि उनके यहाँ कोई ऐसी चीज है क्या जो शान्ति दे सके। आज भी यहां अनेक अकिंचन धन को धूल के समान समझने वाले सन्त मिलेंगे, ब्रह्मचारी मिलेंगे। उनके सम्पर्क से लाभ उठाओ। उनकी ज्योति से अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनाओ। जिस प्रकार एक दीपक से सैकड़ों हजारों क्या चाहे जितने दीपकों को प्रकाशमय बनाया जा सकता है उसी प्रकार साधु के संसर्ग से सैकड़ों व्यक्ति अपनी आत्मा को ज्योतिर्मय बना सकते हैं। अस्तु।

अशान्ति का मूल कारण—आवश्यकताओं की वृद्धि है। जन-जीवन इससे भार-भूत बना हुआ है—बोझिल है। बिना इच्छाओं को परिमित किये सन्तोष और शान्ति मिलती नहीं। इनको चाहे जितना बढ़ाया या घटाया जा सकता है। जितनी आवश्यकताओं को बढ़ाया जायगा लोभ बढ़ता जायगा और एक तरह से मन उद्विग्न बन जायगा। ज्यों-ज्यों उन्हें घटाया जायगा व्यक्ति को आत्म-सन्तोष और शान्ति मिलेगी। व्यक्ति अपनी इच्छाओं को परिमित बनाये, आत्म-उत्थान करे, इस उद्देश्य को लेकर अणुव्रती-संघ की स्थापना की गयी जो जनता का इस दिशा में मार्ग दर्शन करेगा—यदि उसके नियमों को अपनाया जाय। लोग नहीं देखते कि हमारे पास में अच्छी चीज है। वे घर की चीज़ की उपेक्षा करते हैं। बाहर का कोई व्यक्ति यहां आकर नैतिकता का प्रसार करे, लोग बड़े ध्यान पूर्वक सुनेंगे, तारीफ करेंगे कि बड़ा भारी काम कर रहे हैं और ये पत्रकार बड़े बड़े पृष्ठों में उनकी खबरें निकालेंगे। लेकिन घर की चीज पर उस समय ध्यान दिया जाता है जब विदेशी उसकी तारीफ करते हैं। लोगों की आंखें खुलती हैं, "अच्छा जी, चीज तो अच्छी है!" पर इसके बिना वे उधर ध्यान नहीं देते जीवन को हल्का बनाओ बिना जीवन हलका बनाये शान्ति मिलने को नहीं। भोगों को छोड़ते जाइये, त्यागों को अपनाये। आडम्बर को छोड़िये, सादगी को लाइये। जीवन हल्का होगा शांति और सुख तभी मिलेगा।

बीकानेर

२३ मार्च '५३

३० : स्वकल्याण के साथ जन-कल्याण करें

अपनी आत्मा ही सब कुछ करती है। वही कर्त्ता है वही विकर्त्ता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य।' किसी दूसरे के किए अनिष्ट या भला होता नहीं। फिर किसी के प्रति यह भावना रखना या ऐसा समझना कि अमुक व्यक्ति ने मेरा ऐसा किया या वैसा किया, व्यक्ति की निरी भूल है। वह क्यों किसी के सिर दोष मढ़े?

प्रश्न उठेगा सब सुख चाहते हैं, कोई दुःख नहीं चाहता और आत्मा सब कुछ करती है। फिर सबको सुख मिलता क्यों नहीं, सब दुःखी क्यों हैं? बात सही है सब दुःखी हैं—दुःख पाते हैं; पर सुख पाने के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता। मामूली से भौतिक सुखों में—सुखाभासों में मानव आलिप्त हो जाता है। पर असली सुखों को पाने के लिए कंटकाकीर्ण-पथ पर कौन चले? वह थोड़े से कष्टों से घबरा जाता है और सुख के पाने के पथ से विलग हो पड़ता है।

क्रोध आत्मा को दुःख पहुँचानेवाले दुर्गुणों में अपना एक स्थान रखता है। इसका स्थान आत्मा है। इसके जैसा कृतघ्न भला और कौन मिलेगा? यह जिस आत्मा, देह या शरीर में उत्पन्न होता है उसीको जलाता है। तुमलोग देखते होगे क्रोधी व्यक्तियों का डील-डौल—दुबला-पतला शरीर। वह पनपे कैसे, भीतर ही भीतर क्रोध की भट्ठी जलती है और उसमें सब स्वाहा हो जाता है। क्रोध आत्मा का अधः पतन करता है, उसे भव-भव में भटकाता है।

यदि देखा जाय तो घर-घर अग्नि जलती मिलेगी। लड़ाई, कलह, वैमनस्य आदि इसके परिणाम हैं। यदि अलग-अलग प्रकाश डाला जाय तो महिलाओं को देखिये—मामूली-सी बात के लिए चक्की, चूल्हा, कूड़ा, करकट, झाड़ू, बुहारी, बाल-बच्चों की छोटी-छोटी-सी बातों के लिए आपस में लड़ लिया जाता है। हाँ, इनमें एक विशेषता है—इनकी लड़ाई चहारदीवारी के भीतर की लड़ाई है। वह घर से बाहर सामान्यतः नहीं जाती पर पुरुष जब झगड़ते हैं कचहरी या हाईकोर्ट तक पहुँच कर ही दम नहीं लेते प्रिवी कौंसिल तक पहुँच जाते हैं। जायज नाजायज तरीकों को अपना लिया जाता है। होना जाना कुछ नहीं दोनों तरफ नुकसान के सिवा और क्या है? दो व्यक्ति एक रस्सी को तानें, होना क्या है? वह टूट जायगी और उसके साथ ही साथ दोनों की हड्डियाँ पसलियां भी तोड़ेगी। पर उनमें एक धैर्य से काम ले तो वह तो इससे बच ही जायगा। वह उस रस्सी को न तानकर छोड़ देता है तो वह बच ही जाता है पर जो खींचता है उसे उसकी सजा मिल ही जाती है।

आज ऐसे झगड़े तो घर-घर मिलेंगे। पर खेद के साथ कहना पड़ता है धर्म-पुरुष कहलाने वालों में भी यह चीज घर कर गई है। एक धर्म सम्प्रदाय दूसरे धर्म सम्प्रदाय को अपनी आँखों से देखना नहीं चाहता। और जब शास्त्रार्थ के रूप में मल्लयुद्ध शुरू होता है रस्सी के टूटने या न टूटने का कोई ख्याल नहीं रखा जाता। यदि धर्म ही, जो विश्व को शान्ति प्रदायक है, इसका अखाड़ा बन गया तो फिर विश्वशान्ति की इच्छा किन से रखेगा? धर्म-पुरुष, जो विश्व-मैत्री के प्रचारक हैं, यदि ऐसा करेंगे तो फिर विश्व किस से क्या आशा रखेगा?

देखा जाता है किसी ने किसी के विरुद्ध कुछ कह दिया तो ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाता है। किसीने पैम्फलेट छपाया तो प्रत्युत्तर में बुकलेट छपती है। कोई छोटी पुस्तक छपाता है तो उसके जवाब में बड़ी पुस्तक निकलती है। मैं तो इस तरीके को हेय समझता हूँ। व्यर्थ की छापेबाजी किस काम की? 'तेरापन्थ' का उदाहरण लीजिए। उस पर कितने-कितने आक्रमण-प्रत्याक्रमण हुए और उसके बारे में इतनी भ्रान्ति फैलाई गई कि वह मेवाड़, मारवाड़ पंजाब, दिल्ली, मध्यभारत, दक्षिण, मद्रास, बंगलोर, बंगाल, बम्बई तक नहीं जर्मनी तक पहुँची, घृणा फैली। पर हमने सदा विरोध को विनोद समझा। लोग पैसा खर्च करते हैं सिनेमा, थियेटर, नाटक देखने हैं पर हम तो सोचते हैं यह विरोध बिना पैसे देखने का तमाशा है। यदि किसी को शंका है वह मिटाये—पूछकर मिटाये। वह पूछता नहीं है फैलाता है तो हमारे प्रचार में सहायता करता है। हमारा क्या लेता है? हाँ; इसमें हमें कुछ कठिनाइयाँ हुई। हम जहाँ भी गए हमारा पहला व्याख्यान तो भ्रान्तियाँ दूर करने के लिए हुआ और फिर जब लोगों की आँखें खुलीं, उन्हें उपदेश दिये गए जिन्हें उन्होंने सहर्ष अपनाया। सत्य सत्य रहेगा वह छिपा रह नहीं सकता। चाहे एक दफे गगनांगन घनघोर घटाओं से घिर जाय पर ज्योंही हवा चली वह बिखर जाता है और सूर्य अपने सम्पूर्ण तेज के साथ प्रकट हो जाता है। इसी तरह आज वे भ्रान्तियाँ मृतप्राय हैं। किसी को उनके बारे में कुछ पूछते नहीं सुना जाता। लोग सम्पर्क में आते जाते हैं और सहर्ष व्याख्यानादि उपदेश श्रवण करते हैं। यह सब होता है धैर्य से। क्रोध से क्रोध बढ़ता है घटता नहीं। फिर शान्ति कैसे मिले? आत्मा का उत्थान कैसे हो? धर्म-पुरुष ही इसके लिए मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। वे स्वयं क्रोध पर विजय पायें और दूसरों को भी ऐसा करने की प्रेरणा दें। स्वकल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण करें।

बीकानेर

२४ मार्च '५३ (प्रातःकालीन प्रवचन)

३१ : जीवन को ऊँचा उठाओ

मैं कोई सामाजिक प्राणी नहीं; मेरा जीवन साधनामय है। मैं सिद्ध नहीं साधक हूँ। साधना-पथ पर बढ़ते जाना मेरा काम है। और इस तरह मैं अपने आपका उत्थान करता हुआ दूसरों का नैतिक उत्थान करूँ, यह भी मेरा एक काम हो जाता है। हमारा प्रत्येक कार्य साधनामय है। कोई हमारी वेष-भूषा देखकर भड़के नहीं। यह जो मुख-वस्त्रिका है, इसके लगाने की भी सार्थकता है। जैनसिद्धान्तानुसार बोलने से जो तेज हवा निकलती है उससे वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है और उस हिंसा से इस तरह बचा जाता है।

हमारा कार्यक्रम रहता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि महाव्रतों की साधना करते जाना। आज ६५० से अधिक साधु-साध्वियाँ इनकी साधना करते हैं। वे जगह-जगह पद-भ्रमण करते हुए इनकी प्रसार तथा प्रचार में सतत् प्रयत्नशील हैं। उनका स्वावलम्बी जीवन है। वे अपने धर्मोपकरण, वस्त्र, पात्र पुस्तक इत्यादि सब वजन स्वयं लेकर चलते हैं। वे किसी भी जगह एक मास और ज्यादा से ज्यादा चतुर्मास के लिए यानि चार महीने से अधिक नहीं ठहरते।

हम पैदल यात्रा करते हैं: रेल आदि में यात्रा नहीं करते। अतः देहातों में ज्यादा रहना होता है। पैदल-भ्रमण से यात्रा पर्याप्त नहीं हो पाती पर जितनी भी होती है ठोस होती है।

हम कहीं भी जाएँ किसी पर भारभूत नहीं होते। आहार पानी दाता देना चाहे और हमारे लिए वह अग्राह्य न हो तो हम उसे ले सकते हैं। वह हमारे लिए बनाया हुआ भी नहीं होना चाहिए। इसी तरह वस्त्र भी लेते हैं। सन्तों को पढ़ाने के लिए किसी भी वेतन भोगी अध्यापक या पण्डित की कोई आवश्यकता नहीं। हम लोग किसी भी प्रकार का मठ-मन्दिर या चलाचल जायदाद नहीं रखते। मन्दिर और मठ एक तरह से बन्धन हैं। मैं किसी पर आक्षेप नहीं करता पर देखिए, मन्दिर और मठों से लाभ हुआ या नहीं किन्तु क्षति अवश्य हुई है। मन्दिर और मठों में परिग्रह को प्रोत्साहन मिलता है। अतः न हमारे मन्दिर हैं, न मठ और न हम उनके पुजारी ही हैं। इसीलिए तो इस पन्थ का नाम 'तेरापन्थ' (God's path) रखा गया। हमारे आदि आचार्य भिक्षु स्वामी थे। उन्होंने ऐसे २ नियम-मर्यादाएँ बाँधीं जो आज हमारे लिए एक गौरव की चीज है। उन्होंने ऐसे समय में इस धर्म-संस्था की स्थापना की जब कि धर्म का ठेका धन लेने लग गया था। धर्म मन्दिर और मठाधीशों की चीज

बनने लगा था। धर्म धन बिना नहीं होता—ऐसी एक धारणा बनने लगी थी। ऐसे समय में भिक्षु स्वामी ने बताया, "धर्म धन से नहीं होता। वह आत्मा से हो सकता है। सब धर्माचरण करो।" दूसरे उन्होंने चेला बनाने की प्रथा बन्द की। चेला-प्रथा एक तरह से जागीरी प्रथा है। शिष्यों का लोभ धर्म-कर्म सब भुला देता है। उन्होंने मर्यादा बनाई कोई किसी को शिष्य न बना सकेगा। सब एक गुरु के शिष्य होंगे। पुस्तक-पन्नों आदि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं रहेगा। सब गुरु के तत्त्वाधान में रहते हैं। इस तरह उन्होंने इस संस्था को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित बना दिया। यही कारण है कि तेरापन्थ के बाद आजतक जैनधर्म की और कोई संस्था न बनी। यह सब भिक्षु स्वामी द्वारा डाली गई नींव का प्रभाव है।

इधर ३-४ वर्षों में घूमते हुए हमने जयपुर, देहली और पंजाब की यात्रा की। सब जगह अच्छा प्रसार हुआ। अब राजस्थान आना हुआ है—एक ही उद्देश्य को लेकर—आत्म-साधना करते हुए आज के इस विशृंखल जन-जीवन को उठाना। आज जनता सरकार पर दोषारोपण करती है तो सरकार जनता पर। यह तो देखा जाय कि दोनों में कोई दोषों से बरी भी है क्या? ऐसी हालत जन-जीवन को उठाने के लिए अपरिग्रहवाद को महत्त्व देना पड़ेगा। पूंजी को महत्त्व देने से प्रत्येक व्यक्ति की यह आकांक्षा रहेगी कि वह येन-केन प्रकारेण पूँजीपति बने और यदि आचार और अपरिग्रह को महत्त्व दिया गया—आदर दिया गया तो व्यक्ति का दिमाग इधर दौड़ेगा कि वह आचारवान् और संतोषी बने। अपरिग्रहवाद व्यक्ति की लालसा को घटायेगा। जीवन को हल्का बनायेगा और यही जीवन का सही हल होगा। जीवन को सात्त्विक बनाने के लिये ही अणुव्रत-योजना बनाई गई। महाव्रत पालन करने कठिन हैं तो अणुव्रत तो कम से कम पालन किये जायँ। पूर्ण अहिंसक बन सके, तो यथाशक्ति अहिंसा को अपनाए। इसी तरह यथाशक्ति सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का पालन किया जाय। अणुव्रत-योजना के बाद ही उसका प्रचार करने से लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। आज साधुओं का प्रभाव पड़ता है, क्यों कि वे त्यागी हैं उनका जीवन ऊंचा उठा हुआ है। आप भी अपने जीवन को ऊँचा उठाइये।

बीकानेर
२५ मार्च '५३

३२ : धर्म आत्मा की चीज है

जैनधर्म सामाजिक कार्यों की मनाही करता है—ऐसी भ्रान्ति जैनधर्म को लेकर नहीं, खास तौर से तेरापंथ को लेकर फैलाई गई है। दूसरों के द्वारा नहीं, जैनों के द्वारा ही फैलाई गई है। आज जिस प्रकार राजनीतिक लोग कहते हैं "धर्म में राजनीति को मत मिलाओ।" इसी तरह भिक्षु स्वामी ने आज से २०० वर्ष पूर्व धर्म में समाजनीति को न घुसने देने के लिए आवाज उठायी। लोगों ने धर्म को संकुचित और मामूली-सी बात बतायी, धन से धर्म का होना बताया जाने लगा। भिक्षु स्वामी ने बताया—"धर्म इन सबसे परे की चीज है। वह आत्मा की चीज है, अतः आत्मा से ही होगा। धन से धर्म नहीं होता। भारतीय लोगों का ऐसा विचार बन गया है कि यदि दो पैसे किसी को दिये जायँ तो पहले यह बताओ इसमें धर्म है या नहीं। यही नहीं धर्म की ओट में नामवरी के लिए कार्य किया जाता है। कहीं पैड़ी भी बनाई जाय तो नाम धर्म का होगा और उस पर सेठ जी का नाम खुदाया गया या नहीं। अपने ही एक भाई को पानी पिलाया, यह तो सामाजिक कर्त्तव्य है उसे धर्म में क्यों घुसेड़ा जाय? हाँ, धर्म का प्रभाव समाजनीति और राजनीति पर अवश्य पड़ेगा। पर धर्म पर इन नीतियों का प्रभाव नहीं आना चाहिए।

बीकानेर
२७ मार्च '५३

३३ : अहिंसा का एक आदर्श

भगवान महावीर की अहिंसा को समझाना बच्चों का खेल नहीं है। इसे समझने में वर्षों नहीं, पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। अहिंसा के पथ पर बढ़ने में विपत्तियाँ आएँ तो आएँ, उसको सहर्ष सहन करो। गोशाले जैसे कुशिष्य ने भगवान के देखते-देखते उनके दो शिष्यों को जला दिया। स्वयं भगवान पर अपनी तेजो लेश्या का प्रयोग किया। पर भगवान् के मन में किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं आई। यह है भगवान् महावीर की अहिंसा का एक आदर्श।

बीकानेर
२८ मार्च '५३

३४ : आत्महत्या के दो पहलू

किसी को मारना हिंसा है ; स्वयं आत्महत्या करके मरना भी हिंसा है। इसीलिए जो व्यक्ति सम्यक्त्वी बनता है, सन्मार्गी बनता है उसके लिए ३-४ शपथों में से आत्महत्या न करना भी एक शपथ है। बम्बई की बात है। एक व्यक्ति ने जब इस नियम को जाना तो साधुओं से बोला, "सन्मार्गी के लिए यह क्या नियम बनाया गया? भला किसी को न मारने का त्याग हो सकता था पर स्वयं न मरे यह भी कोई नियम है! ऐसा कौन मूर्ख होगा जो मरने की इच्छा रखता होगा और जो स्वयं आत्महत्या करेगा।" उसने ज्ञानी और ज्ञान के साथ मखौल किया। थोड़े दिन बाद उसके व्यापार में घाटा लग गया और घाटा भी इतना लगा कि वह चुका सकने में असमर्थ था। उसका कलेजा बैठ गया। सोचा, आत्महत्या कर ली जाय। पास ही समुद्र था। वह चला, अपनी चिंता को लिए चला, उसे समुद्र में विसर्जन करने का अरमान लेकर चला। वह समुद्र के पास आया और चिन्ता से मुक्त होने का उपक्रम करने लगा। उसे याद आया, "सन्तो ने बताया था—"आत्महत्या करना महापाप है।" और मैं उस जघन्य कृत्य को करने जा रहा हूँ। धिक्कार है मुझे जो अपने आपको भूल गया हूँ। वह उन्हीं पैरों सन्तों के पास वापिस आया, और लगा पूछने, "महाराज! वह नियम किसने बनाया था?" उन्होंने बताया, "हमारे आदि गुरु भिक्षुस्वामी ने इसे बनाया था।" वह कहने लगा, "धन्य महाराज! उनको जिन्होंने ऐसा नियम बनाया। एक बार नहीं करोड़ों बार धन्यवाद है।" सन्त आश्चर्यचकित रह गये, क्या बात है? जो व्यक्ति चन्द दिनों पूर्व मखौल उड़ाता था वही आज प्रशंसा करता है। अन्त में उसने बताया, "महाराज मैं आत्म-हत्या करने जा रहा था। पर जब मुझे वह नियम याद आया, मैंने उस विचार को छोड़ दिया।"

भाइयो! याद रखिये—चिंताओं से हिम्मत हारकर आत्महत्या मत करिए। हो सकता है एक बार इस शरीर से पिण्ड छूट जाय, उन चिन्ताओं से भी एक बार मुक्ति मिल जाय पर आगे ननिहाल नहीं है। आत्महत्या महापाप है और आगे उसका फल अवश्य मिलता है। अतः ऐसे महापाप से बचिए।

आत्महत्या पाप है लेकिन भगवान ने संयमी पुरुषों के लिए सतीत्व की रक्षा आदि विशेष परिस्थितियों में जीते जी शरीर छोड़ने की आज्ञा दी है। ऐसा मरण पंडित मरण कहलाता है। सतियोंके लिए सतीत्व से बढ़कर और कुछ नहीं है। उसका सतीत्व का चला जाना मरजाने से बढ़कर है। ऐसे समय में जब कि वह अपने सतीत्व की रक्षा करने में असमर्थ हो जाँय, वह आत्महत्या कर सकती है।

सती चन्दनबाला और धारणी का उदाहरण है। चन्दनबाला भगवान् महावीर की

शिष्या सतियों में सर्व प्रमुख थीं। धारणी उसकी माता थी। वह बचपन में अपने राजप्रासादों में रहा करती थी। माता ने उसे शिक्षा भी दी थी। संयोग ऐसा मिला कि राजा का देहान्त हो गया। राज्य पर दूसरों ने अधिकार कर लिया। शहर में सैनिक शासन शुरू हो गया। ये सैनिक मद पीकर मदोन्मत्त राक्षस बन गये। शहर में बड़े बड़े अत्याचार हुए, खून की नदियां बह गईं। सैकड़ों सतियों के सतीत्व के साथ नृशंस खेल खेला गया। धन का भूखा रथिक राजप्रासाद में गया। पर वहां ये दोनों—धारणी और चन्दनबाला मिलीं। वह धन को भूल गया। मन में विचारने लगा,—इनसे बढ़कर और क्या कीमती रत्न होगा? उसने उन्हें चलने के लिए कहा। राजरानी क्या करती? उसने सोचा चलने के सिवा और क्या चारा है? पर मैं इसे ठीक कर दूंगी—सही रास्ते पर लाकर छोड़ूंगी। रानी बोली—चलो। चलते-चलते वे एक बीहड़ वन में आ गये। रथिक ने अपनी काली करतूतों की शुरूआत की। वह अनर्गल बोलने लगा। रानी सोच रही थी- मैं इसे ठीक रास्ते पर ला दूंगी। नारी और नर के बीच युद्ध था, देखें कौन जीतता है? रथिक ने कुत्ते का-सा काम किया। कुत्ते को ज्यों ज्यों दूर करने की चेष्टा की जाती है। वह काटने के लिए उतना ही नजदीक आता है। रथिक पास आया। धारणी नारी के रूप में नाहरी-सी लगने लगी। उसने गरजती आवाज में कहा, "क्या समझ रखा है? खबरदार, यदि पास में आया तो" पर वह क्यों मानने लगा? बोला, "तुम मेरी हो।" धारणी बोली "हाँ, मैं तेरी हो सकती हूँ माता या, बहिन। तू क्या चाहता है? मेरे से दूर रह अन्यथा मुझे जो करना है वह करती हूँ।" चन्दनबाला डर गई। धारणी बोली, "बेटी घबराने की कोई बात नहीं। मैंने तुझे अन्तिम शिक्षा दे रही हूँ।" इतने में ज्यों ही रथिक पास आया, "धारणी सतीत्व की बलिवेदी पर बलिदान हो गई, उसने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जीभ खींच कर मृत्यु का आलिंगन कर लिया। उस मृत्यु से जिसका नाम सुनने मात्र से बड़ों-बड़ों के कलेजे दहल जाते हैं उसने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। रथिक अवाक् रह गया। उसकी अक्ल ठिकाने आ गई। हाय! मैं जिसको अपनाने जा रहा था वह मेरी न बनी। चन्दनबाला ने सोचा यह मुझे भी छोड़ेगा नहीं। माता ने मुझे सबक सिखा दिया है बलिदान हो जाने का। उसने अपनी जिह्वा हाथ में पकड़ी। रथिक की आत्मा रोने लगी। वह चिल्ला पड़ा और बोला "तू मेरी माता के समान है, मरना मत। मैं तेरे साथ कुछ नहीं करूँगा।"

सतियाँ इसी तरह सतीत्व रक्षा के लिए बलिदान हो सकती हैं।

बीकानेर
२ अप्रैल '५३

३५ : स्त्रियाँ आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करें

सब गतियों में मानवगति महान् मानी गई है। मानव शब्द में स्त्री और पुरुष दोनों ही आ जाते हैं। मानव शब्द में जितना महत्त्व पुरुष को दिया गया है उतना ही स्त्रियों को भी दिया गया है। कोई किसी से किसी बात में कम नहीं। स्त्रियां घरेलू कार्य करती हैं और पुरुष बाहर का काम करते हैं। इसमें कोई ऊंच या नीच नहीं हो जाता। यह ऊँचता और नीचता की कसौटी नहीं है—फिर क्या कारण है स्त्रियां पिछड़ी हुई कहलाती हैं। इसमें कुछ दोष उनका भी होना सम्भव है। किसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि वे दोषी हैं और वह दोष यह है कि वे अपने आपको हीन समझती हैं। वे अपने आत्म-बल को जागृत नहीं करतीं। एक तरह से वे अपने आपको पुरुषों के आश्रित समझती हैं। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि स्त्रियां भी क्रान्ति करें और उस क्रान्ति के नाम पर भ्रान्ति को अपना लें—अपने आप को उच्छृङ्खल बना लें। मैं तो इसलिए कहता हूँ कि आज जिस आजादी के नशे में राजनीतिज्ञों में, पुरुषों में, छात्रों में जो उच्छृङ्खलता घर कर गई है उस उच्छृङ्खलता का शिकार स्त्रियाँ न बन जायँ। वे मानव हैं, उनमें मानवता रहे। दुनिया में चार चीजें प्राप्त होना अति दुर्लभ है और उनमें से एक मानवता है। मानवता को पाने के लिए उसे धर्म और आध्यात्मिक शिक्षा पाने की आवश्यकता है। धर्म और आध्यात्मिक शिक्षा पाने में स्त्रियों का स्थान कम नहीं है। जिस प्रकार पुरुष इसमें स्वतन्त्र हैं स्त्रियां भी स्वतन्त्र हैं। और इसका एक ज्वलन्त उदाहरण सामने है। ये जितनी भी साध्वियां हैं सब पढ़ी लिखी और अपनी साधना में लीन हैं। धर्म-प्रचार करने में इनका भी एक बड़ा भाग है। धर्म-प्रचार के लिए ये दूर तक पैदल विहार करती हैं। ये तुम्हारे ही घर की बहन-बेटियाँ हैं जो धर्म में लीन और आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने में दत्तचित्त हैं। वहाँ तुम लोगों में रूढ़ियाँ घर कर गई हैं। धर्म के नाम पर नाना प्रकार की रूढ़ियाँ तुम्हें पकड़ा दी गई हैं। कोई कह दे कि पीपल पूजो, उसे जल चढ़ाओ, बड़ा पुण्य होगा, तो स्त्रियां वैसा ही करने लगती हैं। पता नहीं इससे कैसे धर्म होगा? हो सकता है इसके अन्तर में अन्य कोई भेद हो पर धर्म का नाम क्यों लिया जाय। इसी तरह धन, ऐश्वर्य, सन्तान के लिए देवी और देवताओं को पूजा जाता है। हे महाराज! हमारे सन्तान हो। वे देवी देवताओं से लेकर पीर पैगम्बर तक को पूजती हैं पर इस तरह होना जाना क्या है। अरे! यही नहीं धर्म के नाम पर पशुओं की बलियां दी जाती हैं। बहिनो! इससे धर्म होने जाने का नहीं। धर्म होगा आत्म-शुद्धि से, बिना आत्म-शुद्धि के धर्म नहीं। आत्म-शुद्धि के लिए ५ महाव्रत हैं—अहिंसा

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह जिनका पूर्ण रूपेण तीन करण तीन योग से साधु पालन करते हैं। तुमलोग गृहस्थ हो इसका पूर्ण रूपेण पालन न भी कर सको तो कम से कम इनके छोटे नियमों को—अणुव्रतों को तो अवश्य अपनाओ। हिंसा मात्र से पूर्ण रूपेण न बच सको तो कम से कम निरर्थक हिंसा तो मत करो। झूठ तो मत बोलो जिससे अनर्थ होना हो, ऐसा सत्य भी मत कहो जो अप्रिय हो—हिंसाप्रद हो। इसी तरह चोरी को छोड़ो, अब्रह्मचर्य को छोड़ो। आज जहाँ सतियों का नाम आता है सीता का नाम बरबस मुँह पर आ जाता है। यह उसके सतीत्व का महत्त्व है। संचयवृत्ति को छोड़ो। आवश्यक वस्तुओं का संचय न छोड़ा जा सके तो कम से कम बेमतलब संचय तो मत करो। जहाँ एक साड़ी की जरूरत हो पचासों साड़ियां मत खरीदो। जहाँ सादी साड़ी से भी काम चल सके वहाँ जरी और किनारी की बेशकीमती साड़ियों को तो काम में मत लाओ। अपने जीवन में सादगी लाओ और अपने पतियों को यह शिक्षा दो कि हमें नहीं चाहिये ये साज शृंगार जिनका पोषण खून के पैसे से—ब्लैक और भ्रष्टाचार से होता है। हमें नहीं चाहिए वह ऐश और आराम जिसकी तह में मानवता खतरे में हो। मैं समझता हूँ इससे बहुत कुछ नैतिक उत्थान होगा और इसके साथ-साथ सामाजिक उत्थान होना भी सम्भव है।

बीकानेर,
४ अप्रैल '५३

३६ : श्रद्धा और चरित्र दो महान् तत्त्व

मानव सुख और दुःख का स्वयं निर्माता है। उसकी अच्छी और बुरी प्रवृत्तियाँ ही उसके लिए अच्छा और बुरा होने का कारण हैं। दूसरे शब्दों में ये अच्छी और बुरी प्रवृत्तियाँ ही उसके शुभ और अशुभ कर्म हैं। इन कर्मों का बन्ध मानव के जीवन में क्षण-क्षण में होता रहता है। ये कर्म मानव को उसके मूल आत्म-गुण को विकसित नहीं होने देते।

ज्ञानावरणी कर्म—उसको कहते हैं जिसके कारण ज्ञान पर पर्दा पड़ जाता है और ज्ञान मौलिक रूप में विकसित नहीं रहता जैसे आखों पर पट्टी। आँख पर पट्टी पड़ जाने से कोई चीज देखने में नहीं आती और पट्टी खुलते ही सब पदार्थ स्पष्ट नजर आते हैं, वैसे ही ज्ञान पर आवरण पड़ा हुआ है और उस आवरण के हटते ही ज्ञान अपने मूल रूप में विकसित हो जाता है। यह ज्ञान सब में योग्यता के अनुसार होता है।

सब पुरुषों में समान नहीं है। ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता भी सब में एक जैसी नहीं होती। किसी में विकसित किसी में अविकासित रूप में रहती है। कई पुरुष चतुर कहे जाते हैं; कई मूर्ख भी कहे जाते हैं। कारण यही है कि कर्मों का पर्दा हल्का भारी होता है। एक ही समय में कही हुई एक बात मानव मानव के हृदय-पटल पर एक-सा प्रभाव नहीं डालती तथा एक ही सी समझ में भी नहीं आती। यद्यपि मानव के समझने के इन्द्रिय साधन सब के एक से हैं, फिर भी समझने में बहुत अन्तर पड़ जाता है।

श्रवण नयन अरु नासिका।
हैं सबके इक ठोर॥
वो कहनो सुननों समझनो।
चतुरन को कछु और॥

चतुर पुरुष का कहना, सुनना और समझना सब से अंतर रखता है। यह सब ज्ञानावरणी कर्म का प्रभाव है, जिसके कारण ज्ञान-ग्रहण करने की शक्ति न्यूनाधिक है। कोई समझ ही नहीं पाता, कोई समझता है मामूली, कोई स्पष्ट समझ पाता है। एक बात होते हुए भी योग्यता की कमी के कारण सब पुरुष समान रूप से ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

पानी एक—लेकिन समझ की कमी के कारण एक पुरुष आम को सींचता है, दूसरा नीम को, तीसरा आँक को, चौथा धतूरे को। पानी का गुण एक होते हुए भी सब का फल समान नहीं हो सकता। आम में मिठास पैदा होती है, नीम में कड़वापन, आक और धतूरे में जीवन-संहार के फल उत्पन्न होते हैं, एक-सी चीज होते हुए भी पदार्थ पदार्थ पर अन्यथा प्रभाव पड़ता है।

वर्षा का पानी—तवे पर पड़ने से भस्म हो जाता है, अकूरड़ी (घूर) पर पड़ने से कृमि या गन्दगी बढ़ाता है, साँप के मुँह में पड़ने से जहर हो जाता है और सीप के मुँह में पड़ने से मोती हो जाता है। यह पानी का दोष नहीं यह सब योग्यता की कमी के कारण होता है।

जन-सभा में दिया हुआ उपदेश सबको एक-सा लाभ नहीं कर सकता। निष्पक्ष ज्ञानी श्रोता बहुत बड़ा लाभ ग्रहण करते हैं। सार-सार को हृदयंगम कर लेते हैं। ये चतुर पुरुष निष्पक्ष चलनी की तरह के हैं जो सार-सार को ग्रहण कर लेती है और थोथे माटे, छोड़ देती है।

आम की मंजरी खाकर कोयल का कंठ सुरीला हो जाता है और सुननेवाले को प्रसन्नता होती है और काग का कंठ पक जाता है। यह मंजरी का दोष नहीं, योग्यता का अंतर है।

चित्रकार-सुन्दर भीत्ति पर अपनी तूलिका से मनमोहक तथा हृदयस्पर्शी चित्र तैयार कर देता है लेकिन गोबर की भीत्ति पर वही चित्रकार यदि अपनी तूलिका को तोड़ दे तो भी सुन्दर चित्रकारी नहीं कर सकता। यह चित्रकार का दोष नहीं भीत्ति की योग्यता में अन्तर है। इसी तरह चतुर पुरुषों के कहने, सुनने और समझने में अन्तर है।

(२) ज्ञानावरणी की तरह ही दर्शनावरणी कर्म को समझना चाहिए। इससे देखने की शक्ति पर आवरण आता है।

(३) मोहनी कर्म—मोह से बढ़कर दूसरी चीज नहीं, यह आत्म-पतन का खुला मार्ग है। इसी मोह में सारी दुनियाँ इस तरह ओत-प्रोत है कि उसको होश तक नहीं रहता। मैं जो कर रहा हूँ वह अच्छा है या बुरा। इसका ज्ञान मनुष्यों को नहीं रहता। मदिरा में मत्त हुए मानव की तरह बेहोश होकर वे नाना नाच नाचते हैं और अपनी आत्मा को निर्बल निःसहाय बना कर आत्मपतन की ओर अग्रसर होते हैं।

नियम बनाना मुश्किल होता है। सब की सुविधाओं को ध्यान में रखकर नियम बनाना अति कठिन काम है, लेकिन उनको तोड़ना अति सरल है। प्रजापति जानता है कि घड़ा कितनी मेहनत से बनता है लेकिन एक छोटी-सी ठीकरी से तोड़ा जा सकता है। जीवन निर्माणकारी नियमों को बनाने वाले को भी धन्यवाद! नहीं तो क्या? मदिरा पीकर बेहोश होकर ऐसी जगह नालियों में मानव पड़े सड़ते जहाँ कुत्ते मुँह चाटते हैं। उनको होश नहीं रहता—मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ कैसी स्थिति में हूँ? मनुष्यता से सर्वथा दूर हो जाते हैं। जो शराबी की गति वही मोही की। मोह कर्म के वशीभूत मनुष्य श्रद्धा, चरित्र खो बैठता है।

बहिनों और भाइयों के ध्यान रखने की चीज है कि श्रद्धा और चारित्र को कायम रखें। अन्यथा मानवता से हाथ धो बैठेंगे। अगर मानवता गँवाई तो फिर भर्तृहरि के शब्दों में—"भूविभारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति" वाली बात चरितार्थ होगी।

आज के इस भौतिकवादी युग में मानव में इन दोनों तत्त्वों की कमी मालूम पड़ती है। मानव निज को नहीं देखता, पर के गुणावगुण तुरन्त देखता है और आक्षेप करने में भी नहीं सकुचाता। ऐसी मानव-प्रकृति नीचता की द्योतक है, निज को बुरा सिद्ध करती है।

बुरा जो देखन मैं चला।
बुरा न दीखा कोय॥
जो दिल खोजा आपणा।
मुझसा बुरा न कोय॥

संसार में अपने समच और बराबर दूसरा कोई भी बुरा नहीं है। दूसरे के अवगुण नहीं देखने चाहिये। लेकिन आज का मानव दूसरों के अवगुणों को ढूँढ़ने में चतुर

होने का दावा करता है। पीलिये के रोगी को सारी चीजें पीली दिखें तो यह चीजों का नहीं उसकी आँखों का दोष है। कोई भी चीज उसे सफेद दीखती नहीं इसी तरह मानव आत्म-पतन की ओर अग्रसर है। आज का मानव दूसरे के दोषों को ढूंढ़ता है अतः घर में कलह, लड़ाई, झगड़े हो रहे हैं।

पुत्र पिता कहीं चले अदालत,
पति-पत्नी की कहीं यही हालत।
सहोदर की कुण हाल सम्भालत,
बने जुआरी खावे जूत, भूत व्यभिचार में।
हा! हा!! कैसे सकल संसार

इजलास में एक तरफ पिता का वकील दूसरी तरफ पुत्र का वकील। एक तरफ पति का वकील दूसरी तरफ पत्नी का वकील, एक तरफ बड़े भाई का वकील।

इस तरह आपसी कलह ज्यादा दिन चल जाय तो घर को खतम कर दे एक पुराना किस्सा है। जाट जाटनी आपस में रूँठे, चौमासे की रुत, खेती खड़ी निनाण की जरूरत, दोनों मौन, आपस में बोलते नहीं। क्रोध आता है तब सबसे पहले खाना छूटता है। दोपहर बीत गया गाँव के लोग खेत जाने लगे, तब चौधरानी बोली—

लोग चाल्या लावणी
ए लोग क्यों नहीं जाय।
लोग चाल्या खाय पीय
ए लोग क्यों किंवां जाय। जाट!
छींके पड़ी राबड़ी उतार
क्यों नहीं लेय। जाटनी!
अबे आपा बोल्या चाल्या
घाल क्यों नहीं देय ॥ जाट!

पुराने जमाने का कलह इस तरह आसानी से मिट जाया करता था। पानी की लीक, बालू की लीक टिकती नहीं इसी तरह सरल प्रकृति के मानव का कलह टिकता नहीं था। वे कर्मों से भारी नहीं थे। आजकल का ढंग विपरीत है, पत्थर में तेड़ की तरह समझना चाहिए। फिर भी कलह शान्त कर लेना चाहिये। इस कलह से पति-पत्नी, भाई-भाई, पिता-पुत्र का प्रेम खत्म हो गया। घर खत्म हो गये। यह महान् खोटी चीज है दुनिया सिनेमा देखने आती है। कहती है इस आपसी घर-घर के बोलते सिनेमा से बढ़कर है क्या कोई जड़ चल चित्र? बहिनों में भी सास, बहू, देवरानी, जेठानी में आपसी कलह की अधिकता देखी जाती है। इसका कारण इन दोनों

तत्त्वों, श्रद्धा और चारित्र की कमी है। जीवन को उच्च करना है तो इन दोनों को अपनाओ। सब झगड़ा मिट जायगा। श्रद्धा और चारित्र दोनों में बड़ा कौन? दोनों ही अपने-अपने स्थान पर बड़े फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से श्रद्धा का स्थान बड़ा है। चारित्रवान् श्रद्धावान नहीं भी हो सकता, लेकिन श्रद्धावान चरित्रवान हो जाता है अतः श्रद्धा बड़ी है। कम से कम इन तीन तत्त्वों के प्रति तो श्रद्धा होनी अत्यन्त जरूरी है— देव, गुरु और धर्म देव कोन? देव, वीतराग परमात्मा केवली, इनमें श्रद्धा रखकर माला फेरने में फायदा नहीं तो बिना श्रद्धा माला फेरना हाथ घिसना है। कुछ फायदा नहीं। बहिनें—भेरूजी, रामदेवजी हनुमानजी इन देवों को पूजती हैं इनके लिये सवा मन की कराही करके एक कौड़ी मात्र प्रसाद चढ़ाकर सारा घरवाले बैठकर खा जाते हैं। इनमें अन्ध विश्वास नहीं रखना चाहिये। अपने सच्चे देव वीतराग हैं उनको राजी करो। सिर्फ फूल चढ़ाने मात्र से कुछ नहीं होगा। श्रद्धारूपी फूल चढ़ाओ। उन वीतराग देवों में अपने आपको अर्पण कर दो। उन वीतराग देवों के बताए मार्ग पर चलने से ही मनुष्य शान्ति का अनुभव कर सकता है अन्यथा असम्भव है। बहुत से लोग आकर साधु से आँक पूछते हैं। साधु अगर आँक बता दे ओर ठीक निकल जाए तो बाबाजी की प्रतिष्ठा हो जाती है; धूम मच जाती है ओर बाबाजी जगत पूज्य हो जाते हैं; ये सच्चे साधुओं के लक्षण नहीं। साधु आंकन बनकर पास आये हुए की ज्ञानरूपी आँख खोल दे। वही सच्चा साधु है। आँक बताने वाले साधुओं की साधना खतम समझनी चाहिए।

साधु होवे सो साधे काया,
कोड़ी एक रखे नहीं माया,
लावे सोही देय चुकाय,
बासी रहे न कुत्ता खाय॥

"चोर को चाहिए धन, कुत्ते को अन्न, साधुजी का निश्चिन्त मन"

कुम्हारी आनन्द से सोती है। उसके विशेष परिग्रह नहीं होता। नींद नहीं आती धन की अधिकता के कारण चोर कही ले न जाय! सेठजी को रोटी भाती नहीं कहीं धन में कमी न हो जाय!

धनी बनना मुसीबत को मोल लेना है। जरूरत माफिक मिल जाए तो अधिक संचय करके करना क्या है? जरूरत अधिक रखे वह चोर है? अधिक संचय करके करोगे क्या? दुनिया की परिस्थिति देखकर धनकुबेर बनने की चेष्टा मत करो। संतोष रखो।

संतोष रखने की बात सुन कहोगे क्या सब साधु हो जावें? सब साधु हों यह असम्भव है; अगर हो जावें तो सुखका कारण है। हमारी भावना तो यही है कि

सब साधु हो जाएँ तो अच्छा रहा। गृहस्थों से कुम्हारी सुखी और साधु-साध्वी अत्यन्त सुखी।

गृहस्थ 'हाय-हाय' करके मर जाते हैं। खाते-पीते रात-दिन सब समय 'हाय'। चौबिस घण्टे मन अशान्त। यह जीवन नहीं। मनुष्य जन्मता है—तब रोता है जिन्दगी भर रोता है और रोते-रोते ही मरता है। क्या रोना ही मानव का लक्ष्य या धर्म है? मनुष्य के समान निकृष्ट कोई प्राणी नहीं, इसके समान उच्च अब भी कोई नहीं, क्योंकि वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अन्य कोई भी मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ नहीं।

रे नर तू सब से बड़ा।
तू सब से स्वाधीन॥
करना है सो कर्म कर।
उत्तम बन या हीन॥

वीतराग प्रभु का ध्यान करो और अपने को उन्हीं में अर्पित कर दो। यही सच्ची भक्ति है।

गुरु के प्रति श्रद्धा दूसरी बात है।

गुरु कौन—'कानिया मानिया कुर्र, तू चेलो हूँ गुरु' ऐसे लोग गुरु नहीं हो सकते। यह तो लोग-ठगाई है। गुरु वही जो पंच महाव्रत सब प्रकार पाले।

पूर्ण अहिंसक होता है वह जो सबके साथ मैत्री-भाव रखता है। अमीर गरीब का वहाँ भेद नहीं होता। सबका दर्जा समान होता है।

माया सूँ माया मिले,
कर कर लम्बे हाथ।
तुलसीदास गरीब की।
कोई न पूछे बात॥

करोड़पति आया है—सब स्वागतार्थ दौड़ते हैं।

गरीब आया है—अभी नहीं पीछे आना। निकाल दो।

आजकल के नेता धनी लोगों के पीछे दौड़ते हैं।

साधुओं के दरबार गरीब की सुनवाई पहले होती है। धनवान लोग तो पीछे फिर आकर मिल सकते हैं। लेकिन इन साधन हीनों को फिर मौका मिलेगा या नहीं, अतः इनका उद्धार तुरन्त हो ऐसा मौका चाहिए।

उदासर में मैंने हरिजनों को एक घण्टे का समय दिया और उन्होंने बड़ी श्रद्धा से धर्म-गाथाओं को सुना, समझा और बहुत कुछ त्याग किया।

साधुओं का एक जगह से दूसरी जगह विचरते रहने का एक ही कारण है कि जन-जन का जीवन हमारे जीवन की तरह ऊंचा उठे। साधु किसी एक के नहीं सबके हैं। साधु वही जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह का पालन करे। इनको जो पूर्णतः पाले वही साधु है। साधु कामिनी कंचन के त्यागी हैं। कौड़ी एक रखते नहीं। यह धूल भी हाथ धोने में काम आती है। पैसा कोई काम नहीं आता।

गुरु का कोई लोभ नहीं होना चाहिए। निगुरु की गति हो जाती है लेकिन कुगुरु वाले की गति नहीं होती। छिद्रवाली नाव में बैठने की अपेक्षा न बैठना ही ठीक है। कुगुरु से निगुरु रहना ही अच्छा है।

गुरु धीर गम्भीर होता है। सबकी सुनना है। प्रशंसा नहीं कि सेठजी ने अच्छा दान दिया। न दिया उसकी निन्दा नहीं की कि उसने रोटी भी नहीं दी। आज तक किसी साधु-साध्वी के मुँह से निन्दा-प्रशंसा के शब्द आपने सुने क्या?

जो साधु होता है वह समता-भाव रखता है। ये ही साधु के लक्षण हैं। सात हाथ की सौड़ (लिहाफ) में चाहे जैसे सोओ। कहीं डर नहीं। सच्चे साधुओं के पास भय है ही नहीं। साढ़े तीन हाथ की सौड़ में निभना मुश्किल होता है। देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा रखो। इसी में तुम्हारा कल्याण है। धर्म-गुरु वही है जो त्यागी है। चाहे हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई कोई भी हो उसे त्यागी होना चाहिए।

गांजा-भांग पीनेवाला ढोंगी गुरु नहीं हो सकता अतः धर्म के प्रति श्रद्धा रखो। श्रद्धा और चारित्र ये दो तत्त्व ही संसार में तारने वाले हैं।

३७ : तीन वृत्तियाँ

आज सभी व्यक्ति सुखी बनना चाहते हैं। किसी तरह सुख मिले इसका हर हालत में प्रयत्न किया जाता है, पर सुख बिना सही रास्ते पर आए मिलता नहीं। व्यक्ति ज्यों-ज्यों सुख के भ्रम में दौड़ता है, त्यों-त्यों उसे सुख नहीं मिल पाता। वह हर तरह से सुख पाने की चेष्टा करता है पर उसे हर तरह का सुख मिल जाय यह उसके वश की बात नहीं। रास्ता सही होगा तो सुख अवश्य मिलेगा इसमें सन्देह नहीं, वह आज मिले, कल मिले या भविष्य के गर्भ में चाहे जब मिले, पर मिलेगा, अवश्य। उसका सही प्रयास असफल नहीं जा सकता। बिना इसके सुख के स्थान पर कष्टों से स्वागत हो जाय तो कौन बड़ी बात है!

जितने दिमाग हैं उतनी ही बुद्धि है, जितने कुएँ हैं उतने ही प्रकार का पानी है। जब बुद्धि अलग रहे तो सुख पाने के प्रयास भी, अलग-अलग दिमागों में, अलग-अलग मिलेंगे। वे एक कैसे हो सकते हैं? आज राजनीतिक क्षेत्र के व्यक्ति कहते हैं सब खेती करो, अनाज पैदा करो, खूब अनाज होगा, खाये न खूटेगा तब चारों ओर अमन-चैन की वंशी बजेगी। सब सुखी नजर आयेंगे। यह अपनी-अपनी धारणा है। खूब खेती करो यह मनुष्य के वश की बात है, चप्पे-चप्पे भूमि पर खेती की जा सकती है पर मौके से वर्षा हो जाय यह उसके हाथ की बात नहीं। अनावृष्टि, बाढ़ उसके हाथ में नहीं। मनुष्य, बन्दर, सियार, मोर जैसे गरीब पशुओं को मार सकता है, उसके अनाज का हिस्सा बँटा लेता है। पर फाके का क्या? उसको मार-मारकर ढेर लगा दिये गये तो भी उसका अन्त नहीं मानव करे तो क्या करे?

रोटी और कपड़े की समस्या क्षणिक समस्या है, स्थायी नहीं। कभी बनती है तो कभी बिगड़ती है। योंही चलती रहती है। राजनीतिकों का यह हल कामयाब होता हुआ नहीं लगता।

धार्मिक पुरुषों का कहना है—शांति और सुख का उपाय है 'सुधरो' और 'सुधारो'। निज का जीवन उठे और दूसरों का उठाया जाय। आज एक बहुत बड़ी संख्या इसके लिए प्रयत्नशील है। बड़े-बड़े नेता, साधु, संत, पादरी आदि धर्मगुरु इसके लिए प्रयत्न करते हैं पर जीवन उठता नहीं। कान पर जूँ तक नहीं रेंगता। वह टस से मस नहीं होता। इसका क्या कारण है? ऐसा क्यों होता है? क्या धार्मिकों का यह प्रयास भी नाकामयाब रहेगा? नहीं, मुझे ऐसा नहीं लगता। फिर कण्ठ फाड़ने पर भी कानों में आवाज क्यों नहीं जाती? इसका कुछ भी कारण हो सकता है। मुझे तो ऐसा लगता है—सुधारक दुनिया को सुधारने चले हैं पर वे खुद सुधरे नहीं। जो खुद नहीं उठे वे दुनिया को क्या उठायेंगे। जो स्वयं पतित हैं वे दुनिया को पवित्र बना देंगे यह कैसे मुमकिन हो? वे कण्ठ फाड़ते हैं पर उनकी आवाज में ओज नहीं मिलता। वे कहते हैं पर करते नहीं। मुँह की आवाज हृदय की आवाज हो तब वह दूसरों के हृदय तक पहुँच सके। अन्यथा कण्ठों की आवाज मिनटों में हवा हो जाय तो कौन बड़ी बात है। पहले वे खुद सुधरें और दूसरों के लिए एक आदर्श बनें।

आज जन-जीवन बुराइयों से भरा पड़ा है। उन बुराइयों की गणना भी मुश्किल है। उनमें से तीन को यहाँ बताया जायगा। (१) संग्रह-वृत्ति, (२) हिंसा-वृत्ति, (३) स्वार्थ-वृत्ति।

संग्रह-वृत्ति

बुराइयों में संग्रह-वृत्ति का अपना एक खास स्थान है। धन आदि के संग्रह का बोलबाला है। यह मानव का एकमात्र लक्ष्य बन गया है, ऐसा लगता है। वैसे

तो कपड़ा, जमीन, अन्न सभी का संग्रह किया जाता है। आवश्यकता थोड़ी, संग्रह अधिक। सारे भविष्य का सोच किया जाता है। यहां तक कि धन को तो धर्म में भी स्थान दिया जाने लगा है। कह दिया जाता है बिना धन धर्म नहीं हो सकता। याद रखिये धन से कभी धर्म नहीं हो सकता। धर्म आत्मा की चीज है वह आत्मा से होगा। धन दुर्गुणों का मूल है। इससे व्यक्ति का दिमाग विकृत हो जाता है। इसके लोभ में व्यक्ति हिताहित को भूल जाता है पर इसका त्याग अवश्य हितप्रद है, शान्ति-दाता है।

दो भाई परदेश कमाने गये। गरीब थे, पर दोनों में मेल था। परदेश गए, धन कमाया। देश आने लगे। एक भाई के मन में लोभ आया—इस धन के दो विभाग होंगे, यह छोटा भाई भी उसका हकदार होगा। उसने सोचा यह मौका अच्छा है, नींद में सोये भाई को मारकर नदी में बहा दिया जाय फिर तो मैं ही इस धन का मालिक होऊँगा। उसने हाथ बढ़ाया, गले तक ले गया और ज्योंही चाहा कि कण्ठ दबा दूँ, उसे आत्म-ज्ञान हुआ। उसकी आत्मा ने प्रेरित किया—तू क्या करता है, धन के लोभ में भाई की हत्या! यह धन तेरे साथ नहीं चलेगा। वह चेत गया। उसने सोचा—यह धन काम का नहीं, जो व्यक्ति की मति भ्रष्ट कर दे। उसने नोली (रुपया रखने की थैली) नदी में बहा दी। पानी में थैली गिरने से आवाज हुई तो भाई जागा—पूछा "क्या बात है?" "धन को नदी में बहा दिया" जवाब मिला। उसने कहा "ऐसा क्यों किया? इतने दिन कमाया।" भाई ने बतलाया—"इसे न बहाता तो तुझे ही बहा देता।" उसने भी कहा—"मेरे मन में भी ऐसा विचार आया था। आप धन न बहाते तो मैं भी आपको मारने की तजवीज करता।" दोनों ने सोचा खैर अच्छा ही हुआ। घर पर आये। लोग मिलने आये। बहन भी आई। वह भोजन बनाने बैठी। मछलियों को चीरने बैठी और ज्योंही एक बड़े मच्छ को चीरा, उसके पेट में से एक नोली बाहर निकल पड़ी जिसकी आवाज पास में सोई बुड्ढी मां ने सुनी तथा जिसके लिए उठ सकना भी बड़ा मुश्किल था, आवाज सुनते ही पूछ बैठी—"बेटी आवाज कैसी आई?"

बेटी ने कहा—"चाकू गिर गया था बरतन में।"

माता ने कहा—"नहीं यह तो रुपयों की आवाज थी।" और धीरे-धीरे माता उसके पास आने लगी। पुत्री ने सोचा—ये रुपया कैसे हजम हों? उसने 'आव देखा न ताव' माता के सिर पर मूसल दे मारी। मुझ पर झूठ इल्जाम! और वह रुपयों की नोली लेकर भाग चली। उधर माता के मुँह से एक चीख निकली और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। बाहर बैठे पुत्रों ने जब यह आवाज सुनी वे भीतर आये। उन्होंने देखा—माताजी मरी पड़ी हैं। वे बहन के पीछे भागे। उसे पकड़ा और पूछना

चाहा। वह बोली—"मुझ पर झूठा इल्जाम लगाया गया है।" भाइयों ने पूछा, "कैसा इल्जाम?" वे उसे घर लाये, तलाशी ली, उसके पास वह नोली मिली—जिस पर दोनों भाइयों का नाम लिखा था और जिसे एक भाई ने नदी में विसर्जित कर दिया था।

उनके मुँह से यकायक निकल पड़ा—यह परिग्रह ऐसा ही होता है। हमें नहीं ले बैठा तो माता को ले बैठा। अस्तु।

मेरे यह कहने से सब लोग बिलकुल परिग्रह को छोड़ देंगे यह मुमकिन नहीं लगता पर उन्हें चाहिए कि वे उसे अधिक प्रश्रय तो न दें। उसे सब कुछ तो न समझें।

इसी तरह हिंस्रवृत्ति स्वार्थ-वृत्ति से भी खतरनाक है। सब अशान्ति की जड़ यह ही है। आज इसको लेकर क्या नहीं होता? जायज-नाजायज सबको तिलांजलि दे दी जाती है। सोच समझकर आत्म-तत्त्व को समझिए। सिर्फ भौतिकता के गहरे गड्ढे में मत पड़िये।

बीकानेर
८ अप्रैल '५३

३८ : अभयदान

दान ऐसा देना चाहिए जिससे अहिंसा का पोषण हो। दया ऐसी करनी चाहिए जिसमें हिंसा का समावेश न हो। वह दान, दान नहीं, जिससे अहिंसा का पोषण न होता हो, वह दया, दया नहीं, जिसके करने में हिंसा हो।

दान कई प्रकार के होते हैं—इसमें अभय दान का विशेष महत्त्व है। स्वयं निर्भय बनना और दूसरों को निर्भय बनाना यह अभय दान है। इसका दायरा विशाल है पर लोग इसे कितनी संकुचित दृष्टि से देखते हैं और मामूली-सी बात समझते हैं। किसी जीव को चन्द समय के लिए भय से मुक्त कर देना ही अभयदान समझ बैठे हैं। रुपये देकर कसाई से एक दफा बकरा छुड़ाया जा सकता है पर इसे अभयदान कैसे कहा जाय? अभयदान तो वह होगा कि कसाई का हृदय परिवर्तित कर, उसके दिल में खूनी पेशे के प्रति घृणा पैदा की जाय। बकरे तो स्वतः बच जायेंगे और फिर वह भी हमेशा के लिए इससे बच जाएगा। मैं अभयदान का एक उदाहरण बताता हूँ। यह उदाहरण, सिर्फ उदाहरण ही नहीं, भगवद्वाणी में वर्णित है।

एक राजा था, उसका नाम संयति था। सिर्फ नाम था, लक्षण, काम संयति जैसे नहीं थे। वह हत्यारा था—एक नम्बर का शिकारी था। जब तक १०-२० प्राणियों का शिकार न कर लेता उसे शान्ति ही नहीं मिलती। वह ऐसा नृशंस था। जब वह जंगल में जाता, भगदड़-सी मच जाती। जीव दौड़ते-भागते जान बचाने का प्रयास करते। राजा को बड़ी खुशी होती। वह अपने एक तीर से हिरण आदि को इस भव से भयमुक्त कर देता।

एक दिन राजा शिकार खेलने गया। हिरण आदि पशु-पक्षियों को चटाचट मारने लगा। बड़ा खुश होता, उसे कौन-सी पीड़ा होती थी? उसने एक तीर ऐसा मारा कि वह जाकर एक हिरणी को लगा—हिरणी मर गई लेकिन तीर के वेग से वह पास में खड़े एक ध्यानस्थ ऋषि के पैरों पर जा पड़ी। राजा उसके पास आया और जब ऋषि को वहां देखा, वह थर-थर कांपने लगा। सोचा—हो न हो यह हिरणी ऋषि की थी और अब मुझे ऋषि के शाप से भस्मीभूत होना पड़ेगा। न जाने ऋषि मेरा क्या करेंगे। कहीं मुझे जान से न हाथ धोना पड़े। वह राजा जो सैकड़ों भोले-भाले पशुओं को नृशंसतापूर्वक मारते थोड़ा भी भय नहीं खाता था: आज अपनी मृत्यु की कल्पना मात्र से सिहर रहा था। वह नहीं जानता था कि घायल को कितनी पीड़ा होती है? घायल की पीड़ा तो घायल ही जान सकता है। मरना क्या इतनी मामूली बात है?

राजा को मरने का डर था। वह हाथ जोड़े ध्यानस्थ ऋषि के आगे खड़ा था। थोड़ी देर बाद ऋषि ध्यान से अलग हुए—आगे का दृश्य देखा तो उन्हें समझते देर न लगी कि क्या बात है।

राजा ने कहा—"महाराज! मैं बड़ा नीच हूँ। पापी हूँ। मैंने बड़ी गलती की, आपकी हिरणी को मार दिया। कृपया मुझे जीवन की भीख दीजिए।"

ऋषि का कौन क्या होता है? हिरणी मरी और प्रलय भी हो जाय तो वे किस पर और क्यों नाराज होंगे? उन्होंने कहा–"राजन् तू क्या करता है, तेरा कार्य रक्षा करना है। तू रक्षक है, भक्षक नहीं। फिर ऐसा काम क्यों करता है? तेरी आत्मा आज तक कितनी कलुषित हुई होगी? इसके बारे में भी कुछ सोचा?" राजा की आंखें खुल गईं। उसका मस्तक नत हो गया। उसने हाथ जोड़े और हमेशा के लिए पशु-हिंसा का त्याग कर दिया। देखा अभयदान का अनुपम उदाहरण आपने। कितने जीवों की जान अपने आप बच गई। सही अर्थ में यही अभयदान है।

बीकानेर

९ अप्रैल '५३

३९ : धर्म विशाल और व्यापक है

जब मैं उदासर आया तभी ऐसा मालूम होने लगा कि मैं बीकानेर के चौखले में आ गया हूँ और जब मैं बीकानेर आया मुझे गंगाशहर, भीनासर और बीकानेर मिले हुए मालूम दिये। जहाँ भी व्याख्यान हुआ गंगाशहर, भीनासर की यह टोली विद्यमान मिली। यहाँ तक कि व्याख्यान ११ बजे खत्म होता फिर भी उस कड़कड़ाती धूप में लोग पैदल आते-जाते। यह उनकी अटूट-भक्ति का परिचय और शुभ की सूचना है। इस भक्ति का परिचय हमें यहाँ मिला जो हजारों मील घूमने पर भी कहीं नहीं मिला। हम 'पंचमी' के लिये गंगाशहर की ओर जाते हैं और गंगाशहर के लोग दर्शनार्थ बीकानेर आते हैं। मैं देखता हूँ 'टिंगों' (टिब्बों) के पास दर्शनार्थियों का एक जमघट-सा मिलता है। यह उनकी अन्तर-भक्ति का परिचय है। मैं चाहता हूँ अन्तर की खोज बढ़े और ऊपरी दिखावा घटे। इसमें भलाई है—सबका हित है। धर्म अन्तरात्मा के कण-कण में रमे, और ऐसा रमे कि उतारे न उतरे तभी आज के इस भौतिकवादी युग से लोहा लिया जा सकता है। उसे चैलेंज दिया जा सकता है। ऐसे समय में जब कि लोग भौतिकता में फँसे पानी के प्रवाह की नाईं बहे जा रहे हैं 'अशान्ति की ओर', तब भी धर्म की जड़ हरी-भरी है। धर्म एक सुहावना नाम है। स्वार्थी-धार्मिकों ने इसे दायरे में बाँधना चाहा पर यह तो आकाश की नाईं विशाल और व्यापक है। इसे बाँधा भी कैसे जा सकता है। जैसा कि मैंने अभी-अभी बताया धर्म में जाति, पाँति, लिंग, रंग, निर्धन, धनिक का कोई अन्तर नहीं हो सकता। धर्म सब के लिए शांति और सुखप्रद हैं। उसमें भेद-रेखा हो ही नहीं सकती। हां, ऐसा अवश्य है कि कुछ लोग आकर धर्म-प्रवचन सुनने में हिचकिचाते हैं। पता नहीं अन्दर आने देंगे या नहीं, प्रवचन सुनने देंगे या नहीं यह तो उनकी कमजोरी है जिसे फौरन निकाल फेंकना चाहिए। मैं तो यह चाहता हूँ धर्मलाभ सबको मिले। इसमें कोई अछूता न रहे। इसपर भी किसी को संकोच रहे तो ऐसा प्रोग्राम रखा जाय जिसमें सिर्फ अलग अलग जातियों के लोगों को उपदेश दिया जाय—धर्म का प्रचार किया जाय, लोग जो कि धर्म को भूल गये हैं उन्हें याद दिलायी जाय।

धर्म का प्रचार होगा पर वह उसी हालत में सम्भव है जब कि धार्मिक व्यक्ति अपना व्यक्तिगत आचरण उठायें। वे दूसरों को एक आदर्श दिखाएं, जिसपर हर व्यक्ति बखूबी आ सके। उनका कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए—वे ऐसे धर्म-प्रिय हों जिसका प्रभाव अपने घर, पड़ोस और गांव पर पड़े, जिसमें धर्म का अधिक से अधिक प्रसार और प्रचार हो। यही मेरी कामना है।

गंगाशहर,
१० अप्रैल '५३

४० : विश्वमैत्री

धर्म की मूल भित्ति है विश्व बंधुता, विश्वमैत्री। क्योंकि अपने परिवार के प्रति, अपने इष्ट मित्रों के प्रति मैत्री-भाव रखता है—यह कोई खास बात नहीं। पशु-पक्षी भी अपनी संतान के प्रति मैत्री-भाव रखते हैं। धर्म की भित्ति इतने तक ही सीमित नहीं रह जाती। उसका दायरा तो व्यापक और विश्व भर में व्याप्त है। उसकी भित्ति है—समूचे संसार के प्रति मैत्री-भाव रखना। प्रत्येक प्राणी को आत्म-तुल्य समझो। किसी को घृणा की दृष्टि से मत देखो। धर्म प्रचार के पन्थ चाहे अलग-अलग हों पर सबकी आत्मा परमात्मा-स्वरूप है। कोई किसी से कम नहीं। अतः किसी को नीचा मत समझो। तुच्छ न जानो। किसी के प्रति द्वेष-भाव न रखो। इसीलिए आप्त पुरुषों ने कहा—

> खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
> मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ॥

मैं सभी जीवों से क्षमा-याचना करता हूँ, सब मुझे क्षमा करें। सब जीवों से मेरी मैत्री है, मेरा किसी से वैर नहीं है। यह है धर्म की भित्ति, विश्व-मैत्री और विश्व बंधुत्व की शुरुआत जो इन दो पंक्तियों में अन्तर्निहित है। सबसे क्षमा-याचना की जाय यह ठीक है पर वह इकतरफी नहीं होनी चाहिये। इकतरफी क्षमा-याचना गुलामी की निशानी है। खुद क्षमा माँगे और दूसरों को क्षमा करे यह एक तत्त्व है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनायें—जीवन में उतारें।

आज इसकी कमी का कारण है कि घर-घर में भाई-भाई, सास-बहू, पिता-पुत्र, ननद-भौजाई में वैमनस्य-मनमुटाव प्रकट में दीखता है और जब वह तत्त्व ऊपर से दिखाने मात्र के लिए नहीं, अन्तर में सही अर्थ में उतरेगा, दुनिया देखेगी, विश्व में मैत्री का एक अनुपम उदाहरण।

गंगाशहर,
११ अप्रैल '५३

४१ : आत्म-वृत्तियों का परिष्कार करो

अप्पाचेव दमेयव्वो।
अप्पाहु खलु दुद्दमो॥
अप्पादन्तो सुही होई।
अस्सिं लोए परत्थ य॥

अर्थात्—आत्मा का दमन करो, आत्मा का दमन बहुत मुश्किल है, आत्मा का दमन करने वाला इह लोक और परलोक में सुखी होता है।

मनुष्य अनुशासक बनना चाहता है—दूसरों पर अनुशासन करना चाहता है। सास अपनी बहुओं को अपने इशारे से चलाना चाहती है, पिता अपने पुत्र को अपने काबू में रखना चाहता है। अनुशासन अच्छा है, बुरा नहीं। किन्तु उसको दूसरों पर सभी थोपना चाहते हैं अपने पर नहीं। अनुशासक बनने की भूख रखनेवाले खुद अनुशासित बनें, ऐसा नहीं सोचते। शासक बनने के लिये सब अपने-अपने अधिकार बताते हैं। साफ-साफ कहें या चिकनी चुपड़ी बातों में कहें आखिर लक्ष्य एक ही रहता है। पहला कहता है—इस पद के लिये हक तो मेरा है, दूसरा कहता है हक तो चाहे किसी का हो सब में बड़ा तो मैं ही हूँ, तीसरा कहता है—सबमें योग्य तो मैं हूँ, चौथा कहता है—पद चाहे किसी को मिले आखिर हक तो जिसका है उसका है अर्थात् मेरा है। इस प्रकार सब अपनी बातें करते हैं, किन्तु यह कोई नहीं कहता—हक तेरा है या उसका है। सब कुर्सी पर बैठना चाहते हैं कोई नीचे नहीं बैठना चाहते।

मनुष्य का चुनाव

एक राजा को पाँच सौ मनुष्यों की आवश्यकता थी। मंत्री को हुक्म दिया गया। पांच सौ का एक जत्था राजा के पास आया। राजा ने उन्हें मंत्री को सौंपा। मंत्री बड़ा होशियार था। उसने उनकी परीक्षा करने की ठानी। बात ही बात में सबको एक बन्द मकान में ले गया। मकान में एक पलंग रख दिया। मंत्री ने कहा – तुम सबको रात भर इस मकान में रहना है। तुम्हारे में जो बड़ा है—नायक है उनके लिये यह पलंग है, बाकी तुम सब जमीन पर लेट जाना। रातभर विश्राम करो। सुबह तुम्हारी व्यवस्था कर दी जायगी। सोने का समय आया। प्रश्न था पलंग पर सोने का, सबको चाह थी अतः अपने-अपने अधिकारों की दुहाइयां दी जाने लगी। आपस में झगड़ने रहे। सारी रात बीत गई। किन्तु कोई निर्णय नहीं हो पाया। मन्त्री समय-समय पर सारी खबरें पाता रहा। अन्त में सूर्योदय हुआ। मन्त्री कमरे के भीतर आया। सबको पद लिप्सु को देखकर उसको जो निर्णय करना था वह कर लिया और सबको मकान से

बाहर निकालने का आदेश दे दिया। दूसरी बार एक जत्था फिर आया। मंत्री ने उसी तरह उनलोगों की भी परीक्षा ली। रात को सोने के समय समस्या थी पलङ्ग पर कौन सोए? सब कहने लगे मैं इस बड़प्पन के योग्य नहीं हूँ। एक दूसरे से मनुहारें होने लगीं। किन्तु किसी ने भी पलङ्ग पर सोना स्वीकार नहीं किया। सब बड़े समझदार थे। सोचा—नींद क्यों नष्ट की जाय। कोई पलङ्ग पर सोना नहीं चाहता; बड़ा बनना नहीं चाहता। अपने सब समान हैं पलङ्ग को बीच में रख कर इसके चारों ओर सबको सो जाना चाहिये। मंत्री बाहर खड़ा-खड़ा सब कुछ देख रहा था। सबके पारस्परिक व्यवहार व बुद्धिमत्ता को देखकर वह बड़ा प्रभावित हुआ। सब अपने अपने स्थान पर लेट गए। सूर्योदय होते ही मंत्री वहां पहुँचा और सबको राजा के पास ले गया। मन्त्री ने राजा को सारी घटना सुनाई। फलतः सभी वहाँ रख लिये गए।

अणुव्रती बनने की कसौटी

आत्म-सुधार के लिये हम उपदेश देते हैं। लोगों के शिथिल जीवन में एक स्फूर्ति का संचार होता है। अपने जीवन की बुराइयों को छोड़ने के लिये तैयार होते हैं। कोई जुआ खेलने का, कोई मद्य मांस सेवन करने का, कोई झूठ बोलने का तो कोई दूध में पानी मिलाने का प्रत्याख्यान करता है, और हम कराते भी हैं। उस समय हमें यह सोचने की आवश्यकता नहीं कि यह सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी। क्योंकि इस प्रकार के त्याग करने में सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के बीच में कोई भेद-रेखा नहीं हो सकती। सम्यक्त्वी के साथ त्याग करना सोने में सुगन्ध है। किन्तु सम्यक्त्व की सीढ़ी तक बिरले ही पहुँच पाते हैं। हम ऐसे अनेक देहातों में जाते है जहाँ के लोग सम्यक्त्व को कुछ नहीं समझते। क्या उस स्थिति में उनको त्याग प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये? अणुव्रती बनने का मतलब भी यही है, अणुव्रतों में निर्दिष्ट अपनी जीवन-गत बुराइयों को छोड़ना। फिर चाहे वह मिथ्यात्वी हो या सम्यक्त्वी। यहाँ अणुव्रतियों का मतलब पंचम गुण स्थानवाले श्रावक से नहीं है किन्तु अहिंसा, सत्यादि अणुव्रतों की अणु-आंशिक मर्यादा को ध्यान में रखते हुए यह 'अणुव्रती' संज्ञा दी गई है। अणुव्रती बनने की कसौटी सम्यक्त्व या मिथ्यात्व नहीं—किन्तु जीवन-शोधन है। जीवन-शोधन की इच्छा रखने वाला व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। भगवान् महावीर के उपदेश सुननेवाले करोड़ों थे, किन्तु सम्यक्त्वधारी श्रावक सिर्फ १५९००० ही थे। सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति बहुत मुश्किल है। जैसा कि कहा गया है—

दृढ़ समकित घर थोडला, समकित विन शिव दूर
समकित समकित कर रह्या, पामे विरला शूर ॥

आज भी लाखों श्रावक कहलाते हैं किन्तु सम्यक्त्वी तो विरले ही हैं। धर्म के वातावरण में रहने से—त्याग प्रत्याख्यान करने से यह तो निश्चित ही है कि मनुष्य सुलभ-बोधि बनते हैं, सम्यक्त्व के नजदीक आते हैं। त्याग प्रत्याख्यान करने के लिये सब स्वतन्त्र हैं।

आज की दुनिया दोहरी चोट खा रही है। वैयक्तिक और सामूहिक बुराइयों से वह बिलकुल जकड़ी हुई है—इनसे मुक्त होना उसके लिये मुश्किल हो रहा है। इन बुराइयों के कारण उसका वर्णनातीत अध्यात्मिक पतन हुआ है। साथ-साथ में सामाजिक जीवन भी कितना बोझिल बना है, यह भी किसी से छिपी हुई बात नहीं। गृहस्थी में हिंसा परिग्रहादि से सर्वथा बचना कठिन हो जाता है। किन्तु जीवन को भारी बनाने वाले हिंसा-परिग्रहादि का पोषण तो किसी तरह की समझदारी नहीं। समय पलट गया। फिर भी मानव शताब्दियों पूर्व की बातों का स्वप्न देख रहा है। हम सब महसूस भी करते हैं किन्तु पहले कौन करे? प्रतिश्रोत में चलना कठिन होता है। हमारा उपदेश आध्यात्मिक पतन से बचने के लिये है। किन्तु जो सामाजिक पतन का कारण बनता है उसके लिये विरोध हो सकता है। दुनिया समझे और दोहरी चोट न खाए।

अणुव्रती-संघ

कई मनुष्य अणुव्रती-संघ को सामाजिक या राजनीतिक संघ कह देते हैं। अणुव्रती-संघ का समाज व राजनीति से सम्बन्ध, उनमें धँसी हुई बुराइयों को निकालने तक ही है। इसके आगे नहीं। संघ का मतलब समूह से है। अणुव्रतियों का समूह है—अणुव्रती-संघ जिसका हम नेतृत्व करते हैं। इसमें हमारे कल्प में कोई बाधा नहीं। लोग पूछा करते हैं इस संघ का प्रधान कार्यालय कहां है? कोई निर्णीत स्थान में तो है नहीं, जहां हम रहते हैं वही, अर्थात् चलता फिरता प्रधान कार्यालय है। जहाँ अणुव्रती हैं या हमारे साधु-साध्वियों का जाना होता है वहीं इसकी शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं और इसी तरह नई-नई स्थापित भी होती रहती हैं। इस प्रकार इसका प्रचार-प्रसार हो रहा है।

मत घबड़ाओ

मैं समझता हूँ आज के गिरे हुए जन-जीवन में अणुव्रती बनने में बहुत तरह की कठिनाइयाँ आती हैं। किन्तु उनसे घबड़ाओ मत, एक नये उत्साह को लिए आदर्श मंजिल की ओर बढ़ते जाओ। दुर्बलता जीवन के लिए अभिशाप है। दूसरों को डराना हिंसा है, उसी प्रकार डरना भी हिंसा है। डर डरनेवालों को डराता है। उसके सामने डट जानेवाले के लिये वह कुछ भी नहीं। धन-सम्पत्ति अशाश्वत है, क्षण

संसार है इसके लिए पागल मत बनो, अपने कर्त्तव्य को सम्भालो। अणुव्रतियों की संख्या में वृद्धि नहीं करनी है। चाहे अणुव्रती थोड़े ही हों, होनेवाले सब आत्म-साक्षी से शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से अणुव्रत नियमों का पूरा-पूरा पालन करें। अपने आत्मबल को जगाओ और कष्टों को झेलते हुए आगे बढ़ जाओ।

गंगाशहर
१९ अप्रैल '५३

४२ : ममत्व दुःखप्रद है

मूर्च्छा का दूसरा नाम ममत्व है, मोह है। यह बुरा है। इसको हम अपनापन या प्रेम भी कह सकते हैं। इस प्रेम का मतलब मैत्री है। विश्व-बन्धुत्व दुनियां भर के जीवों के प्रति भाईचारे का व्यवहार है। अपितु इसका मतलब राग अनुराग रखना है और इसी का नाम मूर्च्छा है, इसी तरह द्वेष भी ममत्व है। कहने का तात्पर्य है मूर्च्छा के दो प्रकार हैं—द्वेष-मूर्च्छा और राग-मूर्च्छा। व्यक्ति किसी से ईर्ष्या रखता है यह द्वेष मूर्च्छा है। और जब उसका कोई इष्ट मित्र इस संसार-सागर से चल बसता है, वह उसके लिए रोता है, झूरता है, छाती-माथा पीटता है यह राग-मूर्च्छा है। पर यह रोना लोगों की दृष्टि में ठीक माना जाता है यदि ऐसा न किया जाय तो उलटे सुनना पड़ता है कि "वह इसका क्या लगता था, यह चाहता है था कि वह मरे" आदि-आदि। पर जब वह खूब रोता है लोग कहते हैं—बड़ा दुःख हुआ है विचारे को। हाँ, तो ये दोनों मूर्च्छा हैं। द्वेष-मूर्च्छा लोगों की आंखों में खटकने लगती है, अतः लोक-व्यवहार में यह बुरी मानी जाती है, पर राग-मूर्च्छा लोक-व्यवहार में खटकती नहीं, अतः इसे बुरी नहीं मानते। पर वास्तव में दोनों ही ठीक नहीं हैं। द्वेष को जीतना राग की अपेक्षा सरल है। राग मीठा जहर है। इसे जीतना बड़ा कठिन है। इसीलिये तो—'वीतराग' शब्द कहा जाता है। 'वीत-द्वेष' तो नहीं कहा जाता। आज इसी राग-द्वेष के प्रवाह में दुनिया बहती जा रही है इसीलिए तो उसको जीवन भार महसूस हो रहा है। वास्तव में दुनिया में कोई भारी है तो वह मूर्च्छा है। मूर्च्छा से बढ़कर कुछ भारी नहीं है। एक व्यक्ति एक तालाब में या समुद्र में काफी देर तक ठहर सकता है उसे पानी का बिल्कुल भार मालूम नहीं देता जब कि उस पर सैकड़ों, हजारों मन पानी होता है। उस पानी के प्रति अपनापन नहीं। उसकी इच्छा यह रहती है कि मैं स्नान कर लूं और चला जाऊं। लेकिन यदि वही व्यक्ति एक घड़ा जिसमें २०-३० सेर पानी अँटता होगा लेकर चले तो उसे बड़ा भार महसूस होगा क्योंकि उस पानी के प्रति उसका अपनापन

है वह पानी को अपने घर ले जाना चाहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भार पानी में नहीं, अपनापन में है—ममत्व में है—मूर्च्छा में है।

दुःखप्रद

मूर्च्छा व्यक्ति के लिए दुःखप्रद है। जितने भी दुःख होते हैं उनके मूल कारणों में प्रायः एक कारण मूर्च्छा भी होती है। व्यक्ति को जब तक किसी से मूर्च्छा नहीं है वह उसके दुःख को देखकर व्याकुल नहीं होता। उसे उसके प्रति उतनी सहानुभूति नहीं होती जितनी अपने कहे जाने वाले व्यक्ति के प्रति होती है।

ममत्व से दुःख

एक सेठ जी को परदेश से तार आया—जल्दी आओ। वे सेठानी को शीघ्र आने का आश्वासन देकर रवाना हो गए। सेठ जी परदेश जाकर व्यापार में लग गए। धन कमाया, खूब कमाया और वे उसके लोभ में सेठानी से किये हुये वायदे भूल गए। धन का रूप ऐसा ही है। व्यक्ति एक अग्नि से दूसरी अग्नि जलाना चाहता है। वह चाहता है कि अबकी बार इस अग्नि में लकड़ी, घास या घासलेट डाल कर शांत कर दूँगा पर वह शान्त होने के बजाय और अधिक प्रज्वलित होती है। सेठ जी धन से धन की इच्छा शान्त करने का प्रयास करने लगे। पर इच्छा बढ़ती जाती। धन भी कमाते जाते। आखिर वे लखपति की सीमा को लाँघकर करोड़पति बन गए।

इधर सेठानी गर्भवती थी। उसे पुत्र हुआ। सेठ जी को लिखा गया। उनका जवाब आया—"मैं नाम-संस्कार पर आ रहा हूँ।" पर आना-जाना क्या था, वे धन के लोभ में सब कुछ भूल गए। सेठानी के पत्र जाते और जब सेठ जी को अपना वायदा स्मरण आता, वे उस पर विचार करते हुए सोचते—क्या है जाकर मना लेंगे और इससे भी ज्यादा हुआ तो माफी माँग लेंगे।

उधर पुत्र बड़ा होते-होते सगाई के काबिल हो गया। माता झुर-झुर कर पिंजर हो गई। उसे न भूख लगती न प्यास। मन उदास रहता। एक दिन उसकी आँखों से अश्रु धारा बह निकली। पुत्र ने देखा और कारण पूछा। उसने सारी बातें कह सुनाई।

पुत्र ने कहा, "माँ मैं जाता हूँ पिता जी को लाने। माता ने कहा—"नहीं बेटा मैं तुझे देखकर ही जी रही हूँ।" पर पुत्र न माना और वह साथ में एक दो नौकर, मुनीम आदि को लेकर पिता को लाने परदेश चला जिसे उसने कभी आँखों से देखा तक नहीं था।

उधर सेठजी ने विचारा बहुत पत्र आये पड़े हैं अब देश चला जाय। वे वहाँ से रवाना हुए। साथ में एक खासा बड़ा लश्कर था। ठाकुर, नौकर, मुनीम, गुमाश्ते काफी थे। चलते-चलते वे एक शहर में ठहरे। भाग्य से कुँवर साहब भी वहीं आ गये। सेठ और पुत्र—कोई किसी को जानते न थे। मुनीम जी भी नये रखे गए

थे और उनके ठाट के आगे इनकी बिसात भी क्या थी। बिचारे कहीं किसी कमरे में ठहर गए।

रात हुई सेठ जी बड़े ठाट से सो गये। उधर कुँवर साहब भी अपने कमरे में सोये। यकाएक उनके पेट में दर्द हुआ और वह बढ़ता गया। कुँवर रोने और चिल्लाने लगा सेठ जी की नींद टूट गई। कड़कती आवाज में आदेश दिया—"कौन हल्ला कर रहा है? चुप करो।" पैसे के चाकर दौड़े। उन्होंने उसे चुप हो जाने के लिए कहा। पर चुप हो जाना वश की बात नहीं थी। वह जानबूझ कर तो नहीं रो रहा था। थोड़ी देर बाद वही रोना चिल्लाना फिर होने लगा। सेठ जी की इस तरह दो तीन दफा नींद टूटी। वे क्रोध और धन के मद में अन्धे बन गए। आदेश दिया कौन बेवकूफ इतनी देर हुई मानता नहीं—निकाल दो बाहर यहाँ से। हुकम निकलने की देर थी बोरिया-बसने बाहर फेंक दिये गए। मुनीम की आँखों से आँसू बह निकले। कुँवर तो बचा ही था वे सब क्या करते। सड़क पर पड़े रहे। कुँवर के पेट का दर्द बढ़ता गया, अधिक बढ़ता गया और अन्त में वह हमेशा के लिए मिट गया—दर्द नहीं मिटा कुँवर मिट गया। सेठ जी सुबह जल्दी उठे। अक्ल ठिकाने आई। नौकरों से पूछा—"रात में कौन रो रहा था?" उन लोगों ने कहा—"एक बच्चे का पेट दर्द कर रहा था।" "अच्छा! अब कहाँ है वह?" "गली में।" देखो अब उसकी हालत कैसी है? ठीक न हो तो अपने पास दवा है उसे दे दो।" (नौकर पता लगाकर आया)—"साहब वह तो मर गया।" "हैं! मर गया!! वह कहाँ का था!" "अमुक........ नगरी का" "अच्छा! वह मेरी नगरी का था, चलो देखूं वह कौन था?" सेठ जी उसके पास आये। उन्हें पहले ही शक होने लगा। कहीं मेरा लड़का तो नहीं है। नाम व पिता का नाम पूछा। सेठ जी का शक सच्चा निकला वे रोने लगे, छाती पीटने लगे। लड़के को छाती से चिपकाया। अब रोना क्या था? मुनीमजी दंग रह गए। क्या बात है उसने नौकरों से पूछा—ये सेठ जी कौन हैं? जब उसे यह पता चला ये मेरे ही सेठ हैं उसने रोते-रोते सारी कथा कह सुनाई—इस तरह यह आपको घर लाने चला था। सेठ जी विचार रहे थे मैं किस मुँह को लेकर घर जाऊँ? खैर। इस किस्से को यहीं छोड़िये इसे आगे जितना भी चाहें बढ़ाया जा सकता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ममत्व दुःखप्रद है। ममत्व से राग-द्वेष बढ़ते हैं। सेठ जी को लड़के के प्रति पहले ममत्व नहीं था अतः दुःख भी नहीं हुआ। जब उन्होंने उसे अपना जाना उन्हें महान् दुःख हुआ।

गंगाशहर
१९ अप्रैल '५३

४३ : तत्त्व आचरण में रहता है

तत्त्व शब्दों में नहीं आचरण में रहता है। विकास की रट से विकास नहीं होता। उसके अनुकूल आचरण होना चाहिये। शास्त्रों में विकास के लिए चार सूत्र कहे गये हैं—

लज्जा दया संजम बंभचेरं,
कल्लाण भागिस्स विसोहिठाणं।

लज्जा एक विशिष्ट गुण है। इसका अर्थ भय या कायरता नहीं। यह अन्याय एवं दुराचार से बचने का सुन्दरतम उपाय है। सात्त्विक भय या अनुशासनात्मक भय सबके लिए आवश्यक है। विद्यार्थियों के लिए तो अत्यन्त आवश्यक है। क्रूर, संयम हीन और विलासी विद्यार्थी अपना मूल लक्ष्य नहीं साध सकता।

विद्यार्थी जीवन टेढ़ी खीर है। वहाँ साधना का जीवन व्यतीत करना होता है। विद्यार्थियों के लिए कई नियम आवश्यक हैं, जिनका पालन किये बिना विद्या-अर्जन नहीं हो सकता। वे हैं खाद्य संयम, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह और अनुशासन जीभ पर नियंत्रण किये बिना दमन का पाठ अधूरा रहता है, ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रह से खाद्य-संयम पृथक् नहीं है। तो भी उसे उनसे पहले और पृथक् बनाना आवश्यक है क्योंकि वह उनका मूल मंत्र है। अनुशासन की कमी से आज क्या बीत रहा है इसे कौन नहीं जानता। विद्यार्थी को सात्त्विक वृत्ति रखनी चाहिए। आत्मानुशासन उसका जीवन-स्तम्भ होना चाहिए। भगवत्-वाणी में विनीत शिक्षार्थी का चरित्र यों हैं। बिना प्रयोजन न बोले यानी बिना प्रयोजन न बोले, प्रयोजनवश बोले तो असत्य न बोले, क्रोध को, जीते और प्रिय-अप्रिय सभी को सहन करे।

४४ : मानवता

आज यहाँ उपस्थित लोगों ने मानव योनि पाई है—मानव गति पाई है। पर देखना यह है कि मानवता पाई है या नहीं—मानव में मानवता है या नहीं। कहने का तात्पर्य है कि वह नाम मात्र का मानव है या वास्तव में मानव है।

मानवता अच्छे रूप और रङ्ग में ही नहीं होती। मानवता चटकीली, भड़कीली पोशाक और सौन्दर्य से परिपूर्ण शरीर में ही नहीं रहती। मानवता बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं

और आलीशान भवनों में ही नहीं रहती। मानवता सुन्दर निबन्ध और लच्छेदार भाषा में दिये जानेवाले भाषणों में ही नहीं रहा करती है। मानवता बड़े कल-कारखाने और उद्योग धन्धों में ही नहीं रहा करती। मानवता बाहर के आडम्बरों में नहीं रहती, वह तो अन्तर की वस्तु है, वह आत्मा में होनी चाहिए।

मानवता आत्मा में होनी चाहिए, यहाँ सहसा प्रश्न उठेगा—आखिर मानवता है क्या? मानवता कहते किसे हैं? मानवता संयम और सदाचार है। मानवता त्याग और प्रत्याख्यान में है। मानवता सत्य और अहिंसा में है। मानवता ब्रह्मचर्य और अचौर्य में है। मानवता अपरिग्रह में है। मानवता सन्तोष और क्षमा में है। मानवता सबको आत्मतुल्य समझने में है। वह क्रोध और मान में नहीं हो सकती, ईर्ष्या और मत्सर में नहीं होती, राग और द्वेष में नहीं रहती। वह सद्गुणों का संयोग मानव के अन्तरस्थल में रहती है।

कहने की आवश्यकता नहीं होगी कि आज का जन-जीवन कैसा है? उसमें नाना बुराइयाँ घर करती जा रही हैं। जीवन गिरता जा रहा है। आज मानव मानवता की जगह दानवता अपनाने लगा है। वह अपने मौलिक तत्त्वों को भूल, धन की धुन में भटक रहा है। उसके दिल में आग धधकती है—हाय धन! हाय धन!! उसके पास धन आये। जैसे-तैसे आये। चाहे उसके लिये शोषण हो, किसी के मुँह का ग्रास छीनना हो। जो कुछ हो धन आये जिससे उसे अधिक से अधिक सुख-सुविधाएँ मिले। समझ में नहीं आती—आखिर धन का करना क्या है? उसके नीचे दबकर मरना शायद ही कोई पसन्द करता होगा। मनुष्य को खाने के लिए रोटी, पीने के लिए पानी और पहनने के लिए कपड़ा चाहिए। फिर धन की यह भूख क्यों? पहले भी धनवान होते थे और आज भी होते हैं। वे अनाज की जगह हीरे-पन्ने तो नहीं खाते हैं। यदि नहीं खाते हैं तो फिर धन की भूख क्यों? पूँजी और पूँजीपति आज भी हैं और पहले भी थे पर यह शब्द 'पूँजीवाद' शायद ही पहले था। क्या कारण है आज वे निर्धनों की आँखों में कांटे से लगते हैं। मुझे इसका एक ही कारण दीखता है-- पहले लोगों में पूंजी के प्रति ममत्व नहीं होता था। वे पूंजी को पूंजी समझते, जिसे आज 'सब कुछ' समझा जाने लगा है। पूँजीपति सोचते हैं—हमारी पूंजी बनी रहे। निर्धन सोचते हैं ये हम पर अन्याय करते हैं—शोषण करते हैं। स्थिति विषम है फिर भी इसमें कोई शक नहीं होगा कि निर्धन, निर्धन न रहकर धनवान बनना चाहता है। उसकी भी यह इच्छा रहती है—ज्यादा से ज्यादा धन मिले। यदि आज वह धनवान होता तो किस धनवान से कम रहता। क्या वह ब्लैक और शोषण न करता? वह भी ऐसा ही करता और चाहता कि जैसा हूँ वैसा बना रहूँ। आखिर निष्कर्ष यह

निकलता है कि सबको पूंजी की भूख है और पूंजी की भूख से दानव बने मानव में मानवता लाने का तरीका यह नहीं है कि उसकी पूंजी छीन ली जाय या निर्धन पूंजीपति बने अपितु उसका तरीका है—मानव का हृदय-परिवर्तन किया जाय। उसे संयम और संतोष का पाठ पढ़ाया जाय। वह पूंजी से आनेवाली विषमताओं को शान्त करेगी और उससे आनेवाली दानवता से बचाकर मानव में मानवता लाएगी।

मानवता के लिए चरित्र का उत्थान आवश्यक है। मानवता की कमी का एक कारण चरित्र-पतन भी है। आजके मानव में चरित्र की बड़ी कमी है। उसका आचार सद् की जगह असद् होता जा रहा है। आज वह शराब का स्वाद चखता है—उसमें सुख और शांति की अनुभूति करना चाहता है। और फिर वह चाहे गन्दी मोरियों में ही क्यों न पड़ा रहे और उसको सफाई कुत्ते ही क्यों न करें। आज वह चोरी-दुष्ट वृत्ति और व्यभिचार में फंसता जा रहा है और—

दुनिया की जूंठन वह खाता,
वेश्या से प्रेम किये जाता।
पर नारी जिसको प्यारी है,
व्यभिचारी वंश लजाता है॥
ऐ मानव! मानव जीवन में···

वह व्यक्ति जो जूठन के लगने मात्र से अपने को अपवित्र मानता है यदि वेश्या से प्रेम करता है तो दुनिया भर की जूंठन खाता है। वह उस गन्दी मोरी में गिरता है जिसमें सारे शहर का मैला आकर गिरता है; उसे शर्म नहीं आती, अपने वंश को लजाते। अस्तु।

अपने जीवन की बुराइयों को खत्म कर दो, बस मानवता तुम से दूर नहीं रहेगी। मानव और मानवता एक दूसरे के सन्निकट होंगे और इसी में मानव-जीवन की सार्थकता निहित है। यह वह सुख होगा जिसके लिए मानव आज आँखें फाड़ रहा है। यह शान्ति होगी जिसमें श्वास लेने के लिए वह आतुर है। इसे अपना कर अपने जीवन को सरस, सात्त्विक और सार्थक बनाइए।

गंगाशहर
२५ अप्रैल '५३

४५ : शत्रु-विजय

मानव शत्रुओं से घिरा है। वह शत्रुओं को परास्त करे और इस तरह परास्त करे, कि वे फिर श्वास न ले सकें। इसके लिए वे उनका नाश करनेवाले हथियार रखें और उनसे उनका कत्लेआम कर दें। लोग शंका करेंगे—आप आज यह क्या कह रहे हैं? कत्लेआम की बात कैसे कह रहे हैं, जिसके चित्र आज भी आंखों के सामने नाच रहे हैं, जब एक कौम ने दूसरी कौम के लोगों को सब्जी की तरह काट डाला था। मैं कहता हूँ यदि आपने उन्हें मानव माना है तो भूल की है। शत्रु बाहर नहीं, अन्दर ही हैं। वह एक नहीं, दो नहीं, दस हैं। उनमें से एक को जीता बस पांच को जीतने में देर न लगेगी और पांच को जीता तो दसों का खात्मा होगा ही। समस्या है कि पहले किस पर हमला किया जाय—किसे जीता जाय? व्यक्ति भोजन करने बैठता है। गरम गरम भोजन थाल में परोसा जाता है, उस गर्म भोजन को खाने के लिए वह बीच में हाथ नहीं डालेगा, जहां खिचड़ी आदि और ज्यादा गर्म रहती है। वह एक किनारे से पहले-पहल एक उंगली से उसे चाटता है, फिर दो, तीन और इस तरह क्रमशः पूरा ग्रास लेता हुआ थाली सफाचट कर देता है। इसी तरह हमें पहले थोड़े से शुरू करना चाहिए। सिर्फ एक को जीतना चाहिए और वह एक है मन। मन को जीता बस अब पाँचों इन्द्रियों को जीतने में देर नहीं लगेगी। पाँचों इन्द्रियों को जीता चार कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतते देर नहीं लगेगी और इनको जीतने पर यही समझिए कि शत्रुओं का नाश आ गया और आजादी, असली आजादी में देर नहीं है।

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा।
ते य ते अहिगच्छन्ति, कहं ते निज्जिया तुमे॥

अर्थात् हे गौतम! तू अनेक सहस्र शत्रुओं के बीच में है, जो तुझ पर प्रहार करने के लिए सन्मुख आते हैं, तूने उन्हें कैसे जीता है?

एगेजिए जिया पंच, पंचजिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं॥

अर्थात् हे केशि! एक को जीतने से पाँच को जीता जाता है। पाँच को जीतने से दस को जीता जाता है और दस को जीत कर मैं सर्व शत्रुओं को जीतता हूँ।

बीकानेर
२५ अप्रैल '५३

४६ : धर्म तुम्हें शांति देगा, सुख देगा

आज के विश्व में झूठ और हिंसा का बोलबाला है। बच्चे-बच्चे की जबान पर झूठ और व्यवहार में कपट है। मानो वह ग्रीष्म ऋतु की लू है जो, कहीं भी जाइए, सब जगह व्याप्त मिलेगी। यही कारण है कि आज का जन-जीवन दुर्वह होता जा रहा है। पृथ्वी वही है, सूर्य भी वही, उदय और अस्त अब भी होता है, सब बातें वैसी ही हैं जैसी पहले थीं। पर आज का रंग-ढंग वैसा नहीं जैसा पहले था। अहिंसक और सत्यवादी देखने को नहीं मिलते, फिर पतन हो तो कौन बड़ी बात! वह तो स्वयं का आमन्त्रित होता है। इसका कारण है, किसान जो, पहले धनवान तो न होते थे पर, सुखी होते थे आज न तो धनवान हैं और न सुखी ही। इसी तरह सभी को सुख नाम के लिए भी नहीं मिलता। धनवान तो और भी ज्यादा दुःखी है। अस्तु।

आज चरित्र-आचरण का पतन हो रहा है, उसे उठाओ। सत्य और अहिंसा को अपनाओ, जिससे जीवन सात्त्विक बने, उसमें कुछ सरसता आए, उसकी कुछ सार्थकता हो अतः धर्म का अनुकरण करो। उसकी शरण में आओ। वह तुम्हें शांति देगा, सुख देगा। यहाँ सहसा प्रश्न उठेगा—धर्म कौन-सा अपनाया जाय? क्षत्रिय तलवार के बल पर संग्रामस्थल से सुरक्षित निकल जाय, या ब्राह्मण तिलक-छापा लगा ले, पाग में एक पतरा रख ले और फिर शूद्र को धर्म करने का अधिकार ही नहीं—ये सब भेद-रेखाएँ धर्म में नहीं हो सकतीं। वे समाज और समाज-व्यवस्था में हो सकती हैं। धर्म एक है और वह सबके लिए है। उसके दरबार में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं हो सकता। उसमें जाति पाँति की लकीर नहीं होती। उसका दरबार प्रत्येक व्यक्ति के लिये खुला है, और रहेगा। धर्म के लिये धन की जरूरत नहीं होती। वह तो आत्मा की चीज है, आत्मा से होता है। यदि धर्म में धन की आवश्यकता हो तो उसे फिर धनवान ही कर सकेंगे, गरीबों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं रहेगा। अपने इस धर्म में धन की कोई आवश्यकता नहीं। ज्यादा से ज्यादा अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपनाओ और अपने जीवन में उतारो, बस शांति और सुख तुम्हारे साथ-साथ रहेंगे।

नाल
२० अप्रैल '५३

४७ : नैतिकता के स्तर को उठाइए

प्रथम महायुद्ध के बाद इस तरह की मंदी आई कि लोगों ने जितना कमाया लगभग उतना ही खो दिया। द्वितीय महायुद्ध के बाद इतनी तेजी आई कि कौड़ी के मूल्य का

सामान सैकड़ों रुपये का हो गया। लोग उस पुरानी मंदी को भूल गये। वे सोचने लगे होंगे अब मंदी आयेगी क्या? पर बनावटी भाव कब तक टिक सकते हैं। फौरन एक ऐसी मंदी आई जिसकी कल्पना तक नहीं की गई थी। नतीजा लोगों के सामने है। यह मन्दी एक समस्या बन गई। समस्याएँ मनुष्य के सामने ही आती हैं। वे पशुओं के सामने नहीं आया करतीं। पशुओं के सामने जब समस्या आती है तो वे मर जाते हैं। वे समस्या से लड़ना नहीं जानते। ज्योंही घास आदि नहीं हुई कि वे मर गये। पशु समस्या को हल करना नहीं जानते। मनुष्य मरना नहीं चाहता, वह समस्या से लड़ता है। आज व्यक्ति-व्यक्ति के सामने नाना प्रकार की समस्याएं हैं। आर्थिक, सामाजिक आदि समस्याएं गौण हुआ करती हैं, मुख्य नहीं। इस समय मुख्य समस्या, जो लोगों के सामने है, वह, नैतिकता की है। आज मानव का नैतिक स्तर गिरता जा रहा है। मानवता नाम की वस्तु आँखों से ओझल होती जा रही है ऐसे समय में अणुव्रत-योजना ही एक ऐसी योजना है जो खोयी हुयी मानवता से मानव को मिलाती है और उसे नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। उसे गिरने से बचाकर उठाती है। अणुव्रतों को अपनाने से कुछ आर्थिक नुकसान होगा भी तो वह नैतिक लाभ के सामने गौण है—तुच्छ है। आप खुशी से इसे अपनाते जाइये और दूसरों के लिये अनुकरणीय बनते जाइये।

नाल
२ मई '५३

४८ : धर्म की आत्मा अहिंसा है

भाइयो! अहिंसा को जीवन में उतारो, रग-रग में रमाओ। अहिंसा को आदेय और उपादेय माननेवाले लोगों के सामने ऐसा उपदेश देते कुछ विचार आता है जो जन्मकाल से ही अहिंसा को मानते हैं, जिनकी पीढ़ियाँ अहिंसा को मानती आई हैं, अहिंसा का नाम सुनने मात्र से जिनकी छाती फूल जाती है। जो अहिंसा को अपना ध्रुव सिद्धान्त मानते हैं, जिसके साधु-सन्त और दूसरे शब्दों में धर्म-गुरु अहिंसा के रङ्ग में रंगे हुए हैं, मजीठ-सा रंग उनके रग-रग में चढ़ा हुआ है—उनके अनुयायियों के सामने अहिंसा का उपदेश देते विचार होना चाहिये। देखना यह है कि जिस अहिंसा का साधु और सन्त पालन करते हैं, वह तुम लोगों के जीवन में क्या स्थान रखती है? तुमने उसे अपने जीवन में कहाँ तक उतारा है? तुम्हें अहिंसा का गर्व मात्र है या सच्चा गौरव है? धर्म का प्रचार साधु सन्तों के बनिस्पत उसके अनुयायी कुछ अधिक कर

सकते हैं। इसे रुपये पैसे के जरिये प्रचार करना गौण है। मेरे कहने का यह तात्पर्य है कि अनुयायियों का जीवन, धर्म से ओत-प्रोत होना चाहिए। उनमें धर्माभिरुचि होनी चाहिए। उन्हें धर्म के प्रति जागरूक रहना चाहिए। उनके जीवन पर धर्म की एक गहरी छाप होनी चाहिए, जिनके आचार-विचार और व्यवहार को देखने मात्र से लोगों पर एक धार्मिक प्रभाव पड़े। अतः अपने जीवनको उठाइए और लोगोंके लिये भी एक प्रशस्त मार्ग तैयार करिए।

अहिंसा धर्म का गौरव है। उसकी जान है। धर्म में से एक अहिंसा को निकाल दिया जाय तो फिर और कुछ न बचेगा। सिर्फ अस्थि-कंकाल रह जायगा। जैसे आदमी का शरीर रहता है—मृत शरीर और आत्मा चली जाती है। इसी तरह धर्म की आत्मा अहिंसा है। अहिंसा नहीं तो धर्म नहीं। धर्म है तो उसमें अहिंसा रहेगी।

धर्म पर सबका अधिकार है। इसी तरह अहिंसा भी हरेक कर सकते है। वह किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष के लिये नहीं, वह सबके लिये हैं और इसका सिद्धान्त है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' विश्व भर को आत्मतुल्य समझना। आपलोगों ने यदि इस सिद्धान्त को अपना लिया तो न वैमनस्य रहेंगे, न आपसी कलह। चारों ओर सुख शान्ति होगी।

बीकानेर
२ मई '५२

४९ : अहिंसा

धार्मिक क्षेत्र में अहिंसा का सबसे पहला स्थान है। अन्य व्रत तो अहिंसा को पुष्ट करने के लिये हैं।

किसी का प्राण न लेना मात्र ही अहिंसा नहीं। अहिंसा है 'स्वयं का हिंसा से बचना'—पग-पग पर जागरूक रहना, कि मुझ से किसी प्रकार की हिंसा न हो जाय। अपने आपको बचाने के लिये तो सभी सचेष्ट रहते हैं; पर हिंसा से अपने आपको बचानेवाले विरले ही मिलेंगे। सब्जी छीलनेवाला व्यक्ति भी ख्याल रखता है कहीं हाथ न कट जाय। पर कौन ध्यान रखता है कि चलते-फिरते उठते-बैठते मुझसे किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो, जिससे मैं हिंसा का भागी न बन जाऊँ।

संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं कोई मरना नहीं चाहता। चींटी तक मरने का अन्देशा पाते ही भाग खड़ी होती है। उसे जीवन प्रिय है। उसे क्या सभी को

जीवन प्रिय है। चाहे कोई व्यक्ति कितना ही दुःख में क्यों न हो वह मरना नहीं चाहेगा। शब्दों से मरने की इच्छा व्यक्त की जा सकती है पर वास्तव में मरा नहीं जाता।

एक बुढ़िया बड़ी दुखियारी थी। कोई सन्तान नहीं। काम-काज, सेवा सुश्रुषा करनेवाला भी कोई नहीं। कानों से पूरा सुना नहीं जाता तो आंखें भी साथ क्यों देने लगी? सारा शरीर शिथिल हो चुका था। उठने तक की शक्ति नहीं, चलना तो दूर की बात। प्रत्येक के आगे कहती "विधाता मुझे मौत नहीं देगा, वह भूल गया है।" एक दिन बुढ़िया खाट पर पड़ी थी। एक काला नाग झोपड़ी में निकल आया। बुढ़िया को उस नाग झांकी-सी पड़ी। वह उठी और हल्ला करती हुई भागी—"मुझे नाग काट खाएगा, बचाओ, मैं मरी'। अड़ोसी पड़ोसी इकट्ठे हुए। बात का पता लगने पर वे बोले—"बुढ़िया! तेरी प्रार्थना पर विधाता ने तेरे लिए मौत भेजी थी।" बुढ़िया बोली—"मौत ऐसी है तो मैं मरना नहीं चाहती।"

कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी मरना नहीं चाहता। अतः मानव किसी को न मारे, वह अपने आपको हिंसा से बचाये। कोई दास बनना नहीं चाहता, फिर जबरन दास क्यों बनाया जाय? बलात्कार करना हिंसा है। आज कुछ व्यक्ति चाहते हैं कि जैनों में एकता आये। मैं भी चाहता हूँ अनेकता न रहे। इसके लिये मुझे एक उपाय दिखता है—कोई सम्प्रदाय किसी भी सम्प्रदाय पर आक्षेपात्मक आरोप न लगाए। अपने पथ का प्रदर्शन करना, लोगों में प्रचार करना और बात है, तथा किसी का खण्डन करना और बात। कम से कम ऐसा कोई कार्य न किया जाय जिससे किसी के प्रति क्षोभ पैदा हो सके। यदि ऐसा वातावरण बना तो सद्भावना बढ़ेगी और हिंसा के लिये स्थान मिलना मुश्किल होगा। अस्तु।

किसी को मत मारिये, मत सताइये। प्रत्येक बात का उपयोग करिये, उपयोग रखिये। उपयोग रखने से कितने ही पापों से बचा जा सकता है। उपयोग परम धर्म है। एक साधु उपयोग पूर्वक देख-देख कर चलता है। वह हिंसा से हर वक्त सचेष्ट रहता है। ऐसी हालत में यदि संयोगवश कोई जीव पाँव के नीचे आकर दब भी गया तो वह उसके लिये हिंसक नहीं होगा। लेकिन एक साधु असतर्कता पूर्वक चलता है, कोई जीव न भी मरा तो भी वह हिंसक है, वह अहिंसा के प्रति लापरवाह है। उसने इसका खयाल नहीं रखा कि मुझ से किसी प्राणी का नाश न हो जाय। अतः इस मानव-जीवन का उपयोग कीजिये। त्रस तथा स्थावर सभी प्रकार के जीवों के प्रति समभाव रखिये। एक गृहस्थ को अपने आवश्यक कार्यों के लिये हिंसा करनी पड़ती है। पर वह उसे हिंसा समझे। उसके लिये अनुताप करे और निरर्थक हिंसा से तो अवश्य ही बचे।

मारना हिंसा है इसी तरह किसी को मरवाना या इस तरह का अनुमोदन करना भी हिंसा है, पाप है। चोरी करनेवाला चोर है; करवाने वाला भी चोर है। चोर चोरी करने आये और घर में घुसने के लिये किसी से मदद मांगे, इस तरह की मदद देनेवाला भी चोर है। अतः न किसी को मारें, न तकलीफ पहुँचाएं और न किसी को मरवाए या तकलीफ पहुँचवाएँ। पूर्ण रूपेण सचेष्ट रहें। उपयोग रखें, आवश्यकता वश जितनी भी हिंसा आदि करनी पड़े इसके लिये अनुताप करें।

बीकानेर
४ मई '५३

५० : सत्य और अहिंसा सभी का धर्म

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणिय।
अहो दुक्खो हु संसार, जत्थ की संति जंतुणो॥

संसार दुःखों का आगार है। वह अशान्ति का भाण्डार है। सबसे भीषण दुःख है— जन्म का। फिर जरा, रोग, शोक, सन्ताप और मृत्यु के दुःख हैं। इन दुःखों के सामने सुख है क्या? आज मानव इन सब दुःखों से क्लान्त है, त्रस्त है। ऐसी हालत में उसे शान्ति कैसे मिले? वह अत्राण किसकी शरण में जाये?

पहले प्रत्येक मोहल्ले और गांव में एक मुखिया हुआ करता है जो अपने घर की ही नहीं गांव भर की देखभाल करता है। उनके झगड़ों को सलटा देना है। लोग भी उससे एक तरह से त्राण पाते हैं। उसकी बात को आदर पूर्वक मानते हैं। आज गांव की देख-रेख तो दूर, घर के लोग तक कहना नहीं मानते। अब मानव किसकी शरण जाये?

सद्गुरु की पहिचान

भाइयो! सद्गुरु की शरण जाओ। उनके निर्देशित मार्ग पर चलो। इसीसे तुम सभी त्राण पाओगे। उस मार्ग पर चलने से सभी को सुख-शान्ति मिलेगी। पर सद्गुरु है कौन? उसकी पहचान क्या है? जैनी साधु सद्गुरु हैं या सनातनी, आदि आदि प्रश्न सहसा उठ सकते हैं।

सद्गुरु किसी जाति विशेष या वर्ग विशेष से सम्बन्धित नहीं हुआ करते। वास्तव में जैन और सनातन तो जाति हैं, वर्ग हैं, जो सामाजिक क्षेत्र में अपना अपना अस्तित्व रखती हैं। धर्म एक है और सबका है। वह धर्म है सत्य और अहिंसा। बताइये किसका धर्म नहीं है यह? झूठ बोलने वाला भी सत्य की प्रशंसा करेगा। वह

अपने आपको झूठा मानने के लिए कभी तैयार नहीं होगा। इस तरह सत्य और अहिंसा सबका धर्म है। जो लोग यथा शक्ति इसका पालन करते हैं वे अणुव्रती कहलाते हैं। कुछ इनका पूर्णरूपेण पालन करते हैं। जो पूर्ण रूपेण सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतों का पालन करते हैं वे ही सच्चे साधु हैं। वे रागद्वेष से परे रहते हैं। वे साधु हैं, सद्गुरु हैं, सच्ची राह बताने वाले हैं। उनकी शरण में जाने से मानव त्राण पाता है। पतनोन्मुख मानव उठता है। दग्ध मानव को शान्ति मिलती है। जिनके दर्शन मात्र मंगल हैं, जिनके संसर्ग से पापी पवित्र और पतित, पावन बन जाते हैं, विपथगामी स्वपथगामी या सत्पथगामी बन जाते हैं, ऐसे सद्गुरु की शरण में जाओ। उन्हें पहिचानो, फिर वे किसी भी सम्प्रदाय या धर्म में हों, उनका शिष्यत्व स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं है।

बीकानेर
५ मई '५३

५१ : चरित्र जीवन का अलंकार है

सद्गुरु की शरण में जाकर किस तरह दिग्भ्रमित मानव सही रास्ते पर आ जाता है इसका एक अनुपम उदाहरण है। राजा स्योदास—अयोध्या का राजा था। राजा होने से कोई बड़ा नहीं हो जाता, बड़ा होना चरित्र की महानता से ही संभव है। यदि चिरसपूज्य तो वह है त्याग और चरित्र। बिना चरित्र के उसका कोई मूल्य नहीं। आज भारत स्वतन्त्र है फिर भी यहाँ स्वार्थतन्त्र का बोलबाला है। धन को प्रश्रय दिया जाता है—धन को प्राथमिकता मिलती है। जबतक त्याग और चरित्र को प्राथमिकता नहीं दी जायगी, वह सही अर्थ में स्वतन्त्र नहीं। लोगोंकी दृष्टि में वह स्वतन्त्र है, उस पर विदेशी सत्ता का शासन नहीं। सिर्फ विदेशी-सत्ता नहीं, बस इससे कोई देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता। वह अपने आपकी दृष्टिमें आज भी बन्धनों से जकड़ा है। देश की स्वतन्त्रता निर्भर करती है देशवासियों के चरित्र पर, उनके नैतिक उत्थान पर, उनकी संयम वृत्ति और त्याग पर। स्योदास में ये चीजें देखने तक को नहीं थीं। वह अभ्यस्त था शराब और मांस का। वह शराबी था और उसमें यही खराबी थी। उसे ऐसी लत पड़ गई थी कि बिना मांस और पतझर के पानी के एक दिन भी नहीं निकल सकता।

अठाई पर्व आया। देश भर में राजाज्ञा घोषित कर दी गई—आठ दिन तक कोई पशु न काटा जाए। पर राजा का आहार किस प्रकार चले। मांसखोर मांस न खा सके, यह कैसे संभव हो? राजाके लिए शिकार आया। एक दिन आया, दो दिन आया, तीन

दिन आया आखिर मन्त्रिमण्डल को पता चल गया। बात छिपी कब तक रहे। मन्त्रिमण्डल ने विचार किया—राजाज्ञा को यदि राजा ही भंग करेगा फिर पालेगा कौन? बनाने वाला ही यदि न पाले तो क्या वह सिर्फ जनता के लिए ही है? उन लोगों ने राजा को समझाया। वह क्यों मानने लगा। मन्त्रिमण्डल ने सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली और अर्द्ध-रात्रि के अन्धकार में राजा को शहर के बाहर कर दिया। राजा गहरी निद्रा में सोया था। उसे क्या पता कि वह पूर्वकृत कुकर्मों का फल पाने जा रहा है।

सुबह हुआ। राजा जगा, चारों ओर दृष्टि डाली। वह स्वप्न सा महसूस करने लगा—मैं कहां हूं? सोया हूं या जाग्रत हूं? यह राजमहल है या शहर के बाहर की गन्दगी से परिपूर्ण मैदान है? समझते देर नहीं लगी, क्या बात है? राजमहल छूटा, राजसीठाट और सुख-सुविधाएँ छूटीं, यहां तक कि सारा राज्य छूटा। सुख-शैया पर सोनेवाला राजा दर दर भटकने लगा। बीहड़ जंगल, संकरी पगडण्डियां सब जगह भटकता रहा, शांति के लिए—सत्पथ की प्राप्ति के लिए। आखिर कब तक भटकता रहता? वह थक गया। ज्यों ही वह थोड़ी दूर और चला होगा उसे एक मूर्ति दिखाई पड़ी। मूर्ति नहीं—मूर्ति की तरह ध्यानस्थ एक वृद्ध साधु दिखाई पड़ा। देखने मात्र से उसे शान्ति मिली। शान्ति के चिह्न मालूम दिये। वह साधु के सामने सत्पथ दिखाने के लिए प्रार्थना करने लगा। साधु ने आँखें खोलीं और देखा—सामने एक मनुष्य खड़ा है जिसकी आंखें लाल सुर्ख हैं। उन्हें समझते देर नहीं लगी—यह कोई नशेबाज है।

राजा बोला—"महाराज! मैं अयोध्या का राजा था। अब दर दर का भिखारी हूं। आप उद्धारक हैं तो मैं अधम हूं। आप तारक हैं तो मैं डूबा हुआ हूं। मुझे उबारिये।"

साधु बोले—"शराब और मांस को छोड़ दे।"

राजा बोला—"महाराज! अब फिर इस जीवन में इन्हें नहीं रख सकता।"

कहने का यह तात्पर्य है कि वह राजा जो मांस और शराब का अनन्य था साधु—सद्गुरु के सदुपदेश से हमेशा के लिए उनसे मुक्त हो भवभव से मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगा।

अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि आज का विक्षिप्त मानव सद्गुरु के सहारे से त्राण पा सकता है, शांति को प्राप्त कर सकता है। अतः संकीर्णता को छोड़ सद्गुरु की शरण जाओ और अपने जीवन को उठाओ।

बीकानेर

५ मई '५३

५२ : सत्य महाव्रत है

अहिंसा के बाद सत्य आता है। अहिंसा सब व्रतों का सिरमौर है तो सत्य का पालन सब व्रतों से ज्यादा कठिन है। हिंसा के साथ झूठ और झूठ के साथ हिंसा का सनातन संबंध रहा है। यदि हम हिंसा को बहन कहें तो झूठ उसका भाई है। जहाँ झूठ को प्रश्रय मिलेगा वहां हिंसा बहन कहीं न कहीं से आ ही टपकेगी। वह अपने भाई को अकेला छोड़ने को तैयार नहीं। ऐसा लगता है इनके भाई चारे का सम्बन्ध सतयुग का सम्बन्ध है, जिसपर आज के कलियुग की कोई छाप नहीं लग सकती। आजभाई चारे का सम्बन्ध जुड़ने और टूटने देर नहीं लगती, पर उनका यह सम्बन्ध कभी नहीं टूटने वाला है।

सत्य बोलो। ऐसा सत्य कभी मत बोलो—जिससे हिंसा होना सम्भव है, जो कटु है। मान लें कोई शिकारी शिकार के पीछे भागता है और शिकार आगे निकल गया। किसी साधु ने उसे देखा है। शिकारी साधु से पूछता है—"शिकार किधर गया?" तो साधु क्या कहे? यदि वह कहता है 'इस ओर गया' तो सम्भव है शिकारी उसे मारेगा और हिंसा को प्रोत्साहन देने वाला साधु ही होगा। यदि वह कहता है 'मैंने नहीं देखा है' तो सत्य महाव्रत का भंग होता है। आखिर वह करे क्या? एक तरफ कुआं है तो दूसरी तरफ खाई। जिस ओर गिरता है उस ओर ही खतरा है। अजीब-सी समस्या बन जाती है साधु ऐसी हालत में नहीं कह सकता कि 'मैंने उसे नहीं देखा।' वह मौन ही रहे। अपनी पहली धारणा पर अडिग रहे। उसे कुएं या खाई में गिरने की आवश्यकता नहीं। लोग कहेंगे—'मौनं स्वीकृति लक्षणम्'—इस लोकोक्ति से शिकारी समझ जायेगा कि शिकार इधर गया है। तो शिकारी समझे, इससे साधु को कोई प्रयोजन नहीं। जबकि साधु मन-वचन और काया किसी तरह भी उस हिंसा में शरीक नहीं होता। वह अपने आप पर अपना कंट्रोल रखता है। फिर ऐसी हालत में उसे चाहे मार खानी पड़े और बलिदान भी क्यों न हो जाना पड़े वह अपनी धारणा से न हटे। यदि वह हटता है तो उसका साधुत्व खत्म हो जाता है।

मौन और ध्यान की कसौटी पर महापुरुषों को कितनी यातनाओं का सहन करना पड़ता है इसके उदाहरण हैं—भगवान् महावीर। भगवान् महावीर का जीवन साधनामय था। तपस्वी जीवन था। वे बोलते तक नहीं थे। घोर तपस्या करते और मौन साधते। कोई उनके पास आकर त्याग करना या दीक्षा लेना चाहता तो भी वे नहीं बोलते—न दीक्षा और त्याग दिलाते।

एक बार वे ध्यानस्थ खड़े थे। एक ग्वाला उनके पास आया बोला "ऐ मुण्ड! मेरे

बैलों की निगरानी रखना। मैं शहर से अभी लौटता हूँ।" वे कुछ न बोले—उन्होंने 'हां' या 'नहीं' कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। ग्वाला बैलों को उनपर छोड़ कर शहर चला गया। बैलों को आजादी मिल गई। वे चरते-चरते दूर निकल गए। थोड़ी देर बाद जब ग्वाला आया और बैलों को न पाया तो उसने समझा—इस बक ध्यानी ऋषि ने उन्हें पार कर दिया है। उसे क्या पता ये भगवान् महावीर हैं। मेरे "बैल कहाँ हैं।" उसने उनसे पूछा। वे अब भी पहले की तरह अडिग थे। ग्वाला क्रोध में आ गया। उसने भगवान को निर्दयता पूर्वक पीटा, फिर भी वे विचलित नहीं हुए। लोग कहेंगे—वे कमजोर थे उन्होंने कायरता दिखाई। एक मामूली ग्वाले ने उन्हें पीट डाला। यह कायरता नहीं, वीरता है। मार सकने पर भी जो मारता नहीं वह वीर है और सच्चा सिद्ध है। वह वीर की तरह निडर खड़े रहे। अपने मौन को भंग नहीं किया। यथार्थ में तपस्या और ध्यान के रंग में जब व्यक्ति तल्लीन हो जाता है उसे अपने-पराये का ख्याल नहीं रहता. वह आत्म-रमण में लीन रहता है जो उसका अपना सबल है। फिर वह बाहरी अपनापन में नहीं डूबता।

नमी राजा का उदाहरण है—वे नमी, ऋषि बने। उनकी आंखों के सामने मथुरानगरी जल रही थी। इन्द्र ने आकर कहा—"महाराज ! आपकी मथुरानगरी जल रही है, उसे बुझाया जाय।" नमी ऋषि ने कहा—"इन्द्र ! तुझे मालूम है? मैं साधु हूं। मेरा मथुरा से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं किस-किस को जलने से बचाऊंगा? मथुरा क्या आज सारा विश्व बुराइयों की भट्ठी में जल रहा है।" जहाँ लोग कहेंगे वे निर्दय थे, वहां अध्यात्म दृष्टि बतलाती है वे निर्मोही थे वास्तव में साधु-सन्त क्यों लौकिक कार्य करेंगे? कल कोई कहेगा—महाराज ! लड़के की शादी करनी है आप ही मुहूर्त देख दीजिए। साधु ऐसे कार्य क्यों करेंगे? वे तो अपनी साधना, त्याग और तपस्या में तल्लीन रहेंगे। स्वयं तरेंगे, दूसरों को तारेंगे। अस्तु। भगवान् महावीर पर कितनी ही मार पड़ी पर वे अडिग रहे। ग्वाले को किसी तरह मालूम पड़ गया—ये भगवान् महावीर हैं, तो वह उनके सामने माफी माँगने लगा। भगवान् अब भी उसी तरह अडिग थे जैसे पहले थे। उन्हें न प्रशंसा से मतलब था न निन्दा—और न मार से ही। ग्वाला थोड़ी दूर गया होगा कि उसके सारे बैल चरते हुए मिल गए। कहने का यह तात्पर्य है—झूठ मत बोलो, पर ऐसा सत्य भी मत बोलो जिसमें हिंसा का समावेश हो।

साधु सत्य के उपासक हैं। वे कभी झूठ नहीं बोल सकते, और झूठ बोलते हैं तो फिर साधु नहीं रहते। इसी तरह गृहस्थ—श्रावक भी सत्य के उपासक होते हैं। साधु और उनमें फर्क इतना ही होता है कि जहाँ साधु पूर्ण रूपेण सत्य का पालन करते हैं वहां श्रावक उसे यथा शक्ति अपनाता है। वह गृहस्थ है; उसे झूठ बोलना भी पड़ जाता है

अतः वह उसे पूर्ण रूपेण नहीं अपना सके तो भी वह ख्याल रखे, झूठ आखिर—झूठ है। साँच को आँच नहीं लगती। सही पथ सत्य है उस पर एक दिन आना ही पड़ेगा। वह कम से कम ऐसा झूठ तो न बोले, जिससे कोई अनर्थ होता हो। इसी तरह वह उत्तरोत्तर सत्य की ओर बढ़ता जाए।

बीकानेर
६ मई '५३

५३ : परीक्षक बनो

कवियों ने खाने को रोटी, पीने को पानी और बोलने को मीठी वाणी इन तीन वस्तुओं को सबसे अधिक आवश्यक तथा उपादेय बताया है। पर मैं कहूँगा ये सब तो बाह्य वस्तुएँ हैं। जीवन में इनसे भी अत्यन्त आवश्यक तीन वस्तुएं हैं, वे हैं—(१) देव (२) गुरु (३) धर्म।

देव उपास्य है जिससे कि तदनुरूप गुणावलि के विकास के पथ पर प्राणी अग्रसर हो सके। गुरु पथ-प्रदर्शक है, वह सही राह दिखानेवाला है। धर्म आत्मा की शुद्धि का साधन (अर्थात् जीवन को उठाने वाला) है।

एक व्यक्ति समुद्र को पार करना चाहता है पर यदि वह जहाज का सहारा न ले तो क्या यह संभव है कि वह समुद्र को पारकर सकेगा? इसी प्रकार संसार-समुद्र को पार करने के लिये इन तत्त्वों के अवलम्बन की महती आवश्यकता है। यदि वे वास्तविक हुए तो ठीक है। अन्यथा डूबने के अलावा और है ही क्या। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि परीक्षा पूर्वक इनको स्वीकार करे। दो पैसे की हांडी खरीदते वक्त भी वह अच्छी तरह बजाकर—टटोल कर लेता है तो फिर जिनसे डूबने और तिरने का सम्बन्ध है, उनको ग्रहण करते वक्त वह उपेक्षा बरते यह कहाँ तक शोभनीय है?

इन तीन तत्त्वों की विशेष व्याख्या न करता हुआ संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि देव वही हैं जो राग-द्वेषादि शत्रुओं को सर्वथा मिटा चुके हैं, जो सर्वज्ञ हैं। उन्हें चाहे किसी नाम से पुकारिये। सर्वज्ञो द्वारा प्ररूपित धर्म की राह दिखानेवाले, कनक-कामिनी के त्यागी, अहिंसादि पाँच महाव्रतों के पालक साधु गुरु हैं और आत्मा की शुद्धि का साधन अर्थात् आत्मा को उत्थान की ओर ले जानेवाला धर्म है। लोग इन सही तत्त्वों को समझें, ग्रहण करें, तभी उनके जीवन की सार्थकता है।

बीकानेर
७ मई '५३

५४ : अचौर्य व्रत

व्यक्ति अपने अधिकार की वस्तु पाने की चेष्टा करता है। कोई उसे मना नहीं करता। यदि वह किसी भी चीज के लिए अनाधिकार चेष्टा करता है तो लोगों की दृष्टि में वह प्रशंसनीय कार्य नहीं करता। आखिर वह अनाधिकार चेष्टा करता ही क्यों है? उसे उतना ही तो चाहिए जितना उसके पात्र में प्रवेश पा जाए। वह उससे अधिक पाने की चेष्टा क्यों करता है? गागर में सागर भरा नहीं जा सकता और यदि भर भी दिया गया तो आखिर होगा क्या? उससे शान्ति मिलेगी नहीं। शान्ति सन्तोष से मिलेगी ही। बिना सन्तोष के शान्ति नहीं। आत्मा पर नियंत्रण रखने से ही यह संभव है। बिना आत्मा पर नियंत्रण किये तृष्णा की आग भभकती ही रहेगी और उसमें परमस्वर्गीय शांति स्वाहा होती रहेगी।

चोरी

दन्त शोधनार्थ अदत्त तृण का लेना भी चोरी कहलाता है। गृहस्थ इतनी बारीकी तक न भी पहुँच सके तो कम-से-कम ऐसी चोरी न करे जिससे 'राज दण्ड, लोक भण्ड' (बदनामी) हो। साधु अचौर्य व्रत का पूर्ण रूपेण पालन करता है। वह सन्तोषी है। उसे जैसा मिल जाय उसीमें संतुष्ट है। गृहस्थ उनका अनुशरण करें। कहा भी है—

'रूखा-सूखा खायके, ठण्डा पानी पीव।
देख पराई चोपड़ी, क्यूँ तरसावे जीव?'

व्यक्ति किसी की थाली में चुपड़ी रोटी देखकर क्यों जले? जैसा मिले उसमें वह सन्तोष करे। वह अनाधिकार चेष्टा न करे। पर खेद तो इस बात का है कि साधु नाम धारी भी कञ्चन के फेर में पड़ कर क्या से क्या करने लग जाते हैं! उनके पास से चोरी का माल बरामद होता है और वे फिर साधु कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति साधु के नाम पर कलङ्क हैं। उन भेषधारियोंके पीछे असली साधुको बट्टा लगता है। इसमें उनका भी क्या दोष हो सकता है? दोष उनका है जो उन्हें साधु मानते हैं—गुरु मानते हैं। लोगों में एक रूढ़ि रहा करती है—बाप और गुरु दो नहीं हो सकते जो हो गए वही रहेंगे। कितनी बड़ी भूल कर देते हैं। गुरु वही हो सकता है जिसमें गुरुता हो, जिसमें गुरु के लक्षण हों। बिना सद् लक्षण के गुरु कैसा?

साधु किसी मकान में कसमकस की स्थिति में नहीं ठहर सकता। मकान मालिक

नहीं चाहता कि साधु मकान में ठहरे और यदि ऐसी हालत में साधु वहां ठहरना है तो वह चोरी का भागी है।

चोरी के प्रकार

चोरी दो तरह की होती है—सचित्त और अचित्त। सचित्त—जैसे किसी को बहका कर, डराकर, धमका कर शिष्य बना लिया। संख्या की भूख मिटा ली या फिर फुसला कर किसी कन्या के साथ शादी कर ली, जबरन किसी को दास-दासी बना लिया, यह सचित्त चोरी है। इसी तरह पशु आदि को चुरा लेना भी सचित्त चोरी में आ जाते हैं। अचित्त चोरी, रुपया, सोना चांदी आदि की चोरी करना है।

सर्वथा वर्जित

चोरी सर्वथा वर्जनीय है। साधु इससे पूर्ण रूपेण बचते हैं। गृहस्थों के लिए यह अनुकरणीय है। चोरी करना, कराना, और उसका अनुमोदन करना सब चोरी में परिगणित कर लिये जाते हैं।

आज लोगोंका चोरी करना धन्धा होता जा रहा है। उनके पैसे चोरी से, ब्लैक में आती हैं; वे ब्लैक मार्केट करते हैं। खाने-पीने की चीजें ब्लैक से खरीदते हैं। ऐसी हालत में जो व्यक्ति इसके प्रतिकूल चलता है वह धन्यवाद का पात्र है।

बीकानेर
८ मई '५३

५५ : ब्रह्म में रमण करो

चोरी के बाद अब्रह्मचर्य का स्थान आता है। अब्रह्मचर्य की भयंकर बीमारी बहुत तेजी बढ़ती जा रही है। आज जन-जन नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त हैं। लोग कहते हैं, डाक्टर बढ़ गए इससे रोग भी बढ़ गए। डाक्टर कहते हैं, रोग बढ़ गए। इसलिए डाक्टर बढ़ गए। कौन-सा तर्क सत्य है नहीं कहा जा सकता? मुझे तो ऐसा लगता है अब्रह्मचर्य बढ़ा, इससे नाना रोग भी बढ़े।

एक समय था जब लोग ब्रह्म में रमण किया करते थे। चार आश्रम बताये गये हैं। प्रथम पच्चीस वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था। आज पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ४-५ लड़के वाले हो जाते हैं। दूसरे २५ वर्षों में गृहस्थ जीवन और फिर वानप्रस्थ और सन्यास जीवन बिताया जाता था। इस तरह जीवन में लगभग ७५ वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था। जैनों ने इस व्यवस्था में आयु की रुकावट नहीं

रखी। उन्होंने यही बताया—व्यक्ति जब चाहे ब्रह्मचर्य का पालन करे। आज हम देखते हैं कि २५ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला व्यक्ति अपवाद रूप में कोई मिल जाय तो मिल जाय वरना न वानप्रस्थ है और न सन्यास ही। मनुष्य रोटी के बिना रह सकता है, पर काम-वासना के बिना रहने वाले विरले ही व्यक्ति मिलेंगे। ब्रह्मचर्य का पालन करना भी कठिन है। शरीर से ही संभोग होता तो शायद मनुष्य बच भी पाता लेकिन दृष्टि, श्रवण, स्मृति आदि दोषों से वह कैसे बचे? विद्वानों ने इसके लिए नववाड़ बनाई जिससे ब्रह्मचर्य रूपी वृक्ष सुरक्षित रह सके। नववाड़ ही नहीं उसकी सुरक्षा के लिए एक कोट फिर बनाया है। तात्पर्यतः अब्रह्मचर्य से बचने के लिए मन पर नियन्त्रण रखना पड़ता है। बिना आत्मा को जीते ब्रह्म में लीन हो सकना सम्भव नहीं। जब भी विकार आए—ईश्वर का भजन करो—स्मरण करो, आत्मा को उस ओर से हटाने का ये सुगम उपाय हैं। उल्टी गिनती करने से भी उस ओर ध्यान नहीं रहता।

धर्म शास्त्रों में स्त्रियों को राक्षसी आदि विशेषण दिये गए हैं वे वास्तव में स्त्रियों को लेकर नहीं, काम को लेकर हैं. जो व्यक्ति काम के वशीभूत अब्रह्मचारी ही नहीं व्यभिचारी बन जाता है; उसके लिये वह राक्षस के समान है। मानव यहां कितनी नीचता पर पहुँच जाता है। काम की भी एक सीमा होती है। व्यभिचार का सेवन करना मानवता को खोना है। यह पता नहीं मानव की यह काम-भट्ठी कब शान्त होगी? या इसी तरह जलती रहेगी। यह रात-दिन सुलगती रहती है। पशु ऐसी हालत में मनुष्य के शिक्षक हैं। वे बिना ऋतु के संभोग नहीं करते। पर मनुष्य उन्हें भी मात कर गया है।

आज का मनुष्य कहने को विवेकशील है। वह शिक्षित है, पर ऐसे कितने घर होंगे जिनमें जीवन-प्रद साहित्य मिलता हो। जीवन-प्रद तथा नैतिक उत्थानकारी साहित्य पढ़ने वाले व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे। आज युवक और युवतियों के पास, उनके स्थान पर, अश्लील साहित्य मिलता है। वे उसे छिप-छिपकर देखते हैं—पढ़ते हैं यह कितनी शर्म की बात है। इससे अब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिलता है और वे पतंग की तरह इस भट्ठी में स्वाहा होने का प्रयास करते है, ये सांसारिक नाते मिथ्या हैं, इनमें न उलझ कर ब्रह्मचर्य को अपनाओ—ब्रह्म में रमण करो।

बीकानेर

८ मई '५३

५६ : जीवन बदलो

कुसग्गे जह ओस बिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

मानव जीवन क्षणिक है। अनित्य है क्षण भंगुर है। इसका कोई भी भरोसा नहीं। वह कुश डाभ के अग्रभाग पर अवस्थित ओस बिन्दु की भाँति बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है पर उसे विनष्ट होते देर नहीं लगती। भगवान् महावीर ने फरमाया है 'हे गौतम ! एक क्षण के लिये भी प्रमाद मत करो—एक क्षण भी प्रमाद में मत गँवाओ। उसे छोड़ते जाओ अपने आपको बदलते जाओ। तुम्हारा सर्व कल्याण होगा।'

भाइयो ! जीवन को बदलो। जीवन में जो बुराइयाँ और रूढ़ियाँ घर कर गई हैं उन्हें नेस्त नाबूद करो। आज सम्पूर्ण जीवन को बदलने की अत्यावश्यकता है। जीवन के नवनिर्माण से ही भविष्य सुरक्षित होगा।

जीवन में प्रविष्ट सारी बुराइयाँ खत्म हो जायँ यह सभी चाहते हैं। जीवन उन्नत हो कौन नहीं चाहता ? पर आज इस दिशा में चल सकना सरल नहीं, लोग साँप की नहीं लकीर को पीटते हैं। ब्राह्मण कहेंगे—हम जगद्गुरु हैं, जग पूजनीय हैं हमारा जीवन क्या बदलेगा ? महाजन कहेंगे—वाह ! हम महाजन हैं। "महाजनो येन गतः स पन्थः" फिर हमें जीवन बदलने की क्या आवश्यकता है ? क्षत्रिय कहेंगे—हम महाराज हैं, राजा हैं। हमारा 'जीवन बदले' यह क्या मतलब रखता है ? फिर शूद्र कहेंगे—"वाह जी हमारा जीवन क्या बदले, हम तो सेवा-भावी-प्राणी हैं।" अब बताइये कि किसका जीवन किस प्रकार बदले जाय ?

नाम से कुछ नहीं

ब्राह्मण उच्च हैं, वे जगद्गुरु हैं इसमें कोई संशय नहीं। पर ब्राह्मण सिर्फ जाति से उच्च नहीं हो जाते। सिर्फ वेष बना लेने से कोई साधु-श्रमण नहीं हो जाता। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म में लीन रहता है। श्रमण वह है जिसमें ज्ञान है चरित्र है। तपस्वी वह है जो तपस्या करते हैं। सिर्फ महाजन कहलाने भर से कोई महाजन नहीं हो जाते या क्षत्रिय कहलाने मात्र से शूरवीर नहीं हो जाते। शूद्र कहलाने मात्र से कोई नीच नहीं हो जाते। बुरे होते हैं द्वेष, वैमनस्य। मनुष्य का क्या नीच है, कहा है—

कर खप्पर सिर श्वान है, लहुजु खरड़े हन्थ।
छटकत मग चंडालिनी ऋषि पूछत है वत्त ॥
हे ऋषि ! तुम मोरे भये नहीं जानत हो भेव।
कृतघ्नी की चरण रज, छटकत हूँ गुरुदेव ॥

अब बताइये किसे कहेंगे नीच, कृतघ्नी को या चण्डालिनी को ? यदि जाति से कोई नीच है तो चण्डालिनी नीच है और गुणावगुण से कोई उच्च-नीच है तो फिर कृतघ्नी नीच है—मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं। कौन नीच है, सब समझते ही हैं।

गुणावगुण से व्यक्ति उच्च और नीच होता है फिर लोगों में संकीर्णता क्यों ? वे संकुचितता की सीमा में क्यों घिर जाते हैं ? आज जब मैं सुनता हूँ, लोग कहते हैं—बीकानेर में क्या हो गया ? जैन-धर्म का खुले आम इतने जोर से प्रचार हो रहा है—मुझे खेद होता है। कोई कोई तो यहां तक कह देते हैं क्या और सब मर गये। मैं भी चाहता हूँ सब मर जायँ, मानव नहीं उनकी बुराइयां मर जायँ, मिट जायँ। मानव बुरा नहीं होता, बुरी होती हैं उनमें आये अवगुण, उनमें अपना घर बनाकर रहनेवाली बुराइयाँ। वे सारी बुराइयां मिटें, आपको ऐसा रास्ता खोजना है फिर वह कोई सनातनी बताये या जैनी, कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। नाम के झंझट में पड़ना भी न चाहिये। फर्क क्या है जैन और सनातन में ? कौन धर्म है जो झूठ को धर्म मानता है ? चोरी को अच्छा मानता है ? आपको कोई ऐसा धर्म नहीं मिलेगा जो इन्हें धर्म मानता हो। वैदिक जिसे ५ यम कहते हैं वहां जैनी उन्हें पांच महाव्रत कहते हैं इसमें फर्क है क्या ? हां, दो एक बातों में फर्क है जिसे आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता। दुनिया किसने बनाई, ईश्वर सुख-दुःख कर्ता है या नहीं, ईश्वर एक है या अनेक यहां पर मतभेद हैं। पर मतभेद के लिए लड़ा जाय, अखाड़ेबाजी हो, दंगल हो यह ठीक नहीं। मतभेद तो रहता ही है। जितने दिमाग होते हैं उतनी सूझ होती है। आज दुनियां में जितने व्यक्ति हैं सब का दिमाग एक नहीं हो सकता। और एक नहीं हो सकता इसलिए लड़ा जाय यह मानव और मानवता के परे की बात है।

हमारी नीति कभी खण्डनात्मक नहीं रहती। पर वास्तविक तत्त्व को तो समझना है। किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं रहना पर बुराइयों पर तो चोट करनी है। वे अछूती नहीं रह सकतीं फिर वे किसी में भी क्यों न हो। आज धर्म के नाम पर भ्रम फैलता जा रहा है। धर्म के नाम पर पेट पलते हैं। धर्म के नाम पर बहुत सारे पाप किये जाते हैं। साधु के वेष में ठगपनी चलती है। पेट पालने के लिये साधु का वेष बना लिया जाता है। ऐसे गुरु किसी का क्या उपकार कर सकते हैं, जिन्हें कंचन और कामिनी की भूख है, जो स्वयं इसके दलदल में कमर तक फँसे हुए हैं। साधु का रुपयों से क्या वास्ता उसे कम से कम इनसे तो अछूता रहना ही चाहिए। जो इनसे अछूता नहीं उसमें और गृहस्थ में फर्क ही क्या रह जाता है ? जमीन जायदाद गृहस्थ को भी होती है और साधु को भी। पैसा गृहस्थ भी रखता है और साधु भी रखता है। स्त्री-बच्चे साधु के भी होते और गृहस्थ के भी। दोनों एक से हो जाते हैं। किसे साधु कहा जाय और किसे गृहस्थ ? वे कैसे किसी को तार सकेंगे जो स्वयं डूबे जा रहे हैं।

वास्तव में वे ही तिर सकते हैं और तार सकते हैं जिनका स्वयं का जीवन उठा हो। किसी पानी से स्नान करना नहीं है कि आत्मा उज्ज्वल हो जाय। व्यक्ति आत्म-रमण करे, त्याग और संयम रूपी जल में स्नान करे। जल से ऊपरी शुद्धि हो सकती आन्तरिक नहीं। मुझे श्रीकृष्ण की एक युक्ति याद आ जाती है। महाभारत की एक घटना है। गोत्र का नाश करनेवाले पाण्डवों ने सोचा—हमने बहुत पाप किया है अब तीर्थ कर आएं। पापों को धो आएँ। वे कृष्ण के पास आये। उनके सामने अपने विचार प्रकट किए। कृष्ण ने कहा—"ठीक है मेरी भी एक तूम्बी ले जाओ उसे भी स्नान करा लाना।" पाण्डव जहाँ एकबार स्नान करते तूम्बी को तीन बार नहलाते। वे वापस लौटे। कृष्ण के पास आये। कृष्ण ने पूछा—"स्नान कर आये?" उत्तर मिला—"हाँ।" "मेरी तूम्बी?" कृष्ण ने पूछा। पाण्डवों ने तूम्बी उन्हें दी। कृष्ण ने उसे उनके सामने काटा उसे पीसा और सबको थोड़ी-थोड़ी दी। पाण्डवों ने कहा—"क्यों मुख खारा करवाते हैं?" कृष्ण ने कहा—"मुख खारा थोड़ा ही होगा।" पांडवों ने ज्यों ही तूम्बी मुँह में डाली स्वभावतः खारापन महसूस हुआ। उन्होंने कृष्ण से कहा। कृष्ण बोले—"वाह तूम्बी तीर्थ कर आई है न? फिर कैसे खारी है, क्या तुमने स्नान नहीं कराया?" पाण्डवों ने कहा "इसके अन्दर का खारापन कैसे जायगा।" कृष्ण ने कहा—"समझो तीर्थ स्नान कर तो आये पर भीतर के पाप कैसे मिटेंगे?" पाण्डवों के समझ में सब बातें आ गई। उन्होंने कहा—"पहले ही तो कहना था ताकि हम नहीं जाते।" कृष्ण ने कहा—"यह उस समय मुमकिन नहीं था।" तो अब क्या करना चाहिये?" पाण्डव-पुत्रों ने पूछा। कृष्ण ने कहा—"संयम, तप, इन्द्रिय-दमन। जिस प्रकार ऊपर से रगड़ने से मैल साफ हो जाता है उसी तरह ये अन्दर के कालुष्य को साफ कर देते हैं। तुमलोग भी सदाचार और संयम की ओर बढ़ो। सत्य और अहिंसा को अपनाओ। चोरी मत करो, आत्म-रमण करो, किसी को गाली मत दो, किसी के साथ क्रूर व्यवहार मत करो, सब को आत्मतुल्य समझो। जीवन में आई इन बुराइयों को मिटा दो। जीवन की दिशा बदल दो। उसे एक नये सांचे में ढाल दो।"

बीकानेर,
९ मई '५३

५७ : युक्तिपूर्ण उत्तर

अणुव्रती-संघ के सम्बन्ध में व्यक्तिविशेष की ओर से, जिसके विषय में मुझे कुछ कहना अपेक्षित नहीं, निरर्थक शंकाएँ उठाते हुए कहा जाता है कि यह जैन शास्त्रानुसार अवैधानिक है और इसके सम्बन्ध में जो प्रश्न हैं, उनका उत्तर नहीं दिया

जाता। इस विषय में मैं स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि शंकाओं का समाधान तथा प्रश्नों का उत्तर हमारी ओर से निःसंकोचतया प्रारम्भ से ही दिया जा रहा है, आज भी दिया जाता है और कोई यदि विशेष रूप में जानना चाहें तो उनके लिए सदा द्वार खुला है। पर, आक्षेपात्मक तरीके से उत्तर देना, न कभी हमारी ओर से हुआ है, न होता है और न भविष्य में ही संभव है। अणुव्रती-संघ सम्बन्धी समस्त शंकाओं एवं प्रश्नों का प्रस्तुत निबन्ध में शास्त्रीय समाधान युक्तिपूर्ण उत्तर है। यदि किसी को कोई जिज्ञासा हो, शंका हो, तो वह खुशी से समझ सकता है, पढ़ सकता है और ग्रहण कर सकता है। जिन लोगों ने इस निबन्ध को सुना है, अणुव्रती-संघ के सम्बन्ध में उठाई जानेवाली शंकाओं का समाधान जाना है, प्रश्नों का उत्तर समझा है, उनकी ओर से अपने अपने स्थानों के लोगों के समक्ष सही स्थिति रखे जाने से 'प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता' इस निर्मल प्रचार की व्यर्थता स्वतः स्पष्ट हो सकेगी। हजारीमल जी सेठिया के दानदया सम्बन्धी जो प्रश्न हैं, उनका समाधान तैयार है जो जनता के समक्ष रख दिया जायगा।

बीकानेर
१ मई '५३

५८ : अपरिग्रह व्रत

आजका युग विभिन्न विषमताको अपनाए हुए है। चिरसंघर्षमय है। एक तरफ पूंजी है तो दूसरी तरफ श्रम। श्रम और पूंजी का संघर्ष है। दूसरे शब्दोंमें पूंजीपतियों और श्रमिकोंका संघर्ष है। पूंजीपति चाहता है उसकी पूंजी सुरक्षित रहे। कोई छीन न ले। श्रमिक कहते हैं, ये अट्टालिकाओं में रहनेवाले चूस-चूस कर, शोषण कर करके हमें खा गए। हमारे खूनसे बनी हैं ये हवेलियाँ। दोषी कौन है, कैसे जाना जाय? जहां पूंजी सामने आती है—हाथमें आती है वहाँ सब झुक जाते हैं। कल तक विरोध में नारे लगानेवाला व्यक्ति जब यह जानता है कि उसे आज पूंजी मिलनेवाली है, चुप हो जाता है और चाहता है बिना डकार उसे हजम कर जाना। चाहे वह श्रमिक हो या सेठ कोई भी क्यों न हो, पूंजीके सामने सब झुक जाते हैं—देव भी झुक जाते हैं तब मानव की क्या बिसात है? जो कुछ हो आखिर यह एक संघर्ष है। संघर्ष कैसे मिटे इस पर नाना व्यक्तियों के नाना विचार हैं। सभी एकमत होते नहीं और होना सम्भव भी नहीं। पूंजी श्रमिकों में बाँट दी जाए तो पूंजीपतियों के कलेजे निकल आते हैं। इस हालत में श्रमिक खुश होते हैं तो पूंजीवाले नाराज होते हैं। श्रमिकों की ओर ध्यान नहीं दिया

जाय—उनकी आवाज दबा दी जाय तो पूँजीवाले खुश होते हैं श्रमिक नाराज। आखिर क्या होना चाहिये? कोई ऐसा उपाय है क्या, जिससे न तो पूँजीवाले नाराज हों और न श्रमिक ही? किसी को दुःख न हो, कोई मन में और तरह न माने ऐसा उपाय है और वह है अपरिग्रहवाद। आज लोगों में पूंजी के प्रति ममत्व हो गया है—मूर्च्छा हो गई है, किन्तु व्यक्ति उससे दूर हटे मेरा यही कहना है। गृहस्थ जीवनमें पूंजी आवश्यक है पर व्यक्ति उसे सब कुछ न माने। वह पूंजी प्राप्त करना अपना लक्ष्य न बना ले। वह पूँजी का दास न बने। उसे पूंजी के नीचे दबना नहीं है। उसे पूँजीवाद की जरूरत नहीं, उसे स्तर की आवश्यकता नहीं है। उसे अपरिग्रहवादकी आवश्यकता है। वह आकाश की भाँति व्यापक बनी तृष्णाओंको सीमित बनाये। उनपर काबू करे, उन्हें बढ़नेसे रोके। फिर दूसरे किसी वाद की आवश्यकता नहीं होगी। यह स्पष्ट हो जाता है कि अपरिग्रह वाद इस समस्याका हल है। अपरिग्रहवादके सामने सत्ताकी कोई कीमत नहीं रह जाती। वह सत्ता की शक्ति के सामने झुक नहीं जाता। परिग्रह से परे रहनेवाले, कितने सुखी रहते हैं, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अनुभव की चीज है तथा अनुभव से ही मालूम पड़ता है। वास्तव में जितना सुख ममत्व पर अंकुश रखनेवाला निर्धन पाता है, ममत्व में डूबा पूंजीपति नहीं पा सकता। निर्धन कहा जानेवाला व्यक्ति किस तरह सत्ता की गरमी से पागल बने सत्ताधीश की पागलताको, उसके जुल्म भरे फरमानको कुछ नहीं गिनता—इसका एक उदाहरण है, ऐसा-वैसा नहीं बड़ा अच्छा उदाहरण है। आज उसी को बता देना ठीक रहेगा—

राजा उदाई १६ देशों का राजा था। उसके द्वारा १६ देशों पर शासन किया जाता था। राजा का मन ममत्व से हट गया। उसकी इच्छा हुई—वह राज-काज को छोड़कर साधु बन जाय—श्रमण हो जाय। लड़के को राजगद्दी सौंप दे। फिर सोचा—"मैं जिस चीज को हेय समझकर त्याग रहा हूँ उसमें अपने पुत्रको फंसा दूं यह ठीक नहीं।" उसने नहीं सोचा—"मैं जिसे छोड़ने जा रहा हूँ पुत्र भी उससे विलग रहना चाहता है क्या?" उसने सोचा—"आखिर मेरा पुत्र है, मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसे वह ठीक ही समझेगा।" उसने इसके बारे में पुत्र को कहा तक नहीं। राज-काज अपने भानजे को दे दिया। उदाई भगवान महावीर के पास साधु बन गये। पुत्र के दिल में गांठ बन्ध गई। उसके दिल में अच्छी तरह बैठ गई—"पिताजी ने मेरे साथ शत्रुता की है। वे साधु बन गए हैं, केवली भी बन जायें तो भी मैं उन्हें हाथ नहीं जोड़ूंगा—वन्दन नहीं करूंगा।" उसने नहीं सोचा—उन्हें अब वन्दनकी, प्रशंसाकी भूख नहीं है। अस्तु।

राजा उदाई साधुपन पालते। एक दिन वे भगवान महावीर से बोले—मेरी इच्छा है मै अपने भूतपूर्व देशवासियों को उपदेश दूं, उन्हें सन्मार्ग दिखाऊं, वहाँ जाऊं। वहाँ

के छोटे बड़े सब मुझे जानते हैं, अच्छा उपकार हो सकता है। भगवान ने कहा—जाओ।

उदाई राजर्षि यहां आ रहे हैं, इसका पता भानजे को चला, उसे बड़ी खुशी हुई। पुराने मन्त्रीगण, दोस्त, अफसर सब राजर्षि की सेवा करते।

चुगलखोर कहां चूकते हैं? राजा के पास भी वे पहुंचे। खुशी का कारण पूछा। राजा ने कहा—'राजर्षि पधार रहे हैं।' चुगलखोरोंने कहा—'हूं! पता चल जायेगा'। राजाने पूछा—'क्या बात है?' 'राज वापिस लेने आ रहे हैं'—चुगलखोरों ने कहा। राजा सन्न रह गया। चुगलखोरों ने कहा—'पता है, आपके ये मन्त्री और अफसर सब उनसे मिल गए हैं। देखते नहीं, ये हरदम उनके पास पड़े रहते हैं।' बड़े आदमियों के कान कच्चे कहे जाते हैं। वे भी कच्चे ही निकले। खुशी का स्थान रोषने ले लिया। ढिंढोरा पिटवा दिया गया—'मुनि को ठहरने के लिये कोई स्थान न दे। जो व्यक्ति स्थान आदि देगा उसकी मकान-जायदाद जब्त कर ली जायगी और उसके परिवार को कोल्हू में पेर दिया जायगा।'

किसकी हिम्मत थी जगह दे दे। साधुओं के आगमन पर जो कोस श्रावक सामने जाते थे वहाँ कोई भी श्रावक सामने नहीं गया। राजर्षि जिस रास्ते पधारते, रास्ता सूना मिलता। घर बन्द मिलते। राजर्षि को क्या पता क्या बात है? इत्तिफाकन श्रावक सामने मिल भी जाता तो जगह मांगने पर कोई कहता—पाहुने ठहर गए हैं, कोई कहता मकान खाली नहीं है, कोई कहता दरवाजे बन्द हैं, खोलकर देंगे तो आप ठहरते नहीं। राजर्षि आगे चलते गये। शहर को पारकर बाहरकी बस्ती में आए, जहां कुम्हार बसते थे।

ग्रीष्म-ऋतु के दिन थे। राजर्षि के शरीरसे धारावत् स्वेद बह रहा था। कन्धों पर बोझ था और नीचे वह गर्म तवे की तरह जमीन थी। फिर भी शान्त थे, क्रोध का लव लेश नहीं। 'मैं साधु हूँ'—इसे वे अच्छी तरह समझते थे।

अन्त में वे एक कुम्हारके द्वार पर आए। कुम्हारिन ने साधुको देखा। दर्शन मात्रसे शान्ति मिली। राजर्षि ने जगह के लिए पूछा। कुम्हारिन ने जब यह जाना कि शहर में जगह नहीं मिली, उसके मुँह से अनायास निकल पड़ा—'क्या शहर के सारे फूट गये हैं!' उसने कहा—अच्छा महाराज! मैं घर में पूछ लूं। वह कुम्हार के पास आई और साधु को जगह देने के लिए कहा। वह बोला—"क्या है? बहुत 'सांड़' फिरते हैं—कई जटाधारी, कनफटे, भभूत रमाये, सब पैसे के पाजी हैं। कोई ठग होगा, नहीं देते हैं अपनी जगह।" कुम्हारिन बोली—"ऐसी बात नहीं है। साधु बड़ा शान्त है। उनकी रग-रगसे शीतलता टपक रही है। उनकी नस-नस दीख रही है पर चेहरे पर आकर्षित

करनेवाला ओज है। मुझे तो वही वह दीखता है। मैंने आज न रावड़ीकी है और न रोटी ही उसे जगह नहीं देंगे तो करूँगी भी नहीं।" कुम्हार ने सोचा मुश्किल हुई। उसने पूछा—"उसका क्या नाम है?" कुम्हारिन ने कहा "मुझे पता नहीं, वह आप ही पूछ लो।" कुम्हार उठकर बाहर आया। उसने राजर्षिको देखा—शांति मिली। नाम पूछा। जवाब मिला—"उदाई।" कुम्हार ने मन ही मन सोचा—ये तो हमारे राजा थे। इतने में राजाज्ञा का स्मरण आया। वह कुम्हारिन के पास आया, बोला—"पता है ये राजर्षि हैं। राजा की आज्ञा है इन्हें जगह देनेवाले का घर लूट लिया जायगा और परिवार को कोल्हू में पेड़ दिया जायगा। इन्हें यहाँ जगह नहीं देनी है।"

कुम्हार घबड़ा गया। मर्द की मर्दानगी का पता ऐसे ही अवसर पर चलता है। इधर एक अबला के बलको देखिये। उसके मुँह से निकल पड़ा—कितना अन्यायी राजा है। इस 'वीतभय' नगरी में कैसा भय? ऐसे मुनि को जगह देने की मनाही की है, इस तरह के राजा को जन्म देकर माता भार क्यों मरी; कोई पत्थर जन्मती तो नींव में काम आता। उसने निर्भय शब्दों में कहा—"इस घर में मेरा भी अधिकार है; आप इन्हें जगह दें तो अच्छी बात है अन्यथा मैं देती हूँ।" कुम्हार बोला—"राजा घर लूट लेगा।" कुम्हारिन ने कहा—"घर लूटे तो लूटे, लूटेगा भी तो क्या? यह मिट्टी और राख का ढेर राजा भी लूट ले! नहीं नहीं, अपने शरीर पर लगा ले। और ज्यादा से ज्यादा लूटे तो वह लम्बकना—गधा लेकर राजा भी सवारी कर ले। रही बात कोल्हू में पेड़ देने की सो दुनियां में जितने भी आए हैं सभी एक बार मरेंगे। कोई भी दो बार मरेगा नहीं, हां! कोई पहले मरेगा तो कोई पीछे, आखिर मरना जरूर है फिर डरना कैसा?"

कुम्हार में भी हिम्मत आई। उसने कहा,—"कोई परवाह नहीं, 'माल दे दे, 'पड़वा' दे दे, पर साताकारी यह बाहर की 'तिवारी' है, सारा घर दे दे, राजर्षि जहाँ ठीक समझेंगे रह जायेंगे। राजा जो करेगा सो देखा जायगा।"

कहने का तात्पर्य है—सत्ता की सत्तान्धता, अपरिग्रह—असमत्व के सामने टिक नहीं सकी। उस फरमान का नहीं-नहीं अन्यान्य का डर तो ममत्व में गड़े व्यक्तियों के लिए था। जिनको ममत्व ही नहीं फिर उनके लिए अन्याय, अत्याचार और जुल्म होते क्या हैं?

आज पूंजी के प्रति लोगोंका ममत्व है; उससे न पूँजीपति अछूता है और न श्रमिक ही। जिस दिन विश्व इस ममत्व से परे हटता जायगा, न पूंजी की समस्या टिकेगी न श्रम की भी और उसी दिन मिलेगी विश्व को शांति की श्वास भी।

बीकानेर
१० मई '५३

५९ : अणुव्रत

आज विश्व में झूठ और हिंसा की व्यापकता है. उसके स्थान पर सत्य और अहिंसा विश्वव्यापी बने—वह जन-जन के मानस में उतरे—उसे व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में प्रश्रय मिले। भगवान महावीर ने कहा है—

'अप्पाणमेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण वज्झओ'

अर्थात्–ओ मानव ! यदि तू युद्ध-प्रेमी है तो स्वयं युद्ध कर, बहादुरी के साथ लड़ और लड़ता रह, निर्भयता के साथ, भय और पीछे हटने की कोई आवश्यकता नहीं। पर वह युद्ध कैसा हो ? किसी बाह्य व्यक्ति के साथ नहीं, अन्तर का युद्ध होना चाहिए। तू अपनी अन्तर आत्मा के साथ लड़। बाहरी युद्ध में कुछ होना जाना नहीं है। यह कोई स्थाय विजय नहीं है। अपनी आत्मा को जीत, आत्म-विजय कर। वीरता के साथ उसकी एक-एक बुराई को मिटा दे। तू अपना रास्ता ले, त्याग पर चल; फिर चाहे वे यम कहलाए या नियम। लोग कहेंगे आपने नया क्या बताया ? यह तो पुरानी बात है। भगवान महावीर की वाणी है। मेरे पास नया है ही क्या ? वही पुरानी चीज है जिसे नया रूप दिया गया है। पुरानी चीज ठप्प न हो जाय, इसलिये उसे एक ऐसा रूप दिया गया है जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के दिल और दिमाग में आसानी से उतर सके—प्रत्येक व्यक्ति उसे निःसंकोच अपना सके। फिर नयी चीज घोड़े के सींग तो लगाये नहीं जा सकते। श्री हेमचन्द्राचार्य ने एक प्रार्थना में कहा है

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश·
न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि
तुरंग शृङ्गान्युपपादयद्भ्यो
नमः परेभ्यो नव पण्डितेभ्यः

अर्थात्—हे भगवन् ! जैसा तत्व था आपने वैसा बताया, इसमें नया क्या बताया ? आपने आपके अपूर्व कौशल का परिचय नहीं दिया। पर मैं उन नव पंडितों को धन्यवाद देता हूँ, जो घोड़े के सींग लगा देते हैं, वंध्या को पुत्र उत्पत्ति बता देते हैं और आकाश में जो फूल लगा देते हैं। अस्तु,

वही पुराना कार्यक्रम चलता रहे, इसीमें संतोष है। रास्ता भी पुराना क्या ? धार्मिक ऋषियों, महर्षियों सबका एक रास्ता रहा है—अकिंचन अर्थात् भारी न होकर हलके रहना। जिस प्रकार शरीर के भारी हो जाने पर चलना, फिरना, उठना, बैठना मुश्किल हो जाता है ठीक इसी तरह परिग्रह के पापों से सब गरक हो जाते हैं। आज उस पुराने रास्ते को छोड़कर अश्व के शृंग उगाने का काम शुरू कर दिया गया है।

पूंजी व्यक्ति व्यक्ति की समस्या है। वह एक जगह एकत्रित हो, जैसा प्रयास हो रहा है। पर अणुव्रती-संघ एक अनुपम रास्ते का दिग्दर्शन कराता है। वह मानव को वास्तविक सुख की ओर ले जाता है। उसके सामने यह समस्या टिकती नहीं। सुख की इच्छा पशु-पक्षी भी रखते हैं, जिनमें विवेक की कमी है, जो अनभिज्ञ हैं। मनुष्य दिमागी प्राणी है—विवेकशील कहलाता है। वह सुख की इच्छा रखे तो ताज्जुब की बात नहीं।

नैतिक उत्थान वास्तविक सुख है। अणुव्रती-संघ नैतिकता की दिशा में विशेष जागरूक है। इसका उद्देश्य है—मानव में मानवता आये—वह मानव जो पथभ्रष्ट होता जा रहा है सही पथ पर आए।

अणुव्रत-योजना में छोटे-छोटे व्रत हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि के छोटे छोटे नियम हैं। इन पाँचों तत्त्वों को लेकर चलने की आवश्यकता है और इसलिए आवश्यकता है कि आज लोगों को बुरे कामों को करते लज्जा महसूस नहीं होती। पहले लोगों का मानस कुछ ऐसा रहता कि बुरे काम के लिए उनके दिल में काफी कुछ विचार रहता। उस समय बुरे काम नहीं होते, ऐसी बात नहीं है। पर आँख की शर्म रहती। उनकी अन्तरात्मा में बुरे कार्यों को करते लज्जा महसूस होती। लोक-लज्जा का वे ख्याल रखते। रामायण में आता है—

सुमित्र नाम के एक राजा थे। उनके मित्र का नाम परभव था। परभव मित्र ही नहीं अपितु, राजमंत्री भी था। दोनों में घनिष्टता थी। दोनों एक दूसरे को जी जान से चाहते थे।

एक दिन वे शिकार को चले। संयोग ऐसा मिला कि राजा की वहाँ शादी हो गई। परभव मंत्री की यह इच्छा थी कि यह शादी मेरे साथ हो। पर राजा के साथ शादी करते मंत्री के साथ कौन करे? मन्त्री चुपचाप रहा। उसने मनी की बात मन में रखी। यदि वह राजा को इसके लिये कहता तो सम्भव था कि शादी उसके साथ हो जाती पर उसके दिलमें लज्जा थी।

दिन बीतते गये, रातें बीतीं। मंत्री के दिलमें वह आग भभकती रही पर जबान से किसी को कुछ न कहा। अन्तर की आग ने मंत्री को निगलना शुरू कर दिया। वह दिन प्रति दिन दुबला होता जाता था। राजा ने भी उसकी यह हालत देखी। उसने इसका कारण पूछा—मंत्री ने बात टाल दी। राजा ने अपनी सौगन्ध दिलाई। आखिर मंत्री को राजा के सामने सारी बात स्पष्ट कह देनी पड़ी। राजा ने कहा—यदि वहीं तुम ऐसा कहते तो आज यह स्थिति क्यों बनती? जाओ, आज रानी तुम्हारे पास आ रही है।

दोस्ती, दोस्ती होती है और अधिकार, अधिकार। जहां अधिकार का प्रश्न आता है वहां प्रायः दोस्ती गौण रह जाती है। पर राजा ने यहां कोई ख्याल नहीं रखा। उसने अपने अधिकार को गौण रखा और दोस्ती को प्रमुखता दी। वह भी जानता था कि मैंने वचन दिया है पर मंत्री से अन्याय कभी भी नहीं हो सकेगा।

मंत्री घर आया। उसे बड़ी खुशी थी—इच्छित कामना सफल होगी। कई दिनों से चली तड़फ आज मिटेगी।

राजा महल में आया और उसने रानी से सवाल किया—'क्या तुम मेरी आज्ञाकारिणी हो?' रानी न समझ सकी, क्या रहस्य है? उसने कहा—'मैं आपकी आज्ञा के सामने मरने तक को तैयार हूं।' राजा ने मन में विचार कर—'बाजी मार ली है'—कहा—'आज तुम्हें मंत्री के घर जाना पड़ेगा।'

रानी पर सौ घड़ा पानी ढुल गया। पैरों के नीचे की जमीन खिसक गई। चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। वह यह समझकर कि वचन दे चुकी हूँ, बोली—'जो आज्ञा'।

रानी मन्त्री के घर चली। उसे जाना पड़ा। मन्त्री खुशी में लीन था। रानी ने ज्योंहि कमरे में प्रवेश किया—मन्त्री की अन्तर आत्मा ने विद्रोह कर दिया। उसके विचार एकाएक पलट गये। 'यह रानी है, रानी माता के समान होती है। मैं कैसा घृणित कार्य करने जा रहा हूँ जिसका फल मुझे इस भव में नहीं तो पर भव में न मालूम क्या मिलेगा?' वह बोल उठा—'मातेश्वरी—प्रणाम! पधारिये।' रानी अवाक् रह गई—'राजा ने कैसे विचारों को लेकर भेजा था और यहां मातेश्वरी कही जा रही हूं।' थोड़ी देर बाद रानी वापिस लौट आई। मन्त्री आत्म-ग्लानि में डूब कर रह गया और उसका अतिक्रमण कर गया। आत्महत्या करने को तत्पर हुआ; पर जो कुछ घटनाएँ वहाँ घट रही थीं, दो आँखें उन्हें बड़ी चुस्ती से देख रही थीं। रानी आई, वह वापिस गई और अब मन्त्री क्या करने को तत्पर है, यह सब दो आँखें देख रही थीं। मन्त्री ने छुरी निकाली और चाहा—उसे पेट में भोंक कर कलंकित होनेवाले अपने आपको मिटा दे, त्योंही दो अज्ञात हाथों ने पीछे से हाथ पकड़ लिये। मन्त्री का मनसूबा मन में रह गया। वह बहुत कुछ चिल्लाया—मैं अब मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ, मरने दे मुझे। पर वह आत्महत्या कर ले यह अब उसके वशकी बात नहीं रही। उसने कसमकस में पीछे मुड़कर देखा—राजा था। वह उनके पैरों में गिर पड़ा और बोला—'मुझे मरने दीजिये।' राजा ने कहा—'नहीं, यदि तुमसे अनुचित कार्य होने की यदि जरा भी मुझे शंका होती तो रानी कभी भी नहीं आती। तुम्हारे लिए अब भी मेरे हृदय में वही स्थान है जो पहले था।

कहने का तात्पर्य है—मन्त्री गलत रास्ते पर जा रहा था पर आंख की शर्म ने उसे बचा लिया। इस तरह आँखकी शर्म व्यक्ति को गिरने से बचा लेती है। आज लोगों में

आज की शर्म कम होती जा रही है तो वे गिरते जा रहे हैं—चरित्रविहीन होते जा रहे हैं। फिर भी मजे की बात यह है कि लोग खुद न उठकर दूसरे को उठाना चाहते हैं। ऐसा हो सकना सम्भव नहीं। ऐसे समय में ऐसे संघ की आवश्यकता है और इसीलिये इसकी स्थापना की गई।

बहुत से लोगों के दिमाग में यह कुतर्क उठता है- और खास तौरसे उन लोगों के दिमाग में जो खुद उठना नहीं चाहते, दूसरों को उठते देख नहीं सकते—कि साधु-सन्तों को ऐसे संघ की स्थापना की क्या आवश्यकता है? वे ऐसी उलझन में क्यों पड़े? पर साधु जिस रास्ते पर चलते हैं उस पर दूसरों को चलाएँ, यह उनका एक कार्य क्रम है। आगमवाणी में जिसे 'तिन्नाणं तारयाणं' कहा जाता है। साधुओं के लिए यह कोई उलझन नहीं। यदि यह उलझन होगी तो फिर उनका काम क्या होगा?

आज जन-जीवन गिरता जा रहा है। इस रोग पर काबू पाना मुश्किल होता जा रहा है। ऐसे समय में दो विचारधाराओं से काबू पाने का प्रयास किया जा रहा है। एक विचारधारा के अनुसार समाज, राष्ट्र और देशका उत्थान हो, वहाँ दूसरी विचारधारा बतलाती है—व्यक्ति का सुधार हो—उत्थान हो, वह सत पथ पर आये। अणुव्रत-योजना व्यक्ति का सुधार करती है। व्यक्ति सुधरेगा तो समाज, राष्ट्र और देश अपने आप सुधर जायेंगे। समाज आखिर है क्या? व्यक्तियों का समूह ही तो समाज है। जितने व्यक्ति सुधरेंगे उनका समूह एक समाज हो जायगा। व्यक्ति का सुधार किये बिना समाज सुधार की भावना निरी कल्पना होगी।

अणुव्रती-संघ की स्थापना की ५ वर्ष की अवधि में इसकी प्रशंसा और विरोध दोनों हुए, पर हमें इसकी तो कोई भी परवाह नहीं है। विरोध भय से घबराएँ, लोगों में ऐसी संकीर्णता थी। पर आज यह सब कपूर की तरह उड़ते जा रहे हैं। वास्तव में संकीर्णता होनी भी नहीं चाहिए। अच्छी चीज कहीं पर भी हो उसे पाने में कैसी हिचकिचाहट? उसे आत्मीयता की दृष्टि से अपनाएँ। अच्छी चीज अपनी ही होती है, व्यक्ति-व्यक्ति की होती है। एक की नहीं कहलाती, सबकी कहलाती है।

अन्त में प्रेरणा देते हुए यही कहता हूँ कि अणुव्रतों को अपनाइये, दूसरों को अपनाने की प्रेरणा दीजिये और दिखा दीजिए कि अणुबम के युग में अणुव्रत का कितना स्थान है?

बीकानेर
११ मई '५३

६० : अहिंसा

जीव को कम से कम दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—जंगम और स्थावर। पर दो भेद ही पर्याप्त नहीं हो जाते। अतः उसके ६ भेद किये गये हैं—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस काय। सीधे शब्दों में चलने-फिरनेवाले जीवों के अतिरिक्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति, वायु और अग्नि भी जीव हैं।

पृथ्वी, पानी आदि भी जीव हैं इस पर पहले लोग विश्वास नहीं किया करते थे। भला इनमें भी जीव हो सकता है क्या? यह शंका उठा करती थी। २५०० वर्ष पूर्व की ऋषिवाणी पर विश्वास नहीं किया गया। विज्ञानका प्रताप है—आज उसने इन सबको अपनी कसौटी पर कस लिया है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि इनमें भी जीव हैं। न माननेवाले भी अब इसे मानने लगे हैं। ताज्जुबके साथ-साथ खेद होता है कि—विज्ञान ने सिद्ध कर दिया इसलिए लोग आप्त-वाणी को सही मानते हैं। इसके बिना उन्हें अपने आप पर विश्वास नहीं होता।

इनमें जीव हैं तो फिर इनकी हिंसा करना पाप होगा क्या? यदि पाप होगा तो फिर इससे बच सकना मुमकिन नहीं। पर बच सकना मुमकिन नहीं, इसके बिना काम नहीं चलता इसलिए हिंसा को हिंसा न माने यह नहीं हो सकता। किसी भी हालत में हिंसा, हिंसा ही रहेगी वह अहिंसा नहीं हो सकती। उसे अहिंसा नहीं कहा जा सकता। चाहे वह कितनी ही अनिवार्य कोटिकी क्यों न हो। अनिवार्य कोटि की है इसलिए उसे अहिंसा मान लेने का मतलब होगा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति धर्म है फिर वे चाहे जो कुछ हों। अपनी-अपनी आवश्यकताएँ धर्म होंगी। आमिषभोजी मांस खाना अपना धर्म मानेगा। निरामिष भोजी शाक खाना धर्म मानेगा, मद्यपायी मदिरा पीना धर्म मानेगा। सबका अपना-अपना अलग धर्म होगा। इस तरह हिंसा को अहिंसा समझने का मतलब होगा अफीमको गुड़ समझकर खाना। नशेबाजके अफीम बिना काम नहीं चलता; वह अफीम खाता है, पर उसे अफीम समझता है, गुड़ नहीं समझता। गुड़ समझकर खाने लगेगा उस दिन हालत कुछ और ही होगी। इसी तरह हिंसाको अहिंसा और अहिंसाको हिंसा समझना भी दिमागका दिवालियापन होगा। लोग हिंसा और अहिंसा मिश्रित धर्म भी मानने लगे हैं। इस तरह यह धर्म का एक विकृत रूप बन जाता है। हिंसा और अहिंसा को मिलाना ठीक वैसा ही होगा जैसा घी और तम्बाकू को मिला देने से होता है। घी और तम्बाकू का मिश्रित रूप किसी काम का नहीं रहता। न वह तम्बाकू का काम दे सकता है

और न घी का ही। इस तरह वह दोनों तरफ से खराब हो जाता है। अस्तु! हिंसा को हिंसा मानना पड़ेगा। फिर वह जीवन में कितनी ही जरूरी क्यों न हो? चाहे उससे बच सकना नामुमकिन हो। हिंसा भी तो कई तरह से होती है—एक हिंसा वह होती है जो जीवन के लिए आवश्यक है, जिसके बिना गृहस्थ का जीवन न चल सके। दूसरी आत्म-रक्षा के लिये करनी पड़े। यदि इन दो प्रकार की हिंसा से न भी बचा जा सके तो कम से कम निरर्थक हिंसा से तो बचा जाय। किसी प्राणी को संकल्प, लक्ष्य या विधिपूर्वक तो न मारा जाय।

साधु किसी प्रकार की हिंसा नहीं कर सकता। वह हिंसा से पूर्णरूपेण बचता है। मनुस्मृति में बताया गया है—घर में ५ हिंसा के स्थान हैं—चूल्हा, चक्की, ऊखली, बुहारी और पानी का परींडा। साधु घर ही नहीं रखता फिर ये चूल्हे चक्की उसके हों भी कैसे? वह तो अपने लायक रीति अनुसार मिलता है तो ले लेता है। गृहस्थ के लिए वैसा कर सकना सम्भव न हो तो वह उद्योग रखी निरर्थक हिंसा से तो अवश्य बचे।

बीकानेर
२४ मई '५३

६१ : मानवता एवं धर्म

सबसे पहले यह जानना ठीक रहेगा कि मानव कौन है? किस जन्तु को मानव कहते हैं तथा उसके लक्षण क्या हैं? आप्त पुरुषोंने कहा है—वह प्राणी मानव है जो सत्य-कर्म है—जिसकी कहनी और करनी सत्य है—समान है। वह प्राणी, जो जैसा कहता है वैसा ही करता है, मानव कहलाता है। करना कुछ और करना कुछ यह मानवता का काम नहीं है। कहनी और करनीको सत्य, सही और समान बनाने के लिए धर्म का अवलम्बन जरूरी है। लोगोंके दिमाग फौरन बौखला उठेंगे—वाह! धर्म! धर्म ने ही तो हमें कायर बनाया है। धर्म ही के कारण तो हमारा पतन हो रहा है। पर उनका यह कहना निरी भूल है। धर्म कभी गिराता नहीं है। वह तो गिरते को उठाता है। अधर्मी का उद्धार करता है। पतित को पावन बनाता है। यदि आपको ऐसा विश्वास नहीं है तो मुझे कहना पड़ेगा आपने धर्म को नहीं समझा। आप धर्म के तत्त्वोंतक नहीं पहुँच पाये; कहीं बीच ही में उलझ गये जिससे आपकी आँखोंपर पीला चश्मा लग गया। संसार की सभी चीजें पीली दीखने लगीं। जिसमें बुराइयों का नाम नहीं; जिसके आगे बुराइयाँ टिकती नहीं, वह धर्म है।

जहां एक तरफ धर्म को पतन का कारण बताया है वहां कुछ लोग यह भी कहते हैं—हम उच्च हैं, पवित्र हैं, हमें ही धर्म करने का अधिकार है। अस्पृश्य तथा नीच आदमियों को धर्म करने का कोई अधिकार नहीं। स्त्रियां तो धर्म कर ही नहीं सकतीं। जितने दिमाग उतने विचार हैं। हां आप बाजार का काम करते हैं स्त्रियां तो घर का काम करती हैं। कार्यक्षेत्र में बँटवारा हो सकता है, पर उन्हें धर्म करने का अधिकार नहीं है—यह कहना ठीक नहीं। धर्म करने का अधिकार सबको है। कोई किसी को इसमें बाधा नहीं पहुँचा सकता। धर्म करने की दिशा में सभी स्वतंत्र हैं। कोई हरिजन भगवान का स्मरण करता है तो कौन उसे मना कर सकता है? एक अछूत कहा जाने वाला व्यक्ति चरित्र उठाता है उसे कौन रोक सकता है? मैं तो स्पष्ट कहता हूँ—उच्च या नीच जाति से होते ही नहीं; वे होते हैं चरित्र से, आचरण से। जिसका चरित्र उठा है, आचरण शुद्ध है वह नीची जाति का होते हुए भी उच्च है। कोई उच्च कुल में पैदा होकर भी चरित्रभ्रष्ट है तो वह नीच है। महाजन या ब्राह्मण का इसमें कोई लिहाज नहीं रह सकता है। धर्मक्षेत्र में यह जातीय विभेद नहीं टिक सकता। वह आसमान की तरह व्यापक है, क्षेत्र-सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। अतः धर्म व्यापक है। सभी वर्ग के व्यक्तियों का है, सबको धर्म करने का अधिकार है। पर धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म किसे कहते हैं? किस-किस धर्मको मानना चाहिए? वैदिक, बौद्ध, जैन, इसाई आदि आदियों से किसको माना जाय? लोग कहेंगे हम वैदिक-सनातनी बुद्ध को क्यों मानें? या हम जैनों के पास क्यों जायें? जो कहते हैं—कुएँ मत बनाओ, प्याऊ मत लगाओ, पानी मत पिलाओ, जो स्नान नहीं करने कहते हैं और मूर्ति को मत पूजो, कहते हैं। कितनी ओछी बातें हैं, जिनमें मनुष्य उलझ पड़ा है। मैं इसके बारे में स्पष्ट कर दूं। यदि कोई साधु यह मना करता है—कुएँ मत बनाओ, प्याऊ मत लगाओ आदि आदि तो आप समझ लीजिये वह साधु नहीं है। साधु है तो वह कभी मनाई करेगा नहीं। क्या हम जानते नहीं कि जो अन्न खाते हैं वे पानी पीयेंगे। उन्हें पानी पाना पड़ेगा। फिर मना करना क्या अर्थ रखता है? और मना करने से मानेगा कौन? पर यदि आप चाहते हैं कि लाखों का ब्लैक किया, शोषण किया और अब एक कुआ बनादें, धर्मशाला बना दें और उस पाप से छुटकारा पा जायें तो यह होने का नहीं। आत्म शुद्धि इस तरह नहीं होती। आत्मशुद्धि होगी आत्मा को तपाने से। ये तो अपनी अपनी व्यवस्थाएँ हैं। सब करते हैं। रही मूर्त्ति-पूजा की बात। मैं यह स्पष्ट किए कह दूं—मेरा किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं रहता, जिससे किसी व्यक्ति को दुःख हो। पर मुझे अपनी बात को स्पष्ट करना पड़ता है। कोई व्यक्ति मुझसे आकर पूछे—मूर्त्ति पूजा के बारे में आपके क्या विचार हैं। मैं स्पष्ट कहता हूँ—मैं मूर्त्ति पूजा का समर्थन नहीं करता। मैं भगवान् की उपासना का समर्थक हूँ, उनकी उपासना की जाय।

उपासना हृदय से होती है। आप यदि इसे आक्षेप मानते हैं तो मानें। मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए मूर्त्ति-पूजा का समर्थन नहीं कर सकता। आप यदि इसे मूर्त्ति पूजा की भलाई समझते हैं तो समझें। मैं तो स्पष्ट कहता हूँ, मन्दिर में जाने मात्र से या हमारे पास आने मात्र से धर्म नहीं हो सकेगा। धर्म आत्मा की वस्तु है, वह आत्मा में होगा। कोई मूर्त्ति पूजा करें या न करें यह उनकी इच्छापर निर्भर है। पर अपनी मान्यता को बताने का मतलब आक्षेप समझ लेना भारी भूल है। मैंने जो कुछ कहा तथा पुराने ऋषि-महर्षियोंने क्या कहा है, उसपर गौर करें सिर्फ किसी के बहकावे में भूल न जाइये—

तू तो सर्व सुहागन नार,
मन्दिर में कांई ढूंढती फिरे।
थारे हिरदे बसे रे भगवान,
मन्दिर में कांई ढूंढती फिरे॥
गगन मण्डल स्यूं गङ्गा रे उतरी।
पांचू ही कपड़ा धोले॥
शील शीला दे फटकारो।
काया सू निर्मल क्यूं ना होले
तू तो.............ढूंढती फिरे॥

किस कवि की कृति है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं। कबीरजी एक प्रसिद्ध सन्त कवि हो चुके हैं। वे अपने एक भजन में आगे क्या कहते हैं, यह भी सुनिये :—

पानी में मीन पियासी,
मोहे सुन सुन आवे हांसी।
आतम ज्ञान बिना नर भटक्यो,
कोई मथुरा कोई काशी॥
किस्तुरी मृग नाभी माही,
वन वन वन फिरत उदासी।
पानी में मीन पियासी
मोहे सुन सुन आवे हांसी॥

भगवान को घट से राखिए। उनका प्रतिपल स्मरण करिये। अस्तु,

जैन या सनातन आदि के झगड़ों में न पड़कर आप धर्म के मर्म को पहचानिये। धर्म क्या है—सत्य और अहिंसा धर्म है। अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य धर्म हैं। चोरी करना

कोई धर्म नहीं मानेगा। सन्तोष और संयम में धर्म है। क्षमा और धैर्य में धर्म है। कोई क्रोध में धर्म नहीं बतायेगा। आप चाहे जिस धर्म में देख लीजिए—ये धर्म मिलेंगे। जैन आगमोंको देखिए; भागवत महाभारत आदि आदि में देखिये : कोई भी इसके अलावा धर्म दूसरा धर्म बताता है क्या? इनको अपनाने से बुराइयाँ दूर होंगी। जीवन उन्नतशील होगा। जीवन की बुराइयों का खत्म करने के लिये हमने अणुव्रत योजना बनाई है जिसमें ५ नियम हैं :—सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अचौर्य आदि के ये नियम हैं। आप ही उन्हें पढ़ें, मनन करें और अपनायें।

बीकानेर
१५ मई '५२

६२ : तीर्थंकर ऋषभ

आज अक्षय तृतीया है। इसे इक्षुतीज भी कहते हैं। अन्य पर्वों की तरह इसका भी अपना महत्त्व है। प्रत्येक पर्व अपने पीछे एक इतिहास रखता है। इक्षु तीजका भी अपना इतिहास है। यह कैसे चला, इसके लिये लोगों के अलग-अलग अपने मत हैं। जैनमत के अनुसार इस दिन आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान् या सीधे सादे शब्दों में बाबा आदिम ने इक्षुरस से पारणा किया। इसी की स्मृति में इसे इक्षुतीज की संज्ञा मिली। आदिम बाबा कौन थे, उन्होंने कैसे पारणा किया, उन्होंने अपने जीवन में क्या-क्या काम किये इसे बतलाने से पूर्व उस समय से पूर्व की दुनिया का एक चित्र सामने रख देना ठीक रहेगा।

संसार में शान्ति थी। चिन्ता और फिक्र का कोई नाम ही नहीं था। लोग आराम से रहते थे। चोरी और डकैती का नाम नहीं था। क्यों? क्योंकि कोई भूखा नहीं था। किसी को कमाना नहीं पड़ता था। जिसकी जैसी इच्छा होती वैसा मिल जाता। कल्पतरु दे देते। संग्रह-वृत्ति की होड़ नहीं थी, और हो भी क्यों जब आवश्यकतानुसार मिल जाता था। सन्तान आदि की इतनी वृद्धि नहीं थी; जिन्दगी भर में सिर्फ एक जोड़ा पैदा हो जाता था। उन्हें बहन-भाई कहिए या पति-पत्नी। अलग विवाह आदि नहीं होता था। ये युगलिये कहलाते थे।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। युगलियों की पुण्यवाणी हीन होती गई। बिना पुण्यवाणी के कुछ मिलता नहीं। सोना भी मिट्टी हो जाता है। इस वसुन्धरामें पग पग पर निधान है पर 'कर्म हीन नर पावत नाहीं।' कल्पतरु भी युगलियों की पुण्यवाणी

थी तब इच्छापूर्ति करते थे। अब वे हाथ खींचने लगे। उन्होंने यह काम एक साथ नहीं धीरे-धीरे किया। लोग भूखों मरने लगे, उन्हें यह पता नहीं कि अब भोजन कैसे मिलेगा। खेती करना और रोटी पकाना तो वे जानते ही न थे। उन्हें तो सीधा ही मिला करता था। लोग चोरियां भी करने लगे। अब व्यवस्था का भार कुलकरों पर दिया गया। इस तरह सात कुलकर हुए। उन्होंने हकार, मकार और धिक्कार की नीतियां अपनाईं अर्थात् चोरी करनेवाले को पहले ये कहते हैं। चोर समझते—चोरी करने से मरना अच्छा है। इस नीति को लोग लांघ गये तब 'हे ! चोरी मत करो' कहा जाता, लोग इसको भी लांघ गये। फिर फटकार ने धिक्कारने की नीति अपनाई। लोग इसको भी लांघ गये। इस तरह कुलकारों की नीतियां काम न कर सकीं। अन्तिम कुलकर नाभि राजा हुए। उन्होंने सोचा इस तरह यह काम चलने का नहीं। वे शिकायत करनेवालों को अपने पुत्र ऋषभदेव के पास भेज देते। वे उन्हें बड़ी सरलता से निपटा देते। लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा। वे उनके कहे अनुसार चलते।

एक दिन लोगों ने आकर कहा—बाबा ! भूखे मरते हैं। ऋषभदेवजी ने खेती की विधि बताई। खला करना बताया। कहा—बीच में एक लकड़ रोप दो, चारों ओर सिट्टे रहेंगे ऊपर बैल आदि चलेंगे जिससे धान निकल जायगा। लोगों ने वैसा ही किया। खला काढ़ते समय धान को बैल खाने लगे। लोगोंने आकर सारी बात कही। उनके मुँह पर छींकी लगा देने की सलाह मिली। छींकी लगा दी गई। धान घर ले आये। बैलों के सामने भी कुत्तर पानी रखा पर छींकी नहीं खोली। उन्हें क्या पता छींकी खोले बिना ये कुछ खायेंगे नहीं ! वे भागे-भागे बाबा के पास आये बोले बैल कुत्तर नहीं खाते। उन्होंने कहा—छींकी खोली या नहीं ! लोगों ने कहा – नहीं। 'तो खोल दो। बड़ा अन्याय कर दिया, बिचारों को भूखा मारा।' किसानों ने छींकी खोल दी। बैलोंने बारह घण्टे बाद कुछ खाया पीया। इस अंतराय के भागी आदिम बाबा बने, जिसके बदले में ऐसा कर्म बंधा कि उन्हें आगे १२ महिनों तक आहार पानी नहीं मिला।

बाबा ने कार्य को तीन भागों में बाँटा—असि, मसि और कृषि। कृषि खेतिहर ; मसि वितरण करनेवाले, व्यापारी बनिये ; असि-रक्षक, चोर डाकुओं से बचानेवाले। उन्होंने इस प्रकार सारी सामाजिक व्यवस्थाएँ कर दीं। सांसारिक काम लोगों को सिखलाया। लोग उनकी प्रत्येक सूझ का आदर करते—उनको सम्मान की दृष्टि से देखते।

ऋषभदेवजी ने सोचा—मैंने सांसारिक कार्य तो बहुत कुछ कर दिया है अब अपना भी कुछ कर देना चाहिए। उन्होंने राजकाज भरत को सौंपा। अन्य पुत्रों को भी

जमीन जायदाद, पट्टे दिये पर दो पुत्रों को ननिहाल चले जाने के कारण कुछ न दे सके।

वे साधु बनने को तैयार हुए। लोगों पर उनका प्रभाव था। वे सोचते—जैसा ये करेंगे वैसा ही हम करें इसीमें हित है। जब वे साधु बने ४००० राजा और राजकुमार भी अपने राजपाट को छोड़कर साधु बन गए। उन्होंने साधु बनते ही मौन धारण कर लिया। ४००० शिष्यों ने विचारा यह क्या हो गया? बोलते तक नहीं। किधर भी ध्यान नहीं देते। इस तरह मौनावस्था में दिन बीतने लगे पर आहार नहीं मिलता। गोचरी जाते पर लोगों को आहार देना ही नहीं आता था। वे आहार के लिये पूछते तक नहीं थे और मजे की बात यह कि उन्होंने आज तक किसी को भिक्षा दी भी तो नहीं थी। १२ घण्टे तक बैलों को भूखा रहना पड़ा था। आपकी सलाह से उनके मुँह पर छीकी लगाई गई थी जिसके प्रतिफल स्वरूप १२ महीने तक भूखा रहना पड़ेगा। पर शिष्यों को इसका क्या पता? उन्होंने सोचा—"भूखे भजन न होहिं गोपाला, ले लो अपनी कण्ठी माला।" अधिकांश शिष्य चलते बने।

इसी अवधि में भगवान् के वे दो पुत्र जिनको ननिहाल में होने के कारण राज्य नहीं दिया जा सका था, भरतजी के पास आये और राज्य के लिये कहने लगे। उन्होंने बताया—"पिताजी दीक्षा ले चुके हैं, मैं तुम्हें इतना राज्य देता हूँ।" उन्होंने कहा—"नहीं लेना है आपसे राज। लेंगे तो पिताजी से लेंगे।" भरतजी ने कहा—"वे साधु बन गये हैं।" उन्होंने कहा—"चाहे बन जाओ।" वे भगवान् के पास आये और राज्य मांगा। पर वे ध्यान तक नहीं देते। वे साथ रहते और सुबह-सुबह राज मांगते। इन्द्र ने यह सब देखा। उसने भगवान् के शरीर में प्रवेश किया और कहा—"जाओ दिया राज्य, वैताढ्य गिरि के पास है। वे चले गये और वहीं राज्य करने लगे। राज्य भगवान् ने नहीं, इन्द्र ने दिया पर नाम उनका हुआ।

इस प्रकार भगवान् पुर-पाटन घूमते पर बोलते नहीं, मौन रहते—आहार वे मांगते नहीं। बिना मांगे कोई देना जानता नहीं। जिस किसी के घर जाते, लोग स्वागत करते। कोई सवारी के लिये हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, घुड़बैल गाड़ी लाते तो कोई हीरा, मानक, मोती मोनिया लाते, पर भगवान् उधर ध्यान तक नहीं देते। आखिर इस तरह दिन बीतते हुए बारह महीने की अवधि समाप्त होने को आई। आप हस्तिनापुर पधारे अतः उनका संसार लेखे पर पौत्र राज्य करता था। उसे रात में स्वप्न आया—"मैंने अमृत से मेरु सींचा है।" पुराने जमाने में लोगों को स्वप्न बहुत कम आते और आते वे प्रायः मिल जाते। सुबह भगवान् को घर पधारते देखा। उसने सोचा यह कौन आ रहे हैं। फिर जाति-स्मरण-ज्ञान हो गया। पर-भव में ये मेरे मित्र थे। अनेक तरह से उसको

सोचा क्या आहार दिया जाय? पास ही में इक्षु रस के घड़े पड़े थे। उसने कहा—"महाराज! इक्षु रस है।" भगवान् ने चूक लगा दी और आवश्यकतानुसार इक्षु रस से १२ महीने की तपस्या का पारण किया।

इस तरह साधना करते करते पुर-पाटन विचरते। भगवान् की माता मरू देवी अब भी जीवित थीं। उसने भरत को बुलाकर कहा—"मूर्ख तू समझता नहीं, कहां है तेरा पिता, क्या कभी तूने खबर की? तू क्यों करने लगा, राजगद्दी पर जो बैठा रहता है। तुझे क्या लेना है अब पिता से? पता नहीं उन्हें कैसे भोजन मिलता होगा।"

भरत ने कहा—"माताजी गलती हुई, अभी देखता हूँ।" वे नीचे आये। उन्हें तीन बधाइयाँ मिलीं—पौत्र-प्राप्ति, आयुधशाला में चक्रुरत्न की उत्पत्ति और भगवान को केवल-ज्ञान-प्राप्ति। भरत ने पहले केवल-ज्ञान-प्राप्ति का महोत्सव मनाया। मरू देवी को सारी बातें कहीं। सारा परिवार दर्शनार्थ आया। भगवान् समोवशरण के बीच विराजे थे। बगीचा खचाखच भरा था। भला आगे बैठने की जगह कहां थी? मरूदेवी हाथी पर बैठी रहीं। उसके मन में विचार आये—"वाह रे ऋषभ! तू कितना अविनीत निकला। दिन में दस दफे प्रणाम करनेवाला तू अब सामने भी नहीं देखता, ऐसा क्या घमंड आ गया है?" धीरे-धीरे विचार विशुद्ध होने लगे—"अरे मैं गलती कर रही हूं। यह साधु है, निर्मोही है। इसके लिये संसार की सभी महिलाएँ माता और बहिनों के समान हैं। इसके सामने न कोई उंच है, न नीच है। इसका किसी के प्रति न राग है, न द्वेष है। मैं भी उस दिन धन्य होऊँगी जब मैं भी वीतराग होऊँगी।" विचार विशुद्ध होते गये और इतने विशुद्ध हुए कि युगों के बँधे कर्म कच्चे धागे की तरह टूट गये। अब आत्मा अपने मूलस्वरूप को प्राप्त हो गई। भगवान् ने प्रवचन के बीच में कहा—"माता मरू देवी सिद्ध हो गई।" भरतजी ने सुना। उन्हें ताज्जुब हुआ। अभी-अभी तो माता को हाथी पर बैठे छोड़ कर आया था। वे वापस आये। देखा—मरू देवी का मृत कलेवर पड़ा था। अस्तु।

भगवान् भी इसी तरह कर्म काटते-काटते परमात्मपद को पा गए।

बीकानेर,
१६ मई '५३

६३ : बहनों से

आज बहनों को अलग शिक्षा दी जा रही है। वैसे तो व्याख्यान आदि में शिक्षा मिलती ही है पर आज की शिक्षा सिर्फ बहनों के लिये होगी। शिक्षा स्कूलों और कालेजों आदि में भी पाई जाती है पर वह सिर्फ जीविका चलाने तक ही रहती है। आध्यात्मिक शिक्षा जीवनप्रद होती है, जीवन को उठाती है, जीवन में आई बुराइयों पर प्रहार करती है और उनको मिटाने में योग देती है।

बहनें इस बात का ख्याल रखें कि उनसे कोई अभूतपूर्व कार्य तो नहीं होता है। कहीं निरर्थक हिंसा तो नहीं होती है। हिंसा का मतलब कीड़ा मकोड़ों को मारने या पशु-पक्षियों, मनुष्यों को मारने से ही नहीं है। बल्कि अन्तर में किसी के प्रति छोटी भी छोटी कलुषित भावना का होना भी हिंसा है। बहनें इसका ख्याल रखती हैं या नहीं? किसी से द्वेष या वैर तो नहीं रखतीं? ननद, जेठानी आदि के बच्चों के साथ दुर्व्यवहार तो नहीं करतीं? सास आदि से लड़ती-झगड़ती तो नहीं हैं? वे अठारह किस्म के पापों का पूरा-पूरा ख्याल रखें—उनसे बचें।

वे अपने दृष्टिकोण को शुद्ध रखें। स्त्रियों का असली आभूषण तो शील ही है। वे शील सुरंगी रहें। ऊपरी आडम्बर और वेश-भूषा की सजावट में न पड़ें। बाहरी सौन्दर्य, बाहरी सौन्दर्य होता है उसे वास्तविक नहीं मान लेना चाहिये। वास्तविक तो जो है वही है और वह है शील-शृङ्गार।

बहनें कुछ शिक्षा पायें। शिक्षा में सिर्फ अक्षर-ज्ञान सीखने की ओर मेरा इशारा नहीं है। अक्षर-ज्ञान क्या? मूल-शिक्षा आध्यात्मिक है। वे आध्यात्मिक जानकारी प्राप्त करें। श्लोक सीखें, अपने जीवन में ज्यादा से ज्यादा आध्यात्मिकता उतारें। इससे उन्हें एक बड़ा फायदा होगा। उनका जीवन तो सुधरेगा ही, साथ ही साथ सन्तान पर भी उनका एक अच्छा प्रभाव पड़ेगा। सन्तान सुसंस्कारी बनेगी। माता सन्तान को इच्छानुसार बना सकती है। संतान जितना माता से सीखती है उतना और किसी से शायद ही सीखती हो। आखिर वह माता के पास पलती है और कम से कम १२-१३ वर्ष तो वह माता के अनुशासन में ही रहती है। इस अवधि में माता के गुण व अवगुणों की एक गहरी छाप सन्तान पर लग जाती है। बहनो! बच्चों को सुसंस्कारी बनाना तुम पर ही निर्भर करता है। बच्चों को ही नहीं तुम अपने पति तक को सही रास्ते पर ला सकती हो यदि वह गलत रास्ते पर जा रहा हो।

एक बात मुझे और कहनी है, वह यह कि तुम अश्लील साहित्य को कभी मत पढ़ो, यह जीवन को गिराने में सहायक होता है। अक्सर ऐसा होता है कि स्त्रियाँ

जहाँ मिलती हैं—अश्लील बातें करती हैं। उनके दिल की गुँडी वहाँ खुलती है। पर, बहनो ! यह तुम्हारे लिये ठीक नहीं। जहाँ भी मिलो आत्म-निर्माण की बात सोचो। नैतिक उत्थान के बारे में विचारो।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि त्याग तपस्या के द्वारा आत्मा की मैल धो डालो। जीवन की बुराइयों को मिटा दो। अच्छाइयों को प्रश्रय दो। अपना जीवन उठाओ। अपनी संतान को सुसंस्कारी बनाओ। अपने सम्पर्क में आनेवालों को सही मार्ग पर आने की प्रेरणा दो। उनमें धर्म के प्रति रुचि पैदा करो और अपने जीवन को सफल जीवन बनाओ।

बीकानेर,
१६ मई '५३

६४ : रात्रि-भोजन-परित्याग : एक तप

मनुष्य का काम भोजन के बिना नहीं चलता। पर कभी भोजन से उसकी भूख मिटी भी ? साल में ३६० दिन भोजन करनेवाला व्यक्ति एक दिन भोजन न करे तो उसकी क्या हालत होने लगती है ! यही नहीं वह रात्रि के बारह बजे तक भोजन करता है। सोचता है, शायद कल उपवास के दिन भूख न लगे पर वह कब चूकनेवाली है ? बिना बुलाये ही आ धमकती है।

रात्रि-भोजन की, क्या जैन और क्या जैनेतर सभी धर्म मनाही करते हैं। रात्रि-भोजन अंधा भोजन है। एक समय था—जैन रात्रि में कभी भी भोजन नहीं किया करते थे। विवाह-शादी, बारात में जहाँ जैन जाते उन्हें पहले भोजन कराया जाता—सूर्यास्त से पूर्व। समय बीता, युग ने करवट ली। विश्व-प्राङ्गण में प्रगति की धूम मची। जैनों ने देखा—सब रात्रि को भोजन करते हैं फिर हम ही अछूते क्यों रहें ? इस तरह महीने में तीस दिन रात्रि-भोजन का त्याग रखनेवाले जैनी अब पाँच तिथियों—द्वितीया, पंचमी अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को रात्रि-भोजन का त्याग रखने लगे। फिर धीरे-धीरे वह अष्टमी और चतुर्दशी का ही रखने लगे। आज वह शिथिलता यहाँ तक आई कि व्यक्ति किसी भी तिथि के साथ राग-द्वेष नहीं रखता—सबको समान समझता है। जैसी त्रयोदशी वैसी चतुर्दशी। आज उपवास की बात कहने पर लोग सिर धुनने लगते हैं। हाँ, व्रत करते हैं, जिससे नाम होता है। भोजन नहीं किया गया पर खाने की प्रायः सभी चीजें खा ली जाती हैं। कहने को तो वह एकादशी होती है पर—

गिरि ने छुहारा खाय, किसमिस ने बादाम खाय,
सेव ने सिंघाड़ा खाय, साठे की सवादी है।
गूंदपाक खीर-खाण्ड, बरफी-अकबरी-कलाकंद,
खूब खाय, लौटे पड़यां गादी है।
आम-खरबूजा खाय काकड़ी मतीरा खाय,
मूली बेर-सांगरी स्यूं खूब प्रीत साधी है।
नाम तो अल्प आहार, कियो भरपूर भार,
कहने को एकादशी पर द्वादशी की दादी है।।

अर्थात्—ऐसे व्रत में क्या पता चले कि उपवास में कितनी तकलीफ होती है। ऐसी एकादशी को लोग रोजाना करना भी पसन्द करेंगे। पर इससे, अर्थात् ज्यादा खाने से आत्मा की गरज पूरती नहीं। एक पेट भरता है तो सारी इन्द्रियों को भूख लग जाती है। कान चाहने लगते हैं अच्छी अच्छी रागिनियां सुनना, आंखें रूप चाहने लगती हैं, नाक खुशबू चाहती है। लेकिन यदि एक दिन भी उपवास रखकर देखा जाय तो इन सभी की भूख मिट जाती है। कान सुनना नहीं चाहेंगे, तो मुंह बोलना नहीं चाहेगा। सबको शान्ति मिलेगी।

भव-भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए तपस्या की आवश्यकता है। बिना तपस्या कर्म कटते नहीं—आत्मा उज्ज्वल होती नहीं और बिना इसके मुक्ति मिलती नहीं। इस तरह तपस्या—दूसरे शब्दों में निर्जरा कर्म काटती है, तो त्याग-संवर नये कर्मों को नहीं लगने देना। वह आश्रव को रोकना है। आश्रव ऐसे द्वार हैं जिनसे आत्मा के कर्म लगते हैं। एक तरह से आश्रव कूड़ा करकट आने के मार्ग हैं तो संवर बन्द किये हुए दरवाजे हैं जो उसे भीतर आने से रोकते हैं। निर्जरा भीतर आकर कूड़ा करकट को साफ करती है।

नवनीत दही में रमा रहता है, आत्मा भी इसी तरह शरीर में रमी रहती है। शरीर में रहने तक उसका अलग अस्तित्व नहीं होता। पर जब दही को बिलोया जाता है—नवनीत अलग हो जाता है और छाछ अलग हो जाती है। इसी तरह तपस्या से आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप पाकर हमेशा के लिए मुक्त हो जाती है।

गन्दे पात्रों को मांजने के लिए राख आदि काम में लिये जाते हैं इसी तरह आत्मा की मैल खपाने के लिये तपस्या राख का काम देती है।

शरीर स्थित आत्मा, मिट्टी में मिले सोने की तरह है। खान से मिट्टी में मिला सोना निकालकर तपा-तपाकर सोना अलग कर लिया जाता है—विशुद्ध बना लिया जाता है। इसीतरह आत्मा को तपा उसे विशुद्ध बनाने का काम तपस्या करती है।

यह स्पष्ट हो जाता है कि तपस्या अत्यावश्यक है। बिना तपस्या के आत्मा की गरज सरने की नहीं। तपस्या की जानी चाहिए। पर भूखा कैसे रहा जाय? उपवास कैसे हो जब एकाशन भी होना मुश्किल है? फिर बेला, तेला, चोला आदि की बात ही क्यों की जाय? मैं एक सीधा रास्ता बता हूँ। साल में ६ महीने की तपस्या आसानी से हो जायगी। रात और दिन दो होते हैं। यदि रात को भोजन किया जाय तो यह ६ महीनेकी तपस्या हो जायेगी, कभी उपवास न करना पड़ेगा, फिर भी बड़ा लाभ होगा। लेकिन वह त्याग पूरा होना चाहिए। रात्रि-भोजन-त्याग का मतलब यह नहीं है कि थाली पर बैठकर न खाना। इसका मतलब है रात में कुछ न खाना। रात्रि-भोजन का मतलब यह भी नहीं है कि ८-६ बजे के बाद न खाना। पर इसका अर्थ है सूर्यास्त से सूर्योदय तक नहीं खाना। यदि थोड़ा भी उपयोग रखा जायगा तो आसानी से ६ महीने की तपस्या हो जायगी।

बीकानेर,
१६ मई '५३

६५ : जैनों का मूल सिद्धान्त

विश्व-दर्शनों में जैन-दर्शन का बहुत बड़ा स्थान है। जैन-दर्शन के बारे में बतलाने से कई दिन बीत जाएँ तो भी बताया जाना मुश्किल है। यहाँ तो गागर में सागर भरा जा रहा है।

जैनोंका मूल सिद्धान्त है :

"मित्ती मे सव्वभूएसु
वेरं मज्झं न केणइ।"

दूसरे शब्दों में इसे अहिंसा कहा जाता है। संसार के सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव, उनको आत्म-तुल्य समझना, किसी के प्रति वैर-भाव न रखना—यह अहिंसा है।

दुःख-सुख का कर्त्ता आत्मा है। वह जैसा करता है उसे भोगना पड़ता है। करे आत्मा फिर ईश्वर को गाली दी ही क्यों जाय?

लोग कहते हैं जैन-धर्म अव्यावहारिक है। अहिंसा, सत्य आदि का पूर्णरूपेण पालन होना सम्भव नहीं, फिर इसे व्यावहारिक कैसे कहा जाय? पर बात ऐसी नहीं है। जैन-धर्म में दो रास्ते हैं—एक महाव्रतों का, दूसरा अणुव्रतों का; एक अणागार का दूसरा अगारीका; एक पूर्णरूपता का दूसरा यथाशक्ति का। साधु महाव्रतों को पूर्णरूपेण पालते हैं वे अणागार हैं। गृहस्थ अणुव्रतों को पालते हैं, अणुव्रती हैं। जैन-दर्शन में सत्करणी सबकी अच्छी है। इसमें जैन और जैनेतर का कोई विभेद नहीं।

संसार अनादि, अनन्त है ; इसका कर्ता ईश्वर आदि नहीं है ।

जैन-दर्शन में पुरुषार्थी बनने की प्रेरणा मिलती है । आत्मा का दमन करनेवाला इहलोक और परलोक दोनों में सुखी रहता है ।

आत्मा बड़ी भारी तरक्की कर सकती है। नव तत्त्व, छः द्रव्य को समझकर सम्यक्त्व प्राप्त कर उन्नति करती हुई आत्मा परमात्मा बन जाती है ।

जैनों का वाद समन्वयवाद है, अनेकान्तवाद है जिससे श्रेष आग्रह मिटाया जा सकता है । सभी लोग इन बातों को समझें ।

गंगाशहर,
१७ मई '५३

६६ : महिलाओं से

महिलाओं में धर्म के प्रति रुचि हुआ करती है, वह ऊपरी या दिखावटी नहीं हुआ करती—अन्तर की होती है । यह परम्परा आज से नहीं, हमेशा से चली आ रही है । वे पुरुष की भाँति मोहरे नहीं बदलतीं । पुरुषों में कभी धर्म की रुचि अत्यधिक बढ़ जाती है तो कभी बहुत कम रह जाती है । किसी समय ५-७ सामायिक कर लेते हैं तो किसी समय बिलकुल करते ही नहीं । समय-समय पर उनमें रद्दोबदल होता रहता है । पर स्त्रियों में ऐसा नहीं है । धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा रही है, आज भी है। लेकिन उनकी श्रद्धा रूढ़िगत-श्रद्धा है । अच्छी चीज के प्रति रूढ़िगत श्रद्धा होना बुरा नहीं पर उनमें ज्ञान की कमी है । वे शिक्षा के मैदान में पीछे हैं । ज्ञानमय श्रद्धा हो तो सबसे अच्छी बात है । ज्ञान आंख है । क्रिया करने से पूर्व ज्ञान से उसे देखो—विचारो—यह काम क्यों किया जा रहा है ? मैं यह नई चीज क्यों मँगा रही हूँ । यह मेरे काम की है या दिखाने के लिए ही मँगा रही हूँ । यदि दिखावे मात्र के लिए है तो वहाँ गलती हो रही है । धर्म-स्थान में सब से आगे बैठा जाता है। इसका ध्येय प्रवचन को अच्छी तरह सुन उसे अपनाने का है या सिर्फ इसलिए कि मैं हमेशा से आगे बढ़ती आ रही हूँ, मैं उच्च हूँ पीछे कैसे बैठूँ ? यदि ऐसा है तो यहाँ गलती हो रही है । वास्तव में ऊँच-नीच की कसौटी यह है ही नहीं । बहनें कहती हैं, हमें पुरुषों के बराबर आना चाहिए । मैं तो यही सोचता हूँ कि पुरुषों की बराबरी या उनसे आगे बढ़ने की बात तो छोड़ ही देनी चाहिए । पुरुष ऐसे क्या आगे बढ़ गये हैं ? उन्होंने कौन सी तरक्की कर ली है ? पुरुष स्त्रियों से कहीं अधिक गिरे हुए हैं । वे कोई आदर्श नहीं ; आदर्श है आचार । ऊँच-नीच की कसौटी है आचार और विचार की विशुद्धता और उज्ज्वलता ।

उसकी कसौटी पुरुष या पैसा नहीं हो सकते। अतः बहनें पुरुषों की बराबरी न कर स्वतन्त्र रूप में उठने की बात सोचें—अपने आपको उठाने की बात विचारें। यदि वे स्वयं उठ गईं तो अन्य चाहे पुरुष हो या और कोई सब पीछे रह जायेंगे। उन्हें अमुक या अमुक की बराबरी करने की आवश्यकता ही नहीं होगी, जिसमें ईर्ष्या का भाव रहता है, जो आत्म-पतन करनेवाली है।

विवेक से काम लो। मानव का मतलब ही तो विवेकशील प्राणी है। जिसमें विवेक नहीं वह मानव कैसा? पशु-पक्षियों में विवेक तथा ज्ञान नहीं होता। मानव उचितानुचित का ज्ञान रखता है, पशु नहीं। गाय को ही ले लीजिए यदि उसके पैर में रस्सी उलझ जाय तो वह नाच कूदकर और ज्यादा उलझ सकती है पर वह नहीं जानती कि इससे किस प्रकार निकल जाना चाहिए। क्यों? उसमें विवेक की कमी है। उसका दिमाग इस तरफ काम नहीं करता। मानव सब बात को विचार कर करता है। सोच समझ कर करता है—ज्ञान से करता है। अतः ज्ञान को प्राप्त करो। आज बहनों में ज्ञान की कमी है। यही कारण है वे पिछड़ी हैं। यदि ज्ञान की कमी नहीं होती तो ऐसा कभी मुमकिन नहीं था। ज्ञान को बढ़ाओ; विकसित करो। वह ज्ञान नहीं जो जीवन में उच्छृङ्खलता लाए, वह ज्ञान नहीं जो विनय को मिटाए। ज्ञान वह होना चाहिए जिससे मानव में मानवता आये, जीवन उठे और मानव में मानवोचित गुण-विनय आदि आयें। ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान से ही सम्भव है।

बहनो! ज्ञान-विकास के साथ-साथ जीवन में सादापन लाओ। तुम्हारा जीवन सीधा-सादा होना चाहिए। आडम्बरमय न होकर उससे परे रहना चाहिये। आडम्बर में व्यर्थ का समय नहीं गवाँना चाहिए। अपना समय जीवन के उत्थानकारी कार्यों में लगाओ। यह समय उत्थान के लिए है यों ही गवाँ देने के लिए नहीं। एक दफे दिखावा बड़ा अच्छा लगता है पर इसका अन्तिम फल अच्छा नहीं होता।

दूसरी बात कषाय को कम करो। क्रोध, मान, माया, लोभ को कम करो। क्रोध में मनुष्य का विवेक लुप्त हो जाता है। उसको ज्ञान नहीं रहता कि मैं किसके सामने क्या बोल रहा हूँ। इसी तरह अभिमान को दबाओ। अपनी 'मैं' में मदमत्त मत रहो।

तीसरी बात आचार को उठाओ। आचरण उठा है तो उठने में और कुछ बाकी नहीं है। आचरण गिरा हुआ है। बहनों का आचरण अवश्य उठा होना चाहिए। पुरुषों का आचरण गिरना भी अच्छा नहीं है। पर उसका प्रभाव घरवालों पर उतना नहीं भी पड़ सकता है। पर स्त्री का आचरण गिरा है तो उसका प्रभाव घरवालों और सन्तान पर विशेष रूप से पड़ता है। उसका चरित्र से गिर जाना संभव है। पर-पुरुष-संभाषण से बिलकुल परहेज रखो। पर-पुरुषों के साथ सिनेमा-नाटक देखने

जाना या उनके साथ हँसी-ठट्ठा करना चरित्रहीनता का प्रतीक है। ये ही चरित्र-पतन के मूल-सूत्र हैं। मीना को दिखाई पड़ता था। लेकिन वह पर पुरुषों के लिए अन्धी थी।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि ज्ञान का विकास करो, जीवन में सादापन लाओ। दुर्गुणों को मिटाओ। क्रोध, मान, माया और लोभ से बचो। अपने आचार विचार को शुद्ध रखो। अपना जीवन उठाओ और दूसरों का जीवन उठाने के लिए प्रयत्नशील रहो।

गंगाशहर,
१८ मई '५२

६७ : युवकों से

जवानो ! तुममें कार्य-क्षमता है। तुम क्रियाशील हो। युवक कहाते हो। तुम्हारे अन्दर किसी भी कार्य की शुरुआत करने का उत्साह है। किसी भी कार्य को शुरू करने में युवकों का हाथ रहता है। युवक बहुत से कार्यों की शुरुआत करते हैं पर वे उन कार्यों में से बहुत कम में सफल होते हैं। उनको उन कार्यों में उतनी सफलता नहीं मिलती जितनी मिलनी चाहिए। इसका कारण है—उनमें एक गड़बड़ाहट और कार्य करने की तड़प होती है और उस तड़प में वे बड़ी जल्दी कर जाते हैं। उनकी वह जल्दी असफलता का एक कारण बन जाती है। वे एक कार्य को शुरू करते हैं, उसमें अपनी सारी शक्ति को खपा देते हैं पर धीरता उनमें रहती नहीं। नतीजा यह होता है कि शक्ति, अन्तरोत्साह धीरे-धीरे घटने लगता है और आगे जाकर वह ठण्डा पड़ जाता है। किसी भी कार्य का प्रारम्भ धैर्यपूर्वक करने से आगे जाकर वह उसमें सफलता पा सकता है। धीरे-धीरे उसका उत्साह बढ़ता जाता है। इस विषय में ठीक वैसा ही होता है जैसा सुबह में छाया का होता है। उसका दायरा बड़ा लम्बा होता है। वह उतनी लम्बी बढ़ जाती है जितनी कि बढ़ सकती है। नतीजा यह होता है कि धीरे-धीरे घटते-घटते दोपहर तक बिलकुल छोटी हो जाती है। ठीक ऐसा ही युवकों के कार्य करने में प्रायः देखा जाता है। लेकिन दोपहर की वह छोटी छाया, थोड़े से शुरू होकर सूर्यास्त तक बड़ी दूर तक फैल जाती है, वह थोड़े से शुरू होकर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। युवक भी यदि थोड़े से शुरू होकर धैर्यपूर्वक डटे रहें तो सफलता उनकी अगल-बगल घूमती रहे।

युवकों को कार्य में सफलता कम मिलती है इसका एक कारण और भी है और वह है नेतृत्व की कमी। वे तो चलनेवाले हैं—उनमें क्रिया करने की शक्ति है, पर

चलानेवाला चाहिए, नेतृत्व करनेवाला चाहिए, प्रेरणा देनेवाले की आवश्यकता है। उनको चलानेवाला कोई अनुभवी होना चाहिए। उनकी शक्ति से काम ले सकनेवाला समझदार होना चाहिए जो उनकी शक्ति को सत्कार्यों में लगा सके, उसका अपव्यय न होने दे। फिर वह अनुभवी चाहे युवक हो या वृद्ध, यदि वृद्ध भी हो तो इसमें हर्ज क्या है? युवकों को चाहिए कि वे युवक और वृद्ध की भेद-रेखा मिटा दें। मैं तो यह देखना चाहता हूँ कि सभी वृद्ध युवक बन जाएँ और युवक वृद्ध बन जाएँ। इसका मतलब यह नहीं कि युवक निष्क्रिय बन जाएँ और बुड्ढे काम करें। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि युवक उच्छृंखलता छोड़ें उसके स्थान पर वृद्धों में पायी जानेवाली विनम्रता, विनय भाव अपनाएँ और वृद्ध अपने अनुभव से लाभ उठाएँ। वे युवकों की क्रियात्मक शक्ति को यों ही न जाने दें। इससे एक बहुत बड़ा लाभ होगा।

आज जिस उद्देश्य को लेकर युवक यहां एकत्रित हुए हैं वह अनुकरणीय है। युवक शिक्षित होते हैं पर वे वास्तव में शिक्षित नहीं अर्द्ध-शिक्षित होते हैं। उनकी शिक्षा लक्ष्यहीन शिक्षा है। जिस शिक्षा का कोई लक्ष्य नहीं उसको पानेवाले अर्द्ध-शिक्षित नहीं तो और क्या कहे जायेंगे? वह शिक्षा जिसमें जीवन-उत्थानकारी कार्यक्रम नहीं, नैतिक उत्थान को प्रोत्साहन नहीं, जिस शिक्षा से जीवन न सुधरे तो वह शिक्षा आखिर है किस काम की। सिर्फ जीविका चलाने के लिए शिक्षा पायी जाय, वह तो अधूरी शिक्षा है। शिक्षा का लक्ष्य यह नहीं होना चाहिए। उसका लक्ष्य होना चाहिए जीवन निर्माण। शिक्षा वह है जो जीवन को बनाये। आज युवक इस शिक्षा को प्राप्त करने के लिए उद्यत हों। एक दो नहीं, सैकड़ों की तादाद में हों। एक दो का आज जमाना नहीं। जो काम पहले एक व्यक्ति कर सकता था वह आज सामूहिक होता है। जन-तन्त्र का जमाना है। शिक्षा भी सामूहिक प्राप्त की जाय। वह महीना, दो महीना, ६ महीना नहीं पाँच वर्ष तक प्राप्त की जाय। उसमें ज्यादा समय न लगाया जा सके तो कमसे कम एक घण्टा, एक घण्टा नहीं तो एक मुहूर्त का समय लगाओ। और आज ही कम से कम १३ महीने तक शिक्षा पाने के लिए कटिबद्ध हो जाओ, जिसमें तत्त्व-चिन्तन करो, स्वाध्याय करो।

युवक इस ओर विशेष दिलचस्पी ले रहे हैं यह शुभ की सूचना है। यदि लगातार जीवन-निर्माणकारी आध्यात्मिक-शिक्षा प्राप्त की गई तो जीवन सुधरते देर नहीं लगेगी।

गंगाशहर,
२० मई '५३

६८ : विद्यार्थी के वांछित गुण

बालको एवं बालिकाओ ! प्रकृति से सब को दो कान और एक जीभ मिली है। इसका क्या कारण है? जीभ एक और कान दो क्यों हुए? प्रकृति तुम्हें शिक्षा देती है—सुनो ज्यादा, पर बोलो कम। अर्थात् बोलने के लिए जीभ सिर्फ एक ही है—यह प्रकृति तुम्हारे सामने रखती है। आप्त-पुरुष भगवान् महावीर की वाणी है—

ना पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं।

बिना बुलाए मत बोलो। कहा जाता है—'न पूछै न ताछै हूं लाडे री भूआ'। यह ठीक नहीं। जबरदस्ती पंच बनना उचित नहीं। ज्यादा लवाल बनने से उसकी बात कोई मानता नहीं—असर नहीं पड़ता। मौन रहना ही अच्छा है पर कम से कम यह तो अवश्य होना चाहिए कि बिना बतलाए न बोले। बतलाने पर किंचित् भी झूठ न बोले। झूठ बोलना ठीक नहीं। यह बड़ी बुराई है। क्रोध मत करो। क्रोध में अन्धे बनकर किसी को गाली मत दो। गाली देना सभ्य कहे जानेवाले व्यक्तियों के लिए ठीक नहीं। गाली देना आर्यदेश में उत्पन्न होनेवालों के लिए शर्म की बात है। धार्मिक कुल में पैदा होनेवालों के लिए यह उचित नहीं। जहां जैसा प्रसङ्ग आए, उसके सामने डिग मत जाओ। कहीं प्रशंसा होती है तो कहीं निन्दा भी। ऐसा न हो कि निन्दा हो वहाँ क्रोध में लड़ उठा ले या प्रशंसा हो वहाँ खुशी में फूल जाए। दोनों अवसरों में अडिग रहो।

याद रखो, तुम छात्र हो। तुम्हारी छात्रावस्था कोमलावस्था है; इसका ख्याल रखो। छात्रावस्था में किन-किन बातों का ख्याल रखना चाहिए? सुनो—भगवान् महावीर ने फरमाया है—

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहरे॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलित्ति वुच्चइ॥

शिक्षा-शील की आठ बातों का ख्याल रखना चाहिए। ज्यादा हँसना नहीं, अट्टहास नहीं करना। विद्यार्थी क्या हरएक के लिए अट्टहास वर्जित है। विद्यार्थी को दमितेन्द्रिय होना चाहिए। वह अपने मन को जीते। उसे इधर उधर भटकने न दो। किसी की गुप्त बात का प्रकाशन न करे, जिससे व्यक्ति के दिल में दुःख हो। वह ब्रह्मचर्य का पालन करे। वह कुसङ्गति से बचे। कुसङ्गति में पड़कर अपने मूलभूत

गुणों को—अपनी मूलभूत शक्ति को न गवाँ दे। चाहिए तो यह कि विद्यार्थी एकान्त में रहे। वास्तव में ब्रह्म ही शक्ति है आज जिसकी कमी सर्वत्र अखरती है। विद्यार्थी को ब्रह्म में रमण करना चाहिए।

उसे चटोकड़ खाने की लोलुपता नहीं करनी चाहिए। चरका-मीठा खाने के लिए हरदम तैयार रहना ठीक नहीं। उसे अपने भोजन में संयम रखना चाहिए। कहा भी है—

> खाटो, खारो, खोपरो, सुपारी ने तेल।
> जे चेला पढ़णो हुवै, (तो) इतरा दूरा मेल॥

विद्यार्थी इसका पूरा-पूरा ख्याल रखे। भोजन का संयम न रखना, विद्याध्ययन में बाधक है।

उसे क्रोध से परहेज रखना चाहिए, जो शरीरस्थ एक भट्टी है जिसमें व्यक्ति अपने आपको जला देता है। क्रोध का दमन कर शांति को अपनाना चाहिए।

उसे सत्य में रत रहना चाहिए। यदि विद्यार्थी यह अपना लेते हैं कि हम झूठ नहीं बोलेंगे तो वे बहुत कुछ अपना लेते हैं। सत्य-सत्य है उसमें आँच नहीं लगती। विद्याध्ययन करनेवाले को इसे अवश्य अपनाना चाहिए।

६९ : सन्तान का सही मार्ग-दर्शन

आज बच्चों में उच्छृङ्खलता की अधिकता व अन्य मूलभूत गुणों में जो कमी दीख रही है इसका दोष किसे दिया जाय? प्रमुखतः उनका मार्ग-दर्शन करनेवालों में बुराइयां हैं। उनकी कहनी और करनी एक नहीं। उनमें अन्तर है। वे कहते कुछ हैं और करते कुछ और हैं। उनकी देखादेखी बच्चों में बुराइयाँ आती हैं। यदि अभिभावक आदि स्वयं गिरे हुए हैं या गिरते जा रहे हैं तो वे एक बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। अपने आपकी सम्पत्ति अपने ही हाथों खो रहे हैं। वास्तव में रुपया-पैसा आदि सम्पत्ति नहीं है। सही अर्थ में सांसारिक-सम्पत्ति सन्तान है, जिस पर उनके भविष्य का दारोमदार है। यदि उनके कारण से सन्तान बिगड़ती है तो इसका अर्थ होगा उनका सब कुछ बिगड़ता है। वे स्वयं अपने जीवन को उठायें और अपनी भावी सम्पत्ति—सन्तति को सही रास्ते पर लगायें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो समझिये सही अर्थ में सुधार शुरू हो गया। बच्चों का सुसंस्कारी बनना भावी पीढ़ियों के लिए एक शुभ-सूचना होगी। उनमें डाले गये संस्कार कच्चे नहीं रहा करते। वे सफेद कपड़े हैं।

उन्हें किस रँग में रंगना चाहिए यह अभिभावकों एवं उनके गुरुजनों पर निर्भर करता है। वे युवकों और वृद्धों की तरह काली कम्बलिया नहीं हैं जिस पर जो रंग चढ़ गया वही रहेगा दूसरा नहीं चढ़ सकता। इन बच्चों पर—सफेद कपड़ों पर ऐसा रंग चढ़ाया जाय जो दिन दूना और रात चौगुना चमकता रहे। और वह होगा उनको आध्यात्मिकता, नैतिकता और सद्गुणों के सांचे में ढालने से—उनके प्रति निष्ठावान बनाने से।

गंगाशहर,
२१ मई '५३

७० : सामूहिक स्वाध्याय

परसों वपन किया गया बीज आज अंकुरित हो गया है। यह बहुत जल्द उगा है और बाद में अच्छी तरह सींचा गया तो दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा ऐसा सम्भव है। परसों जिन १०८ से अधिक व्यक्तियों ने एक साल के लिए एक घण्टा सामूहिक स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञा ली थी ; आज वे उसकी शुरुआत करने जा रहे हैं। आज जबकि लोग धर्म से दूर भागते जा रहे हैं इसकी शुरुआत बीकानेर में हुई। वहां युवकों ने स्वाध्याय के लिए इच्छा प्रकट की। हम तो इसके इन्तजाम में ही थे कि किसी तरह लोग धर्मोन्मुख हों। इसीलिए सरदारशहर में एक शिक्षण शिविर की शुरुआत की जिसका शिक्षण-क्रम इधर रास्ते में भी चालू रहा। वह एक प्रयोग था और यह भी एक प्रयोग है। गंगाशहर में तो १०८ व्यक्तियों ने एक साथ प्रतिज्ञा की है।

लोग पूछ सकते हैं—धर्म-ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? क्या तत्त्वों की जानकारी करनी चाहिए ? मैं तो कहूँगा तत्त्वों की जानकारी करना अत्यन्त जरूरी है। मैं कौन हूँ, आत्मा, परमात्मा, अनात्मा, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म आदि के बारे में अवश्य जानना चाहिए। वह मनुष्य, मनुष्य क्या जो तत्त्व को जानता नहीं, जिसमें तत्त्व को जानने की तड़प नहीं। वह एक तरह से कोल्हू का घास है, जिसमें क्या खाया जाय। कभी दुष्काल में किसी तरह उससे काम चलाया जाता है। इसी तरह तत्त्व को न जानने-वाला व्यक्ति है। पुराने समय में थोकड़ों आदि को कंठस्थ किया जाता था, आज जिसका अर्थ तक लोग नहीं जानते। ये थोकड़े आखिर क्या हैं ? 'थोकड़ा' अपभ्रंश शब्द है। इसका अर्थ है थोड़े में अधिक तत्त्व का समाया रहना। खैर, आज कंठस्थ करने की प्रथा ही उठ चुकी है। लोग कंठस्थ करना तो दिमाग के लिए ठीक नहीं समझते। पर याद रखिये—दाम अंटका और ज्ञान कंठ का ही समय पर

काम देता है। भला पुस्तकों का ज्ञान कहाँ तक काम देगा? वह तो पुस्तकों तक ही सीमित रहता है। कौन जाने किस जगह कैसी जरूरत पड़ जाय। वहां घर का रुपया क्या काम आयेगा? अंटी में हो तो काम आ सके। इसी तरह पुस्तक का ज्ञान वहां कैसे काम आये? कंठस्थ हो तो वह उससे काम ले सकता है। हो बहुत सी चीजें कंठस्थ करने की होती हैं तो बहुत सी जानकारी की भी जैसे--नमस्कार मन्त्र, तिक्खुत्तो, सामायिक लेनी, पारणी, पंच-पद-वन्दना, पच्चीस बोल, चर्चा, तेरा द्वारा, प्रतिक्रमण तथा जैन-सिद्धान्त-दीपिका आदि कंठस्थ करने के लिए हैं। लोगों में कंठस्थ करने की अरुचि पैदा होती जा रही है -- उसे दूर करने की जरूरत है। जानकारी के लिए धर्मबोध, युग धर्म-तेरापन्थ, आदि-आदि पुस्तकें भी लिखी गई हैं, जिनसे लोगों ने फायदा भी उठाया है।

युवकों! तुम शिक्षार्थी हो। शिक्षा प्राप्त करने जा रहे हो, आज जिसका उद्घाटन हो रहा है। यहाँ कोई उद्घाटन द्वार नहीं खोला जायगा, कोई ताला नहीं खोला जायगा सिर्फ शिक्षा की शुरुआत होगी। तुम लोगों ने जिस तड़प और तमन्ना के साथ नाम लिखाया है, वही तड़प और तमन्ना दिनोंदिन बढ़ती जाए। उसमें शिथिलता या कमी न आने पाए। तुम स्वयं इस निरवद्य स्वाध्याय में दत्तचित्त होकर लग जाओ और प्रयास करो कि इस शिक्षा-यज्ञ में अधिक से अधिक व्यक्ति अपने अज्ञान की आहुति देकर अज्ञ से विज्ञ बनें—तत्त्व को समझें और जीवन में उतारें। यदि ४-५ साल तक ऐसा प्रयास किया गया तो लोगों को तत्त्वज्ञान की अच्छी जानकारी हो जायेगी। लोग जो आज विपथगामी बनने जा रहे हैं सत्पथ पर आयेंगे। वास्तविकता को समझ लेंगे और बनावटी ढरों का फिर कोई स्थान नहीं रहेगा। लोगों ने जिस उत्साह से कार्यारम्भ किया वह दिनों-दिन बढ़ता रहे यही कामना है।

गंगाशहर,
२२ मई '५३

७१ : शिष्य-लोलुपता की बुराई

धर्म के ह्रास का एक कारण साम्प्रदायिकता है। लोगों की ओछी-वृत्ति के कारण धर्म को एक धक्का लगा; वह जब संकुचित दायरे में बाँध दिया गया। इसके ह्रास का दूसरा कारण है—शिष्य-लोलुपता। आज सरकार जागीरी-प्रथा को खत्म कर रही है फिर भी वह उसे पूर्णरूपेण खत्म करने में अभी कामयाब नहीं हुई है। आचार्य भिक्षु ने शिष्य-परम्परा को जागीरी-प्रथा के तुल्य समझा और उन्होंने आज से लगभग २००

वर्ष पूर्व ही इसे खत्म कर दिया। स्वामीजी ने इस परम्परा को पूंजीवाद के समान समझा। उन्होंने शिष्य-रूपी पूंजी को बुरा नहीं बताया, पर शिष्य-लोलुपता रूपी पूंजीवाद को बुरा बताया। यही कारण है कि आज तेरापंथ में कोई किसी का शिष्य नहीं है। सब गुरु भाई हैं। एक आचार्य के शिष्य हैं। हमारी नीति खण्डनात्मक नहीं। हम किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं करते? हमारी नीति समन्वयात्मक है।

गंगाशहर,
२१ मई '५१

७२ : अणुव्रती संघ का उद्देश्य

आज गङ्गाशहर में अणुव्रत प्रेरणा-दिवस दूसरी बार मनाया जा रहा है। अणुव्रती संघ का उद्देश्य रहा है—आत्म-शुद्धि। व्यक्ति अणुव्रती बने तो आत्म शुद्धि के लिए बने। नामवरी, मान, सन्मान, ऐहिक या पारलौकिक सुख की कामना रखते हुए अणुव्रती बनना गलत लक्ष्य का परिचायक है। फिर भी अणुव्रतों को गलत नहीं कहा जा सकता। लक्ष्य की गलती से करणी गलत नहीं हो सकती, यदि वह निरवद्य है। हां, लक्ष्य के गलत होने से उतना लाभ नहीं होता जितना होना चाहिए। लेकिन करणी का विराधना में चला जाना सम्भव नहीं। इस तरह करणी विराधना में चली जाय तो फिर मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी हो ही कैसे? फिर भी अणुव्रती बननेवाला करोड़ों की सम्पत्ति को कौड़ी में न बेचें। अपने जीवन को त्यागमय बनायें। अणुव्रती संघ की स्थापना का लक्ष्य है—व्यक्ति को खुला न रहने देकर त्याग से बांध देना—जकड़ देना ताकि उसको आत्मबल मिलता रहे। वह समस्याओं के सामने अति शीघ्रता से डिग न जाय। वह उनके सामने अडिग रहे। वास्तव में यदि समस्या के सामने मनुष्य नहीं डिगे तो समस्या की ताकत नहीं कि वह उसे भय-भ्रान्त बना दे! वह अपने आप काफूर हो जाती है—हवा हो जाती है। पर डरनेवाले को वे अधिक डराती हैं। तुम समस्या के सामने अडिग रहोगे तो समस्या तुम्हारे सामने समस्या बनकर नहीं आयेगी। प्रण-त्याग मनुष्य को डिगने से रोकने का प्रयास है। अणुव्रती संघ में ८५ नियम हैं, जिन्हें व्रती को पालना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य का काम हो जाता है वह उन्हें अपनाये। इस पर भी कोई सारे नियम न पाल सके तो यथाशक्ति ले—उनका मन से समर्थन करे। तन और वचन से न निभा सके तो कम से कम मन से अनुमोदन कर इस यज्ञ में आहुति दे। अच्छी चीज को अच्छी मानना—उसकी प्रशंसा करना अच्छा है। मनुष्य किसी की अच्छी चीज देख कर जले क्यों? उसे तो

प्रेरणा देना चाहिए—कानो ! अच्छे कार्य की प्रशंसा सुनकर पवित्र बनो। आँखो ! अच्छे कामों को देखकर आनन्द का अनुभव करो। ए जीभ ! तू अच्छे कामों को अच्छा तो कह। और अच्छे को अच्छा मानने में लगा भी क्या है ? इससे लाभ यह होगा अच्छे काम का अनुमोदन होगा और आत्म-शुद्धि का प्रयास भी होगा।

अन्त में मैं यही कहूंगा कि प्रत्येक व्यक्ति इन्हें अपनायें। व्यक्तियों तक ही सीमित न रहकर परिवार के परिवार इन्हें अपनायें। नैतिक-जीवन का निर्माण करें। कुछ एक बाधाओं के कारण सब नियमों को न अपना सकें तो यथाशक्ति अपनायें। इतना भी न कर सकनेवाले व्यक्ति संघ के नियमों को महीने में कम से कम एक बार अवश्य पढ़ें। जिससे अणुव्रतों की जानकारी रहे और एक पुण्य प्रेरणा भी मिलती रहे।

गंगाशहर,
२३ मई '५३

७३ : सुख की खोज

आज का मानव दुखी है, भयत्रस्त है। उसे परम शान्ति नहीं मिल रही है। सुख नहीं मिल रहा है वह क्या करे ? सम्भव है वह धन का संग्रह करे, विलासी बने, भौतिकवाद का सहारा ले। फिर भी वह दुखी है। आज का पूँजीपति सुखी नहीं, धनहीन सुखी नहीं। पूंजीपति पैसे का लालची होने से दुखी है। उसे पूंजी के प्रति मोह है, ममत्व है। धनहीन अकाल से दुखी है, बेकारी से दुखी है। इसका एक-मात्र कारण यही है कि वह मानवता से परे हो रहा है। अध्यात्मवाद को भूलता जा रहा है। मानवता के सामान्य धरातल से गिर रहा है। उसमें ईमानदारी नहीं है। बेईमानी, चालबाजी, ब्लैक जैसी बुराइयों से उसका जीवन परिपूर्ण है। यही कारण है आज का विश्व अशान्ति के दावानल में जलता जा रहा है। वह शांति का पथ भूल सा गया है। ऐसी स्थिति में साधु उनको मार्ग दिखाते हैं, उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं।

आज का जन-समुदाय भौतिकवाद में धँसा जा रहा है। वह हमें कहता है—आज के इस वैज्ञानिक युग में आप पैदल चलते हैं, छोटे-छोटे ग्रामों में विचरण करते हैं। मैं उनसे कहता हूँ—हम साधु हैं, सन्यासी हैं वहाँ जाने में हमारा एक ही उद्देश्य रहता है—मानव मात्र में नैतिकता पनपे, मानवता आये, धार्मिकता आये। छोटे-छोटे ग्रामों में धर्माभिलाषी जन-समुदाय से हमारा सम्पर्क बढ़ता है। उनको धर्म की ओर अग्रसर होने के लिये आह्वान किया जाता है। उनकी बुराइयों का निराकरण किया जाता है।

आज आपके गाँव में हम आये हैं। शायद सैकड़ों वर्षों से इधर हमारा आगमन नहीं हुआ है। आज रास्ता चलते हमने यहाँ विश्राम लिया है। हमारा सम्पर्क-लाभ ले आप भी ज्यादा से ज्यादा सत्संग करें। सत्संग से बड़ा लाभ मिलता है।

एक साधु थे। एक ग्राम से विहार कर दूसरे ग्राम की ओर चले। रास्ते में मार्ग भूल गये। इधर-उधर मार्ग पूछने के लिये किसी आदमी को खोजने लगे। सामने एक जाट खेत में हल जोत रहा था। साधु जी उस जाट के पास गये और उसे मार्ग बताने के लिये कहा। किसान हल छोड़कर साधु को मार्ग बताने के लिये चला। उसने रास्ता बता दिया और प्रणाम करके कहा—"बाबा! मैंने तो आपको मार्ग बता दिया, मुझे भी आप कुछ मार्ग बतायें। आप त्यागी हैं, योगी हैं, मुझे भवसागर से पार लगाइये।" साधु जी बोले—"हां चौधरी! हमारा तो लक्ष्य है कि हम जन-जन को तारें, उनको धर्म का मार्ग दिखाएँ।" इतना कहकर साधु जी उससे कहने लगे—"यह मनुष्य-योनि बड़े सौभाग्य से मिलती है इसे व्यर्थ ही नहीं गँवा देना चाहिये कुछ न कुछ धर्म-क्रिया करनी चाहिये। निरपराध प्राणियों को नहीं मारना चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, चोरी नहीं करनी चाहिये आदि आदि।" चौधरी सुनकर बोला—"बाबा! आपने तो उपदेश दिया पर ये बातें किसको याद रहेंगी। मुझे सिर्फ एक ही रास्ता बता दीजिये। उसको मैं अच्छी तरह से पालूंगा।" यह सुनकर साधु ने कहा—"त्याग करते हो पर दृढ़ रहना। मैं तुमको एक ही बात बता रहा हूं—मन की इच्छा के अनुकूल कार्य न करना। इसके पालन में बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ आएँगी।" चौधरी सुनकर बोला—"ठीक है त्याग करवा दीजिये। मैं इसे अच्छी तरह से निभाऊंगा।" साधु जी ने त्याग करवा दिया और आगे चले गये। चौधरी ने त्याग करने पर विचार किया—खेत की तरफ चलूं? नहीं, यह मन की इच्छा के अनुकूल कार्य है। इसका मुझे त्याग करना है। फिर विचार किया—यहाँ बैठ जाऊँ, सो जाऊं, विश्राम कर लूं—नहीं, यह भी मन की इच्छा है। चौधरी जैसे था वैसे ही खड़ा रहा। प्रण का बड़ा पक्का था। चौधरी के लड़के की माता घर से रोटी लेकर आई। चौधरी को खेत में न देखकर उसने चारों तरफ दृष्टि डाली। चौधरी को दूर खड़ा देखकर जोर से आने के लिये कहा। चौधरी ने सुनकर कहा—इसको उत्तर दे दूं; नहीं, यह भी दोष है। वह मौन रहा। लड़के की माता पास में आई और रोटी खाने के लिये कहा। लेकिन वह टस से मस नहीं हुआ। वह निराश होकर गाँव लौट गई। पड़ोसियों को बुलाकर लाई, समझाया किन्तु उनको भी निराश होकर लौट जाना पड़ा। वह [illegible]! फिर भी वहीं पर अटल खड़ा रहा। एक दिन बीते, दो दिन बीते, [illegible] आखिर प्रण का पक्का ठहरा। खड़े खड़े ही इस लोक से चाल को प्राप्त [illegible] प्राप्त किया।

यह सत्संगति का ही प्रभाव है कि वह चन्द क्षणों में ही सद्गति को प्राप्त हो गया।

आपको भी आज मौका मिला है। सत्संगति से लाभ लें। धर्म का तत्त्व समझें। धर्म क्या है? —'आत्मशुद्धि साधनम् धर्मः'—बुराइयों को छोड़ें, आत्मा को पूर्णतः विशुद्ध करें यही धर्म है।

गोगोलाव,
२१ जून '५३

७४ : सुखी कौन ?

आज १० वर्षों के बाद नोखामंडी में हमारा आना हुआ है। जनता में काफी हर्ष और उत्साह है और होना भी चाहिये। हरएक मनुष्य साधुओं के दर्शन पाने की लालसा रखता है। उनकी भक्ति करता है। वह दर्शन पाकर अपने को सौभाग्यशाली समझता है। शहर की शोभा शायद लम्बी-चौड़ी सड़कों से बढ़ती हो पर यह बाहरी शोभा है। अगर वास्तव में देखा जाय तो शहर की शोभा त्यागी मनुष्यों से है, चरित्रवान् मनुष्यों से है। शहर में लाखों मनुष्य बसते हैं। अगर वे चरित्रवान् नहीं हैं तो वे बिना लवण की रोटी के समान हैं। आज के युग में चरित्रवान् तथा सत्पुरुषों की बहुत कमी है। आज नोखामंडी का सौभाग्य है कि इतने चरित्रवान् सन्तों का यहाँ आगमन हुआ है।

आज का मानव दुःखी है। शायद आप सोचें उसके पास धन नहीं इसलिये वह दुःखी है, उसके पास अनाज और कपड़ा नहीं इसलिये वह दुःखी है। पर मूल बात, वह अपनी ईमानदारी खो बैठा, अहिंसा के बजाय हिंसा को अपना बैठा। वह मानवता के बजाय दानवता को अपना बैठा। उसके पास मानवता नहीं सिर्फ अपना अस्थिपंजर है।

आज का मानव, चाहे वह महाजन हो या कृषक, ब्राह्मण हो या शूद्र, शहर में रहे या अरण्य में, उसमें ईमानदारी की आवश्यकता है। हरएक मानव सोचे मेरा जीवन किधर जा रहा है? उसमें सन्तोष के बजाय लालसा, सत्य के बजाय झूठ अधिक है या कम? इन दोनों की तुलना का परिणाम यह निकलता है कि उसमें लालसा और झूठ की अधिकता है। फिर भी क्या उनसे उसको शान्ति मिली है? पूँजीपति धन की सुरक्षा के लिये तरह-तरह की चेष्टाएँ करते हैं। उसको बचाने के लिये इन्कम-टैक्स, सेल-टैक्स और न मालूम कौन-कौन से टैक्सों से बचने की कोशिश करते हैं, और रात-दिन इसी फिक्र में रहते हैं। तो क्या धनहीन सुखी है? नहीं, वह भी नहीं। उसके पास खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा नहीं। वह भी सुखी नहीं माना जा सकता। आप पूछेंगे—फिर कौन सुखी है? सुखी हम हैं। हम पूँजीपति नहीं, गरीब

नहीं. सन्तोषी हैं, हम त्यागी हैं। हमारे जीवन में ईमानदारी है। हम पैदल चलते हैं, कन्धों पर बोझ लादते हैं. मन पर, इन्द्रियों पर नियंत्रण रखते हैं। हम ब्रह्मचारी हैं तभी बड़े-बड़े मनुष्य हमारे पैर पड़ते हैं। भारत में सदा से त्याग का अधिक महत्त्व रहा। जन जन त्याग से प्रभावित है। अगर आप सुखी बनना चाहते हैं तो सन्तोषी बनिये, त्यागी बनिये, ईमानदार बनिये, त्याग पर श्रद्धा रखिये। यही धर्म है।

आज लोग धर्म से डरते हैं। पर साथ-साथ में धार्मिक लोगों ने भी धर्म को संकुचित कर दिया—उसको सीमित दायरे में बांध दिया। जो धर्म राजपथ था उसमें आज यह संकुचितता उचित नहीं। धर्म जात्यातीत है, वर्णनातीत है। वह संकुचित दायरे में बंधनेवाली चीज नहीं। वह तो विशाल और व्यापक है। यह धर्म महाजनों का है, यह ब्राह्मणों का है, यह तिलकधारियों का है—ये सब भ्रान्तियां हैं। आत्मा की उन्नति चाहनेवाला हरएक मानव धर्म कर सकता है। विचार-भेद अगर न मिटा सकें तो मन-भेद तो अवश्य मिटाएं। धर्म सबका है। जन-जन का है। सब इससे लाभ लें।

मैं पुनः सभी भाइयों और बहनों से अनुरोध करूंगा कि मंडी में जो साधु आये हैं, कोई भी संकीर्णता न रखते हुए उनका व्याख्यान सुनें और जीवन में उतारें।

नोखा

७५ : युवकों का लक्ष्य

युवकों में कार्य करने की क्षमता होती है। उनमें उत्साह होता है। ये क्रियाशील होते हैं। पर आज का युवक-समाज कार्य करने में अपने को नीचा समझता है। वह विलासी बन गया है। जिसका परिणाम आज भी हमारे सामने है। वह विलासिता को छोड़, क्रियाशील बने।

आज के युवकों में उच्छृंखलता घर कर गयी है। वे धर्म को अव्यावहारिक और अनुपयोगी मानने लगे हैं। आज का जन-समुदाय उनको पालने में असमर्थ है—ऐसा वे कहते हैं। पर याद रखिये—अपनी कमजोरियों के कारण धर्म को अव्यावहारिक व अनुपयोगी मानना उचित नहीं। यदि वे पूर्ण त्याग न कर सकें तो यथाशक्य करें। उनके लिये अणुव्रत-योजना है। उनमें आज की सामान्य बुराइयों का समाधान है। उसका लक्ष्य मानवता की सामान्य भूमिका में मानव को प्रतिष्ठापित करना होना चाहिए।

नोखा

७६ : जैन-दृष्टि

भारत के धर्मों में दो संस्कृतियाँ चलती आयी हैं—एक श्रमण-संस्कृति और दूसरी ब्राह्मण-संस्कृति। श्रमण-संस्कृति त्याग का पोषण करती आई है और ब्राह्मण संस्कृति यज्ञ, होम, जप आदि का।

जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन श्रमण-संस्कृति के प्रतीक हैं जिसमें बौद्ध-दर्शन प्रायः भारत में लुप्त हो गया है। जैन-दर्शन अब भी अपनी प्राचीन विशुद्ध विचारधारा को लिये चल रहा है। वैज्ञानिक जैन-दर्शन का अध्ययन आज भी दार्शनिक दृष्टि से करते हैं। उसमें वे एक नई सूझ, एक नई जागृति पाते हैं। जैन-दर्शन आचार-प्रधान है। आप भी उसका अध्ययन, मनन व अवलोकन करें।

जैन-दर्शन में दो बातें बड़े महत्त्व की हैं, विचार और आचार। विचार और आचार का सदा गहरा सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। जैन-दर्शन पदार्थ के निर्णय के लिये हमें दो दृष्टियाँ देता है।

विचार का जहाँ प्रसङ्ग आता है वहाँ जैन-दर्शन स्याद्वाद-अनेकान्त की दृष्टि देता है और जहाँ आचार का प्रसङ्ग आता है वहां वह अहिंसा और सत्य की दृष्टि बतलाता है।

जैन-मुनियों ने सदा कहा—एक पदार्थ को, एक चीज को, एक दृष्टि से न देखें, उसके लिये अनेक दृष्टियों का प्रयोग करें। एक वस्तु के अनेक पहलू हो सकते हैं। एक रोगी के लिये दूध पथ्य हो सकता है और वही अपथ्य हो सकता है। एक विचार-धारा एक दृष्टि से उचित हो सकती है, दूसरी दृष्टि से अनुचित हो सकती है। ऐसी स्थिति में दोनों पर गौर करके सही तत्त्व को समझिये। हरएक विचार को अनेकान्त दृष्टि से देखिये, दार्शनिक दृष्टि से परखिये। उसमें समन्वय होगा, अवश्य होगा।

आज के दार्शनिक आपस में समन्वय करें, खींचातानी न करें।

आचार के लिये जैन-दर्शन हमें अहिंसा और सत्य की सूझ देता है। अहिंसा का मतलब इतना ही नहीं है कि मानव की हिंसा न करें। यह संकुचित सिद्धान्त है। अहिंसा का मतलब है प्राणीमात्र के साथ प्रेम करना—अगर दूसरे शब्दों में कहें तो विश्वबन्धुत्व।

लोग कहते हैं भारत में कम्यूनिज्म आने से शोषण मिट सकता है। मैं तो उनसे यही कहूंगा कि वे अपनी भारतीय संस्कृति को न भूलें। उसकी पवित्रता में अब भी इतनी ताकत है कि वह शोषण को जड़मूल से मिटा सकती है। अन्याय का मुकाबला कर सकती है। उसके लिये विदेशी वाद की जरूरत नहीं। जैन-दर्शन अब

भी अपनी विचार-धारा से उसको मिटाकर समन्वय स्थापित कर सकता है। कम्यूनिज्म विचारधारा शायद आर्थिक समानता कर सकती है। लेकिन जैन-दर्शन उससे बहुत विशाल है। वह मानव मात्र में क्या प्राणीमात्र में समानता ला सकता है।

अहिंसा और सत्य विश्व-शान्ति के दो पहलू हैं। ये हिंसा-दावानल को शान्त कर सकते हैं। अहिंसा और सत्य—ये आचार के अन्तर्गत दो सूत्र हैं। अस्तु।

आज का दार्शनिक जहाँ विचार का निर्णय करना चाहे वहाँ स्याद्वाद—अनेकान्त का अनुकरण करे और जहाँ आचार का निर्णय करना हो वहाँ अहिंसा और सत्य को काम में ले। यही जैन-दर्शन का मूल सिद्धांत है।

नागौर,
२५ जून '५२

७७ : धर्म और अधर्म

यह नागौर का ऐतिहासिक किला है। इसके पत्थर पत्थर में समन्वय है। पत्थर-पत्थर के समन्वय से यह किला तैयार हुआ है। तो फिर मानव में विषमता क्यों? वे विषमता की तरफ क्यों झुकते जा रहे हैं? उनमें समन्वय क्यों नहीं हो रहा है? प्रत्येक पदार्थ से मानव को शिक्षा लेनी चाहिये।

धार्मिक पण्डालों में जीवन शुद्धि के लिये, आत्म-निर्माण के लिए धार्मिक प्रवचन होते हैं। वहाँ राजनैतिक तथा सामाजिक हित की दृष्टि से उपदेश नहीं होता। लक्ष्य—जीवन शुद्धि का रहे, आत्म-विशुद्धि का रहे। राष्ट्रहित, समाजहित ये उसके आनुषांगिक हैं।

आचार्य विनोबा भावे से कुछ लोगों ने पूछा—भूदान-यज्ञ के लिये कोई भूमिदान करता है, कोई अर्थ-दान करता है; अगर कोई उसके लिये ब्रह्मचारी रहे तो उसके विषय में आपके क्या विचार हैं?

आचार्य विनोबा ने उत्तर दिया—यह कार्य थोड़े ही दिनों में सफल होनेवाला है। उसके लिये ब्रह्मचारी रहना उद्देश्य के प्रतिकूल है। ब्रह्मचारी आत्म-शुद्धि के लिये रहे, आत्म-कल्याणके लिये रहे। राष्ट्र व देश के हित के लिये जो ब्रह्मचारी रहे—उसके व्रत को ब्रह्मचर्य नहीं, देशचर्य या राष्ट्रचर्य कहना चाहिये। ब्रह्मचर्य ऐसी तुच्छ चीज नहीं है जो साधारण हित के लिये प्रयोग में लिया जाये।

दिल्ली-चातुर्मास के समय कई राज्य-अधिकारी मेरे पास आये और 'अन्न बचाओ—आन्दोलन' के अन्तर्गत संचालित सप्ताह में 'एक दिन उपवास रखो' के आन्दोलन की चर्चा की और मुझसे इसके प्रचार के लिये सहयोग मांगा।

मैंने उनसे कहा—मैं आपके लक्ष्य से सहमत नहीं हूँ। अन्न बचाने के लिये उपवास हो—यह अधूरा है। उपवास जीवन-शुद्धि के लिये हो—अन्न की बचत तो स्वतः होनेवाली है। किसान खेती करता है—अनाज के लिये; तूड़ी या भूसा तो उसका प्रासंगिक है।

जीवन-शुद्धि कैसे? इसका क्या मार्ग है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इससे पहले मैं आपसे पूछूँगा—क्या आपको जीवन-शुद्धि करनी है? अगर करनी है—दिल की तमन्ना है तो उसमें आपको अवश्य सफलता मिलेगी। लेकिन दिली इच्छा हो। मुँह की आवाज को मैं महत्त्व नहीं देनेवाला हूँ। अगर हृदय की आवाज है तो ठीक है। उसके लिये आपको मार्ग का अन्वेषण करना पड़ेगा।

भगवान् महावीर ने कहा है—

'सोही उज्जु भूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'

अर्थात्—शुद्धि और विशुद्धि किसकी हो सकती है? जो ऋजु हो—सरल हो। यह कितना विशाल वाक्य है। ऊपर की सरलता नहीं, अन्तःकरण की सरलता होनी चाहिये। उसकी विशुद्धि हो सकती है। सरलता शुद्धि का मूलमंत्र है।

आज का जन-जीवन बुराइयों से ओत-प्रोत है। उसका वह गुलाम बन गया है। वह कहता है—हमारे सन्मुख समस्याएँ हैं उनका समाधान हमें भलाई में नहीं मिल रहा है इसलिये हमें बुराई का रास्ता अपनाना पड़ रहा है।

आपके सम्मुख इतने साधु-साध्वी उपस्थित हैं। उनको लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे पूज्य हैं। आपके पास में पूंजी है, इनके पास में पूँजी नहीं है, फिर भी वे पूज्य क्यों हैं? इसका एक ही कारण है, इनकी कथनी करनी एक है। ये त्यागी हैं। ये कष्ट सह सकते हैं। आप कहेंगे—कष्ट तो हम भी सहते हैं। हाँ, आप सहते हैं लेकिन आप बिना इच्छा के सहते हैं; अपने आप आ पड़ता है इसलिये सहते हैं; लेकिन साधु खुशी से सहते हैं—यह एक आदर्श है।

दिल्ली-चातुर्मास के समय कई शरणार्थी आये और मुझसे कहने लगे—हमारी यह दशा हो गई है। मैंने कहा—मैं क्या बताऊँ, हम स्वयं अकिंचन हैं। फिर भी मैंने उनको सान्त्वना देते हुए कहा—आपमें और हममें समानता है। हमें भी जायदाद नहीं, कुटुम्ब नहीं, मकान नहीं। बतलाइये फर्क क्या है? आप घबराते हैं, हम प्रसन्न हैं। इसका कारण एक ही है। आपके मकान, कुटुम्ब, जायदाद बलात् छुड़ा लिये गये और हमने स्वयं खुशी से छोड़ दिया। यही अन्तर है। अगर मनुष्य आत्मबल से उनको ठुकरा दे तो वह एक आदर्श होता है।

आप पूछेंगे—हम ऋजु—सरल कैसे बनें ? ऋजुता भोलापन है। इन भोले बुद्धू मनुष्यों से आज का बदमाश उच्च माना जाता है। वह रिश्वत लेता है और अन्दर ही अन्दर हजम कर जाता है। आज एक क्लर्क से लेकर मिनिस्टर तक यह रोग पहुँच गया है। सरकार के कानूनों से बचने के लिये आजके बुद्धिवादी, युक्तिवादी पहले ही रास्ता निकाल लेते हैं। मुझे किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं करना है, सिर्फ बुराइयों पर सीधा प्रहार करना है।

व्यापारी-वर्ग इसमें भी दो कदम आगे है। उनमें भी ब्लैक, मिलावट, कम तोल-माप आदि बुराइयों का समावेश है। उनकी युक्ति पर दुनियां हैरान हो जाती है।

किसान-वर्ग भी बुराइयों का दास बन गया है। उनमें भी मिलावट—दूध में पानी, चारे में रेत, घी में वेजीटेबुल आदि बुराइयां घर कर गई हैं।

बुराइयों के दिग्दर्शन का मतलब इतना ही है कि आज का मानव उनको छोड़े, सरल बने।

हम सरल बनें। हमारे सामने उलझनें हैं। आय कम है, खर्च ज्यादा। हम शोषण न करें तो क्या करें ? यह समस्या है। समस्या का हल हो—यह जरूरी है।

आज का जन-जीवन भारी है। वह विलासी है, उसका आर्थिक-खर्च आमदनी से ज्यादा है। तब समस्याओं का हल कैसे हो ?

जीवन की विभिन्न समस्याओं का हल करना है। यदि आप समस्याओं का हल चाहते हैं—जीवन को संतुष्ट, सादा तथा सात्विक बनाइये। आडम्बरों को छोड़िये। सब समस्यायें स्वयं हल हो जाएंगी।

धर्म से प्राणियों का कल्याण होता आया है, हो रहा है और होगा। उस धर्म में भी आज संकीर्णता का पोषण हो रहा है।

धर्म—मन्दिरों में जाने से मठों में जाने से तथा साधुओं के पास जाने से होगा—आज धर्म की यही व्याख्या रह गई है। धर्म इतनी सरलता से नहीं होनेवाला है। उसमें कठिनाइयाँ आती हैं, भोगों से संघर्ष करना होता है। किसी के पास जाने मात्र से धर्म नहीं होनेवाला है। वह आत्मा से होगा—तपस्या से होगा। सही अर्थ में धर्म की व्याख्या यह होनी चाहिये कि त्याग धर्म है, भोग अधर्म है। सरलता धर्म है, कुटिलता अधर्म है।

धर्म जीवन में रहे। जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म की पुट रहे, यह आज के मानव के लिये आवश्यक है।

नागौर,
२८ जून '५३

७८ : धर्म और त्याग

लोगों ने यह भली-भांति समझ लिया है कि त्यागियों का स्वागत और विदाई त्याग से ही होनी चाहिए और तदनुरूप ही किया गया है। विदाई के लिए एक व्यक्ति ने अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग लिया तो स्वागत के लिये दो व्यक्तियों ने। आज जबकि दुनियां धर्म से विमुख होती जा रही है, लोग धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हैं यह बड़ी अच्छी बात है। दुनियां समझती है, धार्मिक बनना सीमित दायरे में बँध जाना है। पर याद रखो—धर्म का काम किसी दायरे में बाँध देना नहीं। यह कार्य तो कौम या समाज का है, जिसका अस्तित्व धर्म से सर्वथा अलग है—जो धर्म से पृथक है। लोग स्वयं संकीर्णता में फँसे बैठे हैं और कहने को वे धर्म और धर्म-गुरुओं पर साम्प्रदायिकता का दोषारोपण करते हैं। वे अपनी भूल स्वयं स्वीकार करते हिचकिचाते हैं और इसी भ्रम में वे धर्म से परे भागते जा रहे हैं, जो उनके अच्छे भविष्य का परिचय नहीं है। हम बौद्ध हैं वैदिकों के यहाँ क्यों जाएँ? हम सनातनी हैं जैनों के यहाँ क्यों जाएँ? भाइयो! भूलिये मत यह धर्म नहीं है, समाज है। धर्म एक है और वह सबका है। वह कभी सीमित होता नहीं और होता है तो वह धर्म नहीं। धर्म ठुकरा देने की या नुकशान करनेवाली चीज नहीं है। धर्म का कार्य गिरे को उठाना है, अधर्मी का उद्धार करना है। जनता के नैतिक-स्तर को उठाने के लिए—उसका नैतिक-धरातल विशुद्ध बनाने के लिए जन-नेताओं के प्रयास जहाँ नाकामयाब रह जाते हैं वहाँ सन्त-मण्डली, जिसे लोग फकीरो की फौज कहते हैं, बड़े मजे के साथ काम कर रही है। क्या इसमें कुछ रहस्य है? और है तो वह यह कि लोग लच्छेदार और सजी-सजाई भाषा में भाषण मात्र करते हैं। उनकी कथनी और करनी समान नहीं। उसमें पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। कहने को कुछ कहा जाता है और करने को कुछ और ही किया जाता है। पर फकीरों की इस फौज की कथनी-करनी समान है। वे जैसा करते हैं वैसा बनने या यथाशक्ति अपनाने का कहते हैं। स्वयं उठते हैं और दूसरों को उठाते हैं। वे 'तिन्नाणं, तारयाण' के आदर्श को लेकर चलते हैं। वे इसलिए ऐसा नहीं करते हैं कि उनका मान-सम्मान हो। इसलिए करते हैं कि जन-साधारण भी आत्म-शुद्धि करें, पतित बनने से बचें। वास्तव में मान-सम्मान और अपमान से उनका वास्ता ही क्या है? एक दृष्टि से उनका मान-सम्मान उसी दिन चला जाता है जिस दिन वे हाथ में झोली लेकर भिक्षा माँगते हैं, भिक्षुक बनते हैं, याचना करते हैं, माँगनेवाले गृहस्थ से हेय दृष्टि से देखे जाते हैं। लेकिन यह मान-सम्मान तो सांसारिक है। वास्तव में साधुओं के लिए सम्मान या अपमान की कोई बात नहीं। वे बहुत बड़े त्यागों को अपना चुके होते हैं। और उन त्यागों को अपनाने के फलस्वरूप उनका सम्मान अपने आप बढ़ जाता है।

त्याग के सामने बड़े-बूढ़ों के मस्तक झुक जाते हैं। यह सब त्याग से होता है। पर साधुओं को प्रशंसा से खुशी नहीं तो निन्दा से क्रोध नहीं। वे नाराजी नहीं करते राजी ही रहते हैं। ऐसी ही कुछ चीजों के प्रति तो वे पहले ही घृणा कर चुके होते हैं तभी तो साधु बनते हैं और सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे तत्त्वों को पूर्णरूपेण प्रश्रय देते हैं। बताइये यह किस धर्म को मान्य नहीं? फिर भी जहाँ अच्छी चीज हो उसे पाने में संकीर्णता क्यों? सत्य-अहिंसा आदि मानव-मानव का धर्म है और इन्हें अपना कर ही व्यक्ति आगे बढ़े। सभी व्यक्ति साधुओं के आगमन से पूरा पूरा लाभ उठायें और आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हों।

भीनासर,
२८ जून '५२

७९ : सही धर्म

मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? उसे क्या करना चाहिये—यह जानने के लिये वह उत्सुक रहता है। वह बुद्धिवादी है, रास्ता खोजने में संलग्न है। रास्ते से वह अनभिज्ञ है। उसे कौन रास्ता दिखलाए?

उसे एक योग्य पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है। पथ-प्रदर्शक स्वयं जानकार हो—यह आवश्यक है। मार्ग-दर्शक कौन बने—यह एक प्रश्न है।

साधु उसके पथ-प्रदर्शक बनें। उसकी अड़चनों, बाधाओं, समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए वे उसका पथ-प्रदर्शन करें।

यह मनुष्य-जीवन क्षणिक है। पल भर में उसका विनाश हो सकता है। उसे क्या करना चाहिये? विद्रोह? नहीं। संघर्ष? नहीं। धन का संग्रह करना चाहिए? नहीं। यह भी नहीं। उसकी पीढ़ियाँ धन का संग्रह करते करते बीत गईं। फिर भी वे जिन्दा नहीं। आखिर तृष्णा अनन्त है। वह मिटनेवाली नहीं है। मैं उनसे कहूँगा—वे धर्म का संग्रह करें। उसका रास्ता कड़ा है, संघर्षमय है। फिर भी जो स्वर्णिम आनन्द उसमें मिलता है वह अन्यत्र नहीं। धन अस्थिर है, अशाश्वत है। धर्म स्थिर है, शाश्वत है। वह अमर रहेगा।

शान्ति और सुख को वही पा सकता है जो आत्मस्थ होकर चले। लोभ, असंतोष को त्याग कर जो निर्लोभी और सन्तोषी बनेगा—वही शान्ति और सुख को पा सकता है।

गृहस्थ दुःखी हैं, सन्यासी दुःखी हैं। उनको सुख और शान्ति क्यों नहीं मिल रही है? आज बड़े-बड़े मठाधीश, जिन्हें कि लाखों की सम्पत्ति है वे भी धन के लिये

त्राहि-त्राहि मचा रहे हैं। गृहस्थ इनसे भी दो कदम आगे हैं। सुख और शान्ति कैसे हो? सुख और शान्ति का पथ धन में नहीं, धर्म में है। जब तक धन के प्रति लालसा रहेगी—सुख और शान्ति उससे दूर भागती जायगी। धर्म क्या है यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

धर्म सुख और शान्ति को प्रदान करनेवाला एक महल है जिसकी मूल भित्ति है विश्वबंधुत्व। सत्य और अहिंसा इसके दो मजबूत स्तम्भ हैं। निर्धन, धनिक, जाति-पांति का जिसमें कोई भेद नहीं है। वह सही अर्थ में धर्म है। वह शाश्वत है, सनातन है, जागृत है। उस धर्म को आप अपनाइये।

मूंडवा,
२९ जून '५३

८० : सच्ची सेवा

व्यक्ति पूँजी की आराधना करता है—पूंजीवाले की आराधना करता है—अपने स्वार्थ को साधने के लिए सब कुछ करता है। लेकिन किसी ने सोचा भी—मैं अपने आप की आराधना करूँ, अपने आपकी सेवा करूँ? नहीं, शायद ही किसी ने इस पर गौर किया होगा। अपनी सेवा भी कैसी? तीन बार भोजन, स्नान करना, देह को रंगी-चंगी रखना, मानव इसे ही अपनी सेवा समझ बैठा है। वह भूल बैठा है मेरी अपनी सेवा क्या है? वह इसके बारे में सोचे भी क्यों—जब वह समझ बैठा है कि यह शरीर ही सब कुछ है। मुझे तो इसकी सेवा करनी है।

नींद में सोए न रहें। यह शरीर ही सब कुछ नहीं है। हाथ हिलता है—सब देखते हैं पर इसे हिलानेवाला भी कोई है। 'मैं हूँ' यह आवाज किसकी है। इसे भी बोलनेवाला कोई है। इञ्जन चलता है, पर उसे चलानेवाला कोई ड्राइवर है, तब चलता है। बिना ड्राइवर के वह नहीं चल सकेगा। इसी तरह इस शरीर को चलाने-वाला भी कोई है और वह है आत्मा। जीव, हंस, भँवरा जो कुछ कहिए वह है। वह आँखों से दीखता नहीं, उसे दिखाया नहीं जा सकता, इसीलिए वह नहीं है ऐसा नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति कहे मैं सुखी हूँ, लेकिन दूसरा इसे न माने, कहे—यदि तुम वास्तव में सुखी हो तो अपने सुख को हथेली पर लेकर मुझे दिखा दो। क्या यह मुमकिन हो सकेगा? सुख हथेली पर लेकर नहीं दिखाया जा सकता। सामनेवाला व्यक्ति न माने पर वह तो सुखी है। इसी तरह आत्मा भी है। मानव चाहे उसे माने या न माने पर वह है अवश्य। आत्मा और शरीर को एक नहीं माना जा सकता। वे दो हैं। आत्मा

की सेवा करो। आत्मा की सेवा अपनी सेवा है। शरीर की सेवा अपनी सेवा नहीं वह जड़ की सेवा है। जड़ की सेवा से इष्ट-प्राप्ति सम्भव नहीं।

चिन्मय में मृन्मय न बनाऊं,
नहिं मैं जड़ पूजारी।
न करूँ केशर-चन्दन चरची,
अविनय नाथ तुम्हारी॥
नहिं फल कुसुम की भेंट चढ़ाऊं,
(मैं) भाव भेंट करनारो।
नहिं तिम सलिल स्नान करवाऊं,
आप अमल अविकारी॥
प्रभु! म्हारे मन-मन्दिर में पधारो॥

अर्थात्—भगवान् जिनका कोई रूप नहीं, रङ्ग नहीं, जो निरञ्जन-निराकार हैं, उनकी पूजा-सेवा इस तरह नहीं हो सकती। उन्हें खान-पान, गंध-विलेपन आदि किसी की आवश्यकता नहीं और न उन्हें स्नान की आवश्यकता है। वे तो मल और विकार रहित हैं। उनकी भेंट भावना है। भगवान और भगवद्-वाणी का हर समय स्मरण रहे, वह जीवन में उतारें, प्रभु हर पल मन मन्दिर में विराजें, यही उनकी सेवा है।

अपनी सेवा—आत्मा की सेवा किस तरह की जा सकती है? जिस प्रकार दही को मथते-मथते छाछ अलग हो जाती है और मक्खन अलग हो जाता है। पहले मक्खन दही में समाया रहता है पर दीखता नहीं, इसी तरह आत्मा भी शरीर में रहती है। त्याग-तपश्चर्या से वह अपने विशुद्ध स्वरूप को पा लेती है। शरीर से वह हमेशा के लिए छुटकारा पा जाती है। शरीर छूटे और इस तरह छूटे कि फिर उसकी कोई आवश्यकता न रहे ऐसा प्रयास करना ही आत्मा की सेवा है, और यही सच्ची सेवा है।

८१ : असली आजादी

मानव शत्रुओं से घिरा है। वह शत्रुओं को परास्त करे और इस तरह परास्त करे कि वे फिर श्वास न ले सकें। इसके लिए वह उनका नाश करनेवाला हथियार रखे और उनसे उनका कत्ले-आम बोल दे। लोग शंका करेंगे - महाराज, आप ये

क्या कह रहे हैं ? कत्ले-आम की बात कैसे कह रहे हैं, जिसके चित्र आज भी आँखों के सामने नाच रहे हैं—जब एक कौम ने दूसरी कौम के लोगों को सब्जी की तरह काट डाला था। मैं कहता हूँ यदि आपने उन्हें शत्रु माना है तो भूल की है। शत्रु बाहर नहीं तुम्हारे अन्दर ही हैं। वह एक नहीं, दो नहीं, दस हैं। उनमें से एक को जीता तो बस पाँच को जीतने में देर न लगेगी और पाँच को जीता तो दसों का खात्मा होनेवाला है। समस्या यह है कि पहले किस पर हमला किया जाय ? किसे जीता जाय ? व्यक्ति भोजन करने बैठता है। गरम-गरम खिचड़ी आदि भोजन थाल में परोसा जाता है। उस गर्म भोजन को खाने के लिए वह बीच में—जहाँ खिचड़ी और ज्यादा गर्म रहती है—हाथ नहीं डालेगा। वह एक किनारे से पहले एक उँगली में उसे चाटता है, फिर इसी तरह दो-तीन पूरा ग्रास लेता हुआ क्रमशः थाली सफाचट कर देता है। इसी तरह हमें पहले थोड़े से शुरू करना चाहिए, सिर्फ एक को जीतना चाहिए और वह एक है मन। मन को जीता बस अब पाँचों इन्द्रियों को जीतने में देर नहीं लगेगी। पाँचों इन्द्रियों को जीता बस चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतते देर नहीं लगेगी और इनको जीतने पर यही समझिए कि शत्रुओं का नाश आ गया और आजादी—असली आजादी पाने में देर नहीं है।

८२ : जीव-अजीव पदार्थ

उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्ययन में तात्त्विक वर्णन है। इसमें जीव क्या है, इनमें क्या अन्तर है, यह सब बतलाया जायेगा। अतः आप सभी एकाग्र मन होकर इसे सुनें। मन को स्थिर न रखने से सेवा, भक्ति, साधना, उपदेश, अध्ययन आदि सभी कार्यों में सफल होने में नाना प्रकार की बाधाएँ आती हैं। मन को स्थिर न रखने से महान् कार्यों में सफलता नहीं मिलती और ऐसा सम्भव है कि लघु कार्यों में भी सफलता न मिले।

एक व्यक्ति वृक्ष पर बैठ उसे काटता है और कहता है कि मैं अहिंसक हूँ, किसी भी जीव को नहीं मारता। परन्तु तत्त्ववेत्ता उसे क्या समझेंगे ? अज्ञानी। वह प्रत्यक्ष वृक्ष काटता है ; पर उसमें जीव है, इसका उसे पता नहीं। बिना तत्त्व को जाने-समझे व्यक्ति में साधुत्व नहीं आ सकता। उसका जीवन संयमी–निष्पाप नहीं हो पाता। साधु ही नहीं, वह श्रावक भी नहीं हो सकता। चाहे वह कितना ही साधु-सम्पर्क में क्यों न रहे—जब तक वह जीव-अजीव के भेद को नहीं जानता, नामधारी श्रावक भले ही रहे, उसमें सम्यक्त्व नहीं आ सकता। लोग कह देते हैं, 'महाराज की शरण ली है,

बेड़ा पार हो जायेगा'। व्यक्ति धन से सन्तोष नहीं करता, हजार का फायदा होते ही दो हजार की आशा रखने लगता है, फिर धर्म-क्रिया में इतने से ही सन्तोष क्यों? गुरु के प्रति श्रद्धा रहनी ही चाहिए, परन्तु ज्ञान की भी जरूरत है। अतः ज्ञान को बढ़ाओ। शिक्षा-शिविर की स्थापना का यही उद्देश्य है कि जनसाधारण तत्त्वों को जानें समझें। हो सकता है, एक दफे शायद इस जटिल विषय (दर्शनादि) में लोगों का मन न लगे, पर २-३ महीना लगातार शिक्षा पाने के बाद उन्हें मालूम पड़ेगा कि यह कैसा विषय है और इससे जीवनोत्थान कैसे होता है?

लोगों में इतना ज्ञान तो होना ही चाहिए कि हमारे देव, गुरु और धर्म कौन और क्या हैं?

हमारे देव कोई पत्थर की मूर्त्ति तेल या सिन्दूर से राजी होनेवाले नहीं, परन्तु वे हैं, जिन्होंने राग द्वेष को जीता और वीतराग होकर शाश्वत सुखों (मोक्ष) को प्राप्त किया।

यहाँ गुरु का मतलब किसी अध्यापक से नहीं है जो संसार में जीविका निर्वाह की शिक्षा देते हैं, परन्तु मतलब है उस धर्माचार्य से, धर्म-गुरु से जो संसार को पार करने का उपाय बतलाते हैं, जीवन उत्थान की शिक्षा देते हैं, महाव्रतधारी हैं, जिनकी आजीविका का जरिया बिना तकलीफ दिए ली हुई भिक्षा है। वे किसी प्रकार की तनख्वाह नहीं लेते, परिग्रह नहीं रखते, धन को धूल समझते हैं।

केवली द्वारा प्ररूपित धर्म हमारा धर्म है।

ये सब जाने बिना कुछ नहीं, सम्यक्त्व तक नहीं।

जीव और अजीव जहाँ हैं, वह लोक है। जिनमें ज्ञान, अनुभव, जानने देखने की शक्ति हो, वे जीव हैं। जड़ अजीव है। अलोक में केवल आकाश ही है, जो अजीव का एक देश-भेद है। जिस प्रकार लोटे में दूध ठहरा रह सकता है, उसी प्रकार यह लोक आकाश रूपी लोटे में ठहरा हुआ है। यह आँखों से दीखता नहीं। आँख से तो वही देखा जा सकता है, जिसका रूप हो; पर यह तो अरूपवान है। यह जो नील वर्ण दीखता है यह आकाश नहीं। आकाश तो जैसा यहाँ है वैसा ही सर्वत्र है। जो नीला रङ्ग दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो दूर-स्थित रजकण हैं। यद्यपि रजकण हमारे आसपास भी घूमते रहते हैं तथापि सामीप्य के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते परन्तु दूरी व सघन होने के कारण वही रजकण नीलवर्ण में पिण्ड के रूप में दिखने लग जाते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यह जो नील वर्ण दिखाई देता है, सिर्फ आँखों का भ्रममात्र है। आकाश तो जहाँ भी पोल है, वहां मौजूद है।

जीवाजीव का प्ररूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चारों प्रकार से होता है।

द्रव्य से—जीवाजीव द्रव्य संख्या।
काल से—उनकी समय—स्थिति।
क्षेत्र से—वह स्थान, जिसमें जीव या अजीव पाये जायँ।
भाव से—उनकी अवस्थाएं, पर्याय, लक्षण, गुण आदि।

यह सर्वविदित है कि सूत्र (धागे) में पिरोई गई सूई खो जाने पर भी मिल जाएगी, ऐसी आशा रहती है। पर यदि बिना सूत्र की सूई खो जाय, तो उसके मिल सकने की आशा कम ही रहती है। यहाँ सूत्र का मतलब धागा है। ज्ञान-शास्त्र, सिद्धान्तों का मतलब भी सूत्र है। यदि व्यक्ति इस सूत्र में बँधा है, तो वह खो नहीं सकता। उसका पतन हो जायेगा—ऐसी आशा नहीं। फिर भी वह यदि कर्मोदय से पतनोन्मुख हो जाता है, तो भी वह शीघ्र ही विकास की ओर, उत्थान की ओर घूम जायेगा, ऐसी आशा रहती है। कहने का तात्पर्य है कि जिनके रोम-रोम में सूत्र (ज्ञान सूत्र) और सिद्धान्त की जानकारी रूपी रङ्ग रमा हुआ है वे क्या श्रावक, क्या साधु, अपनी स्थिति से च्युत नहीं होते और यदि हो भी जाते हैं तो शीघ्र सँभल जाते हैं, सावधान हो जाते हैं। अतः ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। बिना ज्ञान के श्रद्धा अधूरी है—अन्धी है। जैसे निर्जरा से कर्म कट सकता है, परन्तु जब तक सम्वर नहीं, तब तक कर्म आने का द्वार रुकता नहीं, ठीक इसी प्रकार धर्म क्रिया, तपस्या-आतापनादि खूब किये जाते हैं, फिर भी बिना ज्ञान के, बिना सम्यक्त्व के उनका जितना फल होना चाहिए उतना नहीं होता। एक व्यक्ति ने कठिनतम वेदना को समभावपूर्वक सहा, कठोर से कठोर क्रिया की, लुँचन किया, पैदल ही भ्रमण किया, वह भी नंगे पैरों और कड़कड़ाती धूप में, रात्रि को चतुर्विध खान-पान का त्याग किया, भिक्षावृत्ति अपनाई, तपस्या भी बहुत की, पर लाभ जितना होना चाहिए था, नहीं हुआ; क्योंकि सम्यक्त्व की, ज्ञान की कमी थी। इसे तो यहाँ तक कि बिना आँक (हरूफ) की मींडी (शून्य) की उपाधि से सम्बोधित किया है। अतः आखिर तो ज्ञान प्राप्त करने से होगा, श्रद्धा जीवन में आयेगी तब होगा। तब क्यों न समय रहते सावधान हो लिया जाय। आज तुमको मनुष्यगति, सर्व-इन्द्रिय-सम्पन्न शरीर, आर्यदेश व धर्म सुनने का सब तरह से संयोग मिला है, यदि अब भी न चेत सके, तो फिर पश्चाताप के सिवाय और कुछ शेष रहने को नहीं।

थोड़ा भी प्रयत्न किया गया, तो सम्यक्त्व ज्ञान—दोनों की प्राप्ति होना मुश्किल बात नहीं। और फिर क्रिया (तपस्यादि) की गई, तो उसका महत्त्व और ज्यादा बढ़ जायेगा; जैसे कि बिन्दियों के पीछे एक आँक लगाने से उसकी कीमत बढ़ जाती है। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि "जीवन में सम्यक्ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा

की बड़ी आवश्यकता है। उनके बिना जीवन का पूर्ण विकास हो नहीं पाता। अतः प्रत्येक व्यक्ति सम्यक् ज्ञानी और सम्यक् श्रद्धालु बने। यदि सम्यक् ज्ञान और श्रद्धा हिल उठा, मकान की नींव हिल उठी। आगमों में स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार सूत्र में पिरोई हुई सूई गिरती नहीं है—खोती नहीं है—उसी तरह वह व्यक्ति, जिसका जीवन सम्यक् ज्ञान व श्रद्धा रूपी धागे में पिरोया हुआ है, अस्त-व्यस्त नहीं होता, अस्थिर नहीं होता, स्थिर रहता है, सुरक्षित रहता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह जीवाजीव की जानकारी करके अपनी आत्मा में सम्यक्त्व का बीज वपन करे।

रूपी और अरूपी के भेद से अजीव दो प्रकार का होता है—(१) पुद्गल रूपी और (२) धर्मास्ति कायादि अरूपी। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि पाये जाते हैं वे सब द्रव्य रूपी कहलाते हैं और जिनमें इन सबका अभाव हो वे अरूपी कहे जाते हैं। रूपी पदार्थ को मूर्त पदार्थ और अरूपी पदार्थ को अमूर्त पदार्थ भी कहा जाता है। रूपी पदार्थ के चार भेद और अरूपी पदार्थ के दस भेद किए गये हैं। जिनमें से अरूपी पदार्थ के दस भेद इस प्रकार हैं—

धर्मास्तिकाय के तीन भेद—(१) स्कन्ध, (२) देश और (३) प्रदेश। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के तीन-तीन भेद समझने चाहिए और एक भेद काल का—इस प्रकार अजीव अरूपी पदार्थ के दस भेद हो जाते हैं।

(१) स्कन्ध के दो अर्थ हैं। एक तो अखण्ड वस्तु को स्कन्ध कहते हैं। दूसरा—कई अलग-अलग अवयव (हिस्से) इकट्ठे होकर जो एक अवयवी अर्थात् एक समूह बन जाता है उस समुदित अवस्था का नाम स्कन्ध है।

(२) देश—स्कन्ध का एक कल्पित भाग।

(३) प्रदेश—निरंश अंश अर्थात् जिस अंश के दो अंश नहीं हो सकते। यह स्कन्ध का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय सर्वलोक व्यापी हैं। लोक का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जहाँ उपरोक्त दोनों चीजें नहीं हैं। आकाश द्रव्य लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है। जिस आकाश में धर्मास्तिकायादि पाँच द्रव्य मिलते हैं उसे लोकाकाश और जिसमें इन सबका अभाव हो—अलोकाकाश कहा जाता है। काल द्रव्य का समय क्षेत्र (अढाई द्वीप प्रमाण समझना चाहिए)। काल काल्पनिक अजीव द्रव्य है। सूर्य-चन्द्रमा की गतिक्रिया के आधार पर इसकी गति ली गयी है। सूर्य-चन्द्रमा की गति समय क्षेत्र के बाहर नहीं होती है अतः काल का क्षेत्र—समय क्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) ही माना गया है। समय-क्षेत्र को मनुष्य-क्षेत्र भी कहा जाता है।

धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य अनादि—अनन्त हैं अर्थात् इनकी न तो आदि है और न अन्त।

धर्म, अधर्म और आकाश को जो शाश्वत कहा गया है वह काल की अपेक्षा से समझना चाहिये। ये तीनों अलग-अलग द्रव्य हैं और उनके गुण-पर्याय भी अलग-अलग हैं। तीनों ही काल में इनके गुण पलटते नहीं, पर शाश्वत रहते हैं।

काल द्रव्य निरन्तर उत्पन्न होता रहता है, इसीसे भगवान् ने इसे शाश्वत कहा है। समय उत्पन्न होकर विनाश होता है इस कारण से काल द्रव्य को अशाश्वत कहा है।

ऐसा समय नहीं आया और न आयेगा कि जहां काल-द्रव्य न वर्तता हो। अतीत में अनन्त काल बीत गया और भविष्य में अनन्त बीतेगा। जो समय बीतता है वह विनाश को प्राप्त होता जाता है। इसी दृष्टिकोण से कालद्रव्य को शाश्वत और अशाश्वत कहा गया है।

रूपी द्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्य के निम्नलिखित चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु।

परमाणु की यह विशेषता है कि वह स्कन्ध से बिछुड़ा हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग होता है। स्कन्ध के साथ लगा रहता है तब तक प्रदेश और छूटकर अकेले होते ही परमाणु कहलाने लगता है। इस प्रकार प्रदेश और परमाणु एक ही समान होते हैं। धर्मास्तिकायादि के परमाणु इसलिए नहीं होता है—"इनका प्रदेश अलग नहीं होता। वे अरूपी हैं। अरूपी चीज का विभाग नहीं होता। विभाग नहीं होने से उनका परमाणु भी नहीं होता। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि पुद्गल (रूपी द्रव्य) के मुख्य भेद स्कन्ध और परमाणु ही हैं क्योंकि देश और प्रदेश का स्कन्ध में ही आविर्भाव हो जाता है।

दो या दो से अधिक परमाणु का जब दूध-पानी की तरह एकीभाव होता है तब उसे स्कन्ध कहा जाता है तथा जब वे एक दूसरे से पृथक् होते है तब उन्हें परमाणु के नाम से पुकारा जाता है। स्कन्ध और परमाणु लोक के एक प्रदेश से लेकर यावत् सम्पूर्ण लोक में भजना से रहते हैं। परमाणु तो निश्चय रूप से लोक के एक प्रदेश से अधिक जगह नहीं रोकता क्योंकि परमाणु प्रदेश समान है। स्कन्ध लोक के एक प्रदेश में भी प्रवेश कर सकता है, दो प्रदेश, संख्यात, असंख्यात प्रदेश भी रोक सकता है। यावत् पुद्गल का स्कन्ध सर्वलोक में भी व्याप्त हो सकता है।

स्कन्ध व परमाणु परम्परा के दृष्टिकोण से अनादि व अनन्त हैं और स्थिति के दृष्टिकोण से सादि और सान्त हैं।

अर्थात् पुद्गल को द्रव्यतः शाश्वत कहा गया है और भावतः अशाश्वत। द्रव्य पुद्गल ज्यों-के-त्यों रहते हैं, वे उत्पन्न नहीं किये जा सकते हैं। जो उत्पन्न और

विनाश होते हैं वे भाव पुद्गल हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य-अपेक्षा से पुद्गल तीनों काल में शाश्वत है और भाव अर्थात् रूपान्तर—पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत है। जैसे आप सोने को लीजिये। उस सोने से आप जो चाहें वही गहना बनवा सकते हैं। परिवर्तन आयेगा तो आकार में आयेगा पर सोने का विनाश नहीं होगा, उसी प्रकार पौद्गलिक-पर्याय पलटने पर भी पुद्गल के मूलगुण का विनाश नहीं होता।

पुद्गल रूपी, अजीव द्रव्य की जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की मानी गई है।

पुद्गल को काल के दृष्टिकोण—स्थिति से सादि-सान्त माना गया है। परमाणु या स्कन्ध किसी एक विवक्षित स्थान पर रहते हैं तो न्यून से न्यून एक समय तक और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं। इसके अनन्तर उन्हें किसी न किसी निमित्त को पाकर उस निश्चित स्थान को छोड़ना ही होगा।

यदि परमाणु-स्कन्ध अपने विवक्षित आकाश-प्रदेश को निमित्त पाकर छोड़कर अन्यत्र आकाश-प्रदेश में चला जाए तो फिर उन परमाणु-स्कन्ध को अपने विवक्षित आकाश-प्रदेश में वापस आने में न्यून से न्यून एक समय और अधिक से अधिक अनन्त काल लग जाता है।

यावत् पुद्गल के पांच प्रकार हैं: वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान।

वर्ण से पुद्गल कृष्ण, पीत, नील, रक्त और श्वेत होगा ही। उसमें इनमें से कोई न कोई वर्ण पाया ही जायगा।

गन्ध से पुद्गलों के दो प्रकार हैं: सुगन्ध और दुर्गन्ध। अर्थात् किसी भी पुद्गल में गन्ध पायी ही जायगी चाहे वह सुगन्ध हो या दुर्गन्ध। यह नाक का विषय है। इसी तरह इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं। लोग इस विषय शब्द से चौंकेंगे। वे विषय और विकार को एक समझ लेते हैं। विषय तो इन्द्रियों के अपने कार्य-क्षेत्र हैं। विकार है उनमें होनेवाली राग-द्वेषरूप परिणति। विषय कम से कम ५ और ज्यादा से ज्यादा २३ होते हैं पर विकार तो २४० हैं। जिस प्रकार जिह्वा से स्वाद का, त्वचा से स्पर्श का पता लगता है उसी प्रकार आँख से देखा जाता है। ये उनके विषय हैं। सिर्फ देखना तो विकार नहीं हो जाता। पुरुष स्त्री को देखते हैं, स्त्री पुरुषों को देखती है, वीतराग देखते, सन्त देखते, सब देखते हैं पर दोष तो तब लगता है जबकि उस देखने में विकार हो अन्यथा कोई दोष नहीं। एक नहीं अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं कि पति-पत्नी ने आजन्म भाई-बहन सा जीवन बिताया। ब्रह्मचर्य एक महान् शक्ति है इसीलिए तो साधु इसपर जोर देते हैं। भगवान् महावीर को विचलित करने के लिए देवांगनाओं ने अनेकानेक चेष्टाएँ कीं पर वे सभी असफल रहीं। हवा के झोंके घास, फूल, कोपड़, मकान

व पहाड़ आदि को हिला सकते हैं पर कल्पान्त-काल की वायु में भी कोई शक्ति नहीं कि वह मेरु को हिला दे। ठीक इसी तरह देवांगनाओं ने हाव-भाव तो दिखाए ही, शरीर-स्पर्श भी किया पर मजाल है चित्त में चंचलता तो क्या, रोयें (रूं) तक में विकार आये। धन्यवाद है ऐसे महापुरुष को और कोटि-कोटि नमस्कार भी; जो पुरुषाकार होते हुए भी विचलित नहीं हुए। ऐसे ही महापुरुषों को किन्नर, गन्धर्व, दानव, मानव तो क्या, देवता तक नमस्कार करते हैं। पर काम-विजेता बनना मुश्किल है। लोग विकार से उन्मत्त बन जाते और इसमें आनन्द का अनुभव करते हैं पर यह आनन्द क्षणिक है। जब उन्माद दूर होता है और मनुष्य अपनी पूर्व दशा में आता है तब वह विचार करता है कि हाय मैंने क्या किया? इस तरह उसके नेत्र लज्जा से खुलते तक नहीं। इससे बचने के लिए ही तो उपदेश दिया जाता है कि विभूषा—रंग-चंगे शृंगार, स्त्री-संसर्ग-सम्पर्क, प्रणीतरस के भोजन अर्थात् ऐसा भोजन जिससे विकार उत्पन्न हो—से बचा जाय। आज व्यक्ति भोजन करने का लक्ष्य सिर्फ स्वाद रखते हैं। स्वाद के लिए किस प्रकार मिर्च, मसाला आदि डाल-डाल कर सात्विक आहार को तामसी बना दिया जाता है फिर भी उसे राजसी भोजन कहा जाता है। यह जीभ तो स्वाद लेकर रह जायगी पर फलोपभोग तो आत्मा को ही करना पड़ेगा। मुटिया (कुली) तो सौदा घर डाल जाएगा अच्छे या बुरे से उसे क्या मतलब? उसे तो अपने पैसों से मतलब है पर उसका फल तो घरवालों को ही भोगना पड़ेगा।

बीमार व्यक्ति वैद्य या डाक्टर के पास जाता है। वे उसे दवा के साथ घी, तेल, गुड़, खटाई और मिर्च का परहेज रखने के लिए कहते हैं, क्योंकि स्वास्थ्य के लिए ये सब ठीक नहीं। यदि शुरू से ही इनपर निगाह रखी जाय तो स्वास्थ्य खराब हो ही नहीं, और धर्म-लाभ में भी बाधा नहीं पहुँचे, पर लक्ष्य धर्म-लाभ ही होना चाहिए। स्वास्थ्य-लाभ तो अपने आप ही हो जाता है।

रसतः पुद्गल के पाँच भेद हैं: तिक्त (सूंठ, मिर्च जैसा), कटु (नीम जैसा), आम्ल (नींबू जैसा), कषाय (हरितकी आदि जैसा) और मृदु (शर्करा जैसा)।

स्पर्शतः पुद्गल के आठ भेद हैं जैसे—कर्कश (बकरी के बालों जैसा), मृदु (मखमल आदि जैसा), गुरु (भारी जैसे सोना, लोहा आदि), लघु (अकतूल आदि की तरह हलका), शीत (बर्फ जैसा ठंड), उष्ण (अग्नि जैसा गर्म), स्निग्ध (घी, तैल जैसा चिकना) और रुक्ष (बालू या भस्म—राख जैसा)।

संस्थान आकार को कहते हैं। संस्थान से पुद्गल के पाँच भेद होते हैं जैसे परिमंडल (चूड़ी जैसा गोल), वृत्त (गेंद जैसा वर्तुलाकार), त्रिकोण (तीन कोणों वाला) चतुष्कोण (चौकी के आकार जैसा) और दीर्घ (रज्जू के समान लम्बा)।

वर्ण से पुद्गल कृष्ण, पीत, नील, रक्त (लाल), श्वेत किसी भी वर्ण का क्यों न हो, उसमें दो गन्ध में से एक गन्ध, ५ रस में एक रस, ८ स्पर्श में २ स्पर्श और ५ संस्थान में से कोई एक सा संस्थान अवश्य होता है। इस प्रकार पाँचो वर्ण के पुद्गलों के १०० बोल हो सकते हैं।

जो पुद्गल सुगन्ध या दुर्गन्धमय होते हैं उनमें पाँच वर्ण, आठ स्पर्श, पांच रस और पांच संस्थान इन २३ गुणों की यथासम्भव स्थिति होती है अतः इनके ४६ बोल हो जाते हैं।

जिन पुद्गलों के पाँच प्रकार के रस हैं उनमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श, और ५ संस्थान इन बीस गुणों की यथासम्भव स्थिति होती है। इस प्रकार इनके १०० बोल हो जाते हैं।

जिन पुद्गल के ८ स्पर्श हैं उनमें ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ५ संस्थान इन १७ गुणो की यथासम्भव स्थिति रहती है इस तरह इनके १२६ बोल हो जाते हैं।

जिन पुद्गल के ५ संस्थान है उनमें ५ वर्ण, २ गन्ध ५ रस और ८ स्पर्श इन २० गुणों की यथासम्भव स्थिति रहती है। इस प्रकार संस्थान के १०० बोल हो जाते हैं।

८३ : समस्याओं का समाधान

आज मारवाड़ में आना हुआ है, जिस दिन को देखने के लिये मारवाड़ की जनता लालायित थी। मैं भी सरदारशहर से जिस मारवाड़ की यात्रा के लिये चला था वह आज फलीभूत हुई है—साकार हुई है।

आज मुझे सरदारशहर से चले लगभग ४॥ महीने हो गये हैं। रास्ते में बहुत से क्षेत्रों को हमने परसा। कालू, लूणकरणसर, उदासर, बीकानेर, गंगाशहर, नाल, भीनासर, देशनोक व नोखा होते हुए आज मारवाड़ में आगमन हुआ है। लोगों में काफी हर्ष है। धर्म व धर्म-गुरुओं के प्रति अब भी बहुत श्रद्धा है, यह देखकर मुझे बहुत ही खुशी हो रही है।

अभी तीन क्षेत्रों की जोधपुर, ब्यावर व बीकानेर की चातुर्मास के लिये अरज हो रही है। बीकानेर वालों का आग्रह पहले भी बहुत था। अगर मारवाड़ आगमन तय नहीं हुआ होता तो शायद ही वे बीकानेर से आगे बढ़ने देते। आज जब कि मारवाड़ सीमा में प्रवेश हो रहा है जोधपुरवासियों ने पुनः चातुर्मास के लिये अरज की। लेकिन जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि नागोर पहुँचने के पहले चातुर्मास फरमाने का विचार नहीं है।

बीकानेरवासियों की चौथे वर्ष चातुर्मास की अरज भी काफी विशेषता रखती है क्योंकि जितने भी चातुर्मास पूर्ववर्ती आचार्यों के हुये हैं वे शायद चौथे वर्ष तो बीकानेर में अवश्य ही हुये हैं। पिछली बार शायद यह क्रम टूट जाता फिर भी मन्त्री मुनि व बीकानेरवासियों के आग्रह पर बीकानेर स्थित सरदारशहर में चातुर्मास करना ही पड़ा। इसलिये उनकी अरज भी वास्तव में ठीक है।

आज का मानव नैतिकता से दूर हो रहा है। उसके सामने तरह-तरह की समस्याएं हैं। ज्यों-ज्यों वह नैतिकता को छोड़ रहा है समस्याएँ और भी ज्यादा विषम होती चली जा रही हैं। वह उन समस्याओं का हल भोग-विलासों में खोज रहा है, अनैतिकता में खोज रहा है। लेकिन याद रखिए—भोग और विलास में समस्याओं का समाधान नहीं। भोग-विलास में सुख नहीं—विषाद है। उन समस्याओं के समाधान के लिये उसे धर्म को अपनाना होगा। भोग-विलास को तजना होगा। त्याग को अपनाना होगा। नैतिकता में रमना होगा। इसी में समाधान होगा।

मैं पुनः सब भाइयों और बहनों से कह देना चाहता हूँ कि वे धर्म को ज्यादा से ज्यादा अपनाएं और अपने कल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण करें।

मारवाड़,
१८ जून '५३

८४ : कल्याण का मार्ग

यह मेरा पहला अवसर है कि जब मैं नागोर में आया हूँ और यहाँ जन-समूह के बीच कुछ कह रहा हूँ। लोग कहते हैं—एक शताब्दी के अन्दर भी तेरापन्थी आचार्य नागोर में नहीं आये, उनके अनुयायियों व अनुगामियों का यहाँ पर नामोनिशान तक नहीं, यहाँ पर उनका आना क्या सार्थक होगा और वे क्यों आये हैं? वे संभ्रान्त से बने हुए हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूँ—वे सभ्रान्त न हों, हमें किसी से संघर्ष नहीं करना है। अगर अनुयायी और अनुगामी यहाँ नहीं हैं, न सही। धार्मिक तो जरूर हैं, हमें अनुयायियों और अनुगामियों की जरूरत नहीं है। हमें देखना यह है कि शहर की जनता कैसी है? उसके विचार कैसे हैं? वह किस ओर जाना चाहती है? उनको जागृत कर फिर उनका पथ-प्रदर्शन करना है—उन्हें असली तत्त्व देना है। हमें जैन और जैनेतर से मतलब नहीं, मानवता से मतलब है। हमें मानवता का मार्ग प्रशस्त करना है, इसी लक्ष्य से हम नागोर आये हैं। वास्तव में हम इच्छित होकर तो नहीं आये, यह हमारा विश्राम-स्थल है, रास्ता है। बाहर की जनता भी काफी संख्या में आई हुई

है। चातुर्मास की प्रतीक्षा भी सभी कर रहे हैं। जोधपुर, बीकानेर, ब्यावर तीनों क्षेत्रों की ओर से चातुर्मास के लिये अर्ज है। जैसा कि मेरा विचार है आगे का रास्ता भी हमारा यहीं से तय होगा।

मानव-जीवन तुच्छ है, अस्थिर है, अचिर है। उसके नाश होने की आशङ्का हर समय बनी रहती है। यह विचार कर कुछ धर्म-क्रिया करें, जीवन-शोधन करें। लोग कहेंगे – जिस धर्म को लेकर बड़े-बड़े संघर्ष किये जाते हैं, बड़े-बड़े अन्याय होते हैं क्या उसी धर्म की दुहाई देने के लिये आप यहाँ आए हैं? मैं उनसे कहता हूँ—धर्म संघर्ष नहीं कराता, अन्याय नहीं कराता। स्वार्थी लोग धर्म की आड़ में अपना उल्लू सीधा करते हैं। धर्म शान्ति का मार्ग है। शान्ति का धाम है। आज मुझे इसी धर्म के विषय में कुछ कहना है।

जो धर्म विश्व मैत्री की मूल भित्ति पर टिका हुआ है, सत्य और अहिंसा जिसके दो मजबूत खम्भे हैं वह हर समय मानव को अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करता है—सचेष्ट करता है। उस धर्म में वर्ण, जाति का भेद नहीं। उसे लोगों ने संकीर्ण बना दिया। यह किसानों का है, यह महाजनों का है, यह अमुक का है। धर्म को कौम का रूप दे दिया गया। धर्मों में संकीर्णता आ गई। एक धर्म का अनुयायी दूसरे धर्मवाले के पास जाने में हिचकिचाता है। अगर दूसरे धर्मवाले के पास चला गया तो उसकी श्रद्धा खत्म हो जाएगी। दूसरे धर्मवाले के पास जाने मात्र से उसकी श्रद्धा खत्म हो जाती है तो वह श्रद्धा टिकनेवाली भी नहीं है। यह संकीर्णता लोगों को गढ़े में ढकेल रही है। जो धर्म वर्णातीत है, सम्प्रदायातीत है, भेदातीत है उसे सम्प्रदाय का रूप दे देना उचित नहीं। मुझे कहते हुए खेद हो रहा है कि जिस धर्म को साधुओं ने अपनाया, अपनी आत्मा में रमाया, उसकी रक्षा के लिये अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी—वही धर्म आज कलह का अड्डा बन रहा है। यह दोष धर्म का नहीं है, यह पदाभिलाषियों का दोष है, आपसी वैमनस्य का दोष है।

लोग तेरापन्थियों की मान्यता बतलाते हैं—कुएँ मत बनाओ, धर्मशाला मत बनाओ, मन्दिर मत बनाओ। लोगों ने कह तो दिया लेकिन वे तत्त्व तक नहीं पहुंचे। बाहरी उलझनों में उलझ गये। मैं उनसे कहूँगा—ये सामाजिक चीजें हैं, समाज की व्यवस्थाएँ हैं, धर्म का रास्ता यह नहीं है। साधु सांसारिक कार्यों के लिये मना नहीं करते हैं। फिर भी तथ्य हमें बतलाना है। एक मनुष्य ने लाखों रुपया ब्लैक से कमाया—दो हजार रुपये से एक धर्मशाला बनवा दिया, दो हजार से एक मन्दिर बनवा दिया तो मानो स्वर्ग की सीढ़ी लगा दी, मोक्ष की सीट रिजर्व करा ली। यह सिर्फ दृष्टि की भूल है। धन से धर्म नहीं होनेवाला है वह तो त्याग से होगा, संयम से होगा।

कई अन्य जैन व्यक्ति कहते हैं इस बार तेरापन्थी आचार्य नागोर में आए हैं, न मालूम वे धर्म में क्या परिवर्तन कर देंगे? मैं उनसे कहे देता हूँ वे भय-भ्रान्त न हों। मुझे किसी भी धर्म में परिवर्तन नहीं करना है, मुझे तो जन-जन के घट में, जन-जन के कानों में सत्य की आवाज बुलन्द करनी है। भगवान् महावीर की वाणी को घट-घट में व्याप्त करना है।

मैं नागोर की जनता से कहे देता हूँ कि वह साम्प्रदायिकता को छोड़ें और जो धर्म शाश्वत है, शुद्ध है उस धर्म को जन-जन तक पहुँचाए। यही इष्ट है, अभीष्ट है, इसीमें जन-जन का कल्याण है।

नागोर,
२१ जून '५३

८५ : कार्यकर्त्ताओं से

आज कार्यकर्त्ता-सम्मेलन है। कार्यकर्त्ताओं को किस दिशा में चलना चाहिये, किस तरीके से कैसी प्रगति करनी चाहिये, इसी विषय पर मुझे आज कुछ प्रकाश डालना है।

प्रतिस्रोत में चलना कठिन है, अनुस्रोत में चलना सरल है। अगर कार्यकर्त्ता कुछ करना चाहते हैं, प्रगति की घुड़दौड़ में आगे बढ़ना चाहते हैं तो उन्हें प्रतिस्रोत में चलना होगा, प्रतिस्रोत का मार्ग तय करना होगा। जिसने प्रतिस्रोत में चलना स्वीकार किया है उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्राणों को भी होम देना पड़ेगा।

लोग कहते हैं—प्रतिस्रोत में चलना बहुत कठिन है—उसमें बाधाएँ आती हैं, संघर्ष करना पड़ता है। यह मैं भी मानता हूँ उसमें कठिनाइयाँ आती हैं, संघर्ष करना पड़ता है लेकिन उसका भविष्य समुज्ज्वल है। एक नदी है वह अनुस्रोत में चलती है। उसका रास्ता सीधा है, सरल है, प्रवाह मात्र है। लेकिन उसका प्रतिफल बुरा है। वह अपना सीधा रास्ता तय करके समुद्र में जाकर गिरती है। उसका अस्तित्व मिट जाता है। एक नदी वह प्रतिस्रोत में चलती है। उसका रास्ता कठिन है, संघर्षमय है लेकिन उसका प्रतिफल सुन्दर है। वह समुद्र से अपना अलग मुख मोड़ लेती है। संघर्षमय पथ तय करते करते वह अपना अलग अस्तित्व स्थापित कर लेती है।

अगर आप को प्रतिस्रोत के आधार पर प्रगति करनी है तो कठिनाइयों से न डरें।

लोग कहते हैं—हमारा पतन हो गया, देश का, राष्ट्र का पतन हो गया। हमें किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल रही है। वे निराश होकर बैठ जाते हैं। मैं उनसे

कहूँगा—वे निराश न हों, हतोत्साह न हों। असफलता जीवन की कसौटी है। उससे डरना सफलता की उपेक्षा करनी है। वे आशावादी बनें।

आज के कार्यकर्त्ता प्रगति की योजनाएँ बनाते हैं। लेकिन उन्हें उनमें सफलता नहीं मिल रही है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वे योजनाएँ बनाते हैं उनको दूसरों पर लाद देते हैं। उनके आधार पर दूसरों को चलाना चाहते हैं। परिणाम यह होता कि उनका पालन कोई नहीं करता; वे योजनाएँ थोथी योजनाएँ रह जाती हैं। योजनाओं की सफलता के लिये पहले उसकी रूपरेखा पर स्वयं चलें और बाद में दूसरों का पथ प्रदर्शन करें।

आज के कार्यकर्त्ताओं में पदाभिलाषिता की वृत्ति पाई जाती है। सिर्फ कार्यकर्त्ता ही क्या हरेक मनुष्य में यह वृत्ति घर कर गई है। एक दिन की बात है जब मैं दिल्ली में था। प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल जी नेहरू से मेरी मुलाकात हुई। बातचीत के दौरान में मैंने उनसे पूछा—क्या बात है आज का कार्यकर्त्ता-वर्ग आलसी बन गया है। वे गद्‌गद् होकर बोले—क्या करें महाराज! इसी से हमारी सारी योजनाएँ असफल हो रही हैं।

मेरे पूर्वाचार्य श्री कालूगणिराज कहा करते थे कि कोई भी साधु आचार्य पद का लालसी न बने, उसके लायक बने। सब उसके लायक बन जायेंगे, इसी में उनका भला है और शासन का भी भला है।

मैं आपसे भी यही कहूँगा कि अगर आप कार्यकर्त्ता बनना चाहते हैं तो पद के लालसी न बनें, लायक बनें।

कार्यकर्त्ता को समाज-सुधारवादी होना चाहिये, देश-सुधारवादी होना चाहिए। मैं इस विचारधारा से थोड़ा सहमत नहीं हूँ। वह व्यक्ति सुधारवादी बने मैं इसका समर्थन करता हूँ। व्यक्ति-सुधार, समाज-सुधार और देश-सुधार की भित्ति है। वह व्यक्ति सुधार करे। देश की यह डगमगाती नौका उनके पथ-प्रदर्शन का इन्तजार कर रही है। आप पूछेंगे—हमारे सम्मुख समस्याएँ हैं उनका हल कैसे होगा?

मैं कहता हूँ—आप अपने जीवन में हल्कापन लाएँ। सब समस्याएँ अपने आप सुलझ जाएँगी। संघर्षमय जीवन का समाधान आपको हल्कापन में मिलेगा। अगर आप सौ रुपये कमाते हैं तो डेढ़ सौ खर्च मत करिये। सौ में ही काम चलायें यह समस्या का हल है।

लोग अपने-अपने मतवाद को पुष्ट करते हैं, अपने-अपने मत को अच्छा बतलाते हैं। खैर! यह क्षम्य है। लेकिन दूसरों पर आक्षेप तो न करें। आक्षेप करना दूसरों के साथ संघर्ष करना है। अगर आप शान्ति चाहते हैं दूसरों को आक्षेपात्मक शब्द न कहें, न लिखें। यह समन्वय की पहली सीढ़ी है।

यही बात राजनीति के लिये है। दूसरों पर आक्षेप न करना, न लिखना, यह समन्वय है। इसके साथ-साथ दिल को विशाल बनाइए। क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक सभी क्षेत्रों में समन्वय की भावना से कार्य करें।

नागोर,
२५ जून '५३

८६ : मोहजीत राजा

संपूर्ण संसार में मोह और माया का जंजाल फैला हुआ है। बड़े-बड़े समझदार व्यक्ति इनके जाल में फँसकर भस्म हो जाते है। आश्चर्य तो इस बात का है कि लोग मोह और माया को भी धर्म का रूप दे देते हैं; उसे धर्म का चोंगा पहना देते हैं। जो त्याज्य है, छोड़ने योग्य है उसे स्वार्थ की आड़ में धर्म कह देना बहुत बुरा है। बहुत से व्यक्ति ऐसे भी हैं जो इनसे परे हैं, वे बहुत प्रसन्न हैं और जो इनमें फँसे हुए हैं, आसक्त हैं वे दुखी हैं, यह प्रत्यक्ष की चीज है। मोह बड़ी बुरी चीज है, व्यक्ति इससे परे रहे। आज इसके लिये मोह-निर्लिप्त मोहजीत राजा का चरित्र प्रासंगिक रहेगा।

एक दिन की बात है। इन्द्र सिंहासन पर विराजमान थे। देवगण पास में बैठे हुए थे। आपस में मन्त्रणा होते-होते बात चल पड़ी—क्या स्वर्ग में और क्या पृथ्वीलोक में, लोग मोह में पड़कर अपना सत्यानाश कर रहे हैं। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो निर्मोही हो। यकायक इन्द्र के मुँह से निकल पड़ा—नहीं, ऐसी बात नहीं है। अभी भी पृथ्वीलोक में मोहजीत नामक राजा है। वह निर्मोही है। वह क्या उसका सारा परिवार निर्मोही है। यह बात सुन देवगण बहुत खुश हुए। एक देवता, जो कि कुछ अभिमानी था, उसने कहा—नहीं देवराज! यह झूठ गप्प है; मुझे तो इस पर विश्वास नहीं हो रहा है। इन्द्र ने कहा—देव! वह है और पक्का निर्मोही है। तुम्हें इस पर संशय नहीं करना चाहिये। पर देव नहीं माने। वह कहने लगा—मैं अभी उसकी परीक्षा लेने जाता हूँ। यह कह देव पृथ्वीलोक में आया। उसने राजमहल देखा, राज-परिवार देखा—यह राजा है, यह रानी है, यह पुत्र है, यह पुत्रवधू है और विभिन्न दास-दासियाँ हैं। देखकर विचार किया—राजा को पुत्र एक ही है, क्यों न इसे ही गायब किया जाय। परिवार का एकमात्र आधार यही है। विचारों को साकार रूप दिया, राजकुमार को गायब कर दिया।

राजा को पुत्र नहीं मिला, राजमहल में तहलका मच गया। 'राजकुमार नहीं मिला' सब की जबान पर यही आवाज थी। राजा निर्मोही जरूर था फिर भी जगत्-

व्यवहार समझ कर उसने लड़के की खोज शुरू की। फौज की टुकड़ियाँ जगह-जगह भेजी गयीं।

देव योगी बना, सिद्ध पुरुष बना। शहर के बाहर अलख जगाकर बैठ गया। राजा की एक दासी राजकुमार को ढूँढ़ती-ढूँढ़ती शहर के बाहर आई। दासी ने योगिराज को देखकर नमस्कार किया। योगिराज ने कहा—क्यों उदास है बहन? दासी बोली—क्या बताऊँ योगिराज! राजकुमार नहीं मिला। सुनकर योगी बोला—बहन! क्या बताऊँ, मैं तो किसी से कहनेवाला ही था। आज सुबह राजकुमार मेरे मठ के सामने से गुजर रहा था, मैं ध्यानस्थ था। सहसा एक जंगली शेर आया और राजकुमार को खा गया। मैंने साक्षात् देखा है। मुझे बड़ा दुःख हुआ बहन! लेकिन वश की बात नहीं थी। यह कह योगी के नेत्रों से आँसू बहने लगे।

दासी बोली—राजकुमार को शेर खा गया! उसकी मृत्यु हो गई! खैर!! संसार में मरना जीना चलता ही रहता है। उसके लिए दुःख करना व्यर्थ है। संसार के सारे सम्बन्ध अस्थिर हैं, अचिर हैं। लेकिन योगिराज! तू किस लिये रो रहा है? तू योगी है, त्यागी है, तुझे तो निर्मोही बनना चाहिये। तुझे योग की रीति नहीं आई।

योगी सुनकर चकित रह गया। मैंने इसे बताया और इसकी आँखों में आँसू तक नहीं आये! उलटा यह मुझे उपदेश देने लगी। योगी निराश हो गया। फिर विचार किया—यह दासी है, इसको क्या दुःख हो, राजा को जाकर कहूँ।

योगी राजमहल में आया। परिषद् में विचार चल रहा था—राजकुमार नहीं मिला, क्या किया जाय? वह परिषद् में प्रविष्ट हुआ और आते ही कहने लगा—राजन्! क्या कहूँ, दिल फटा जा रहा है, कहा नहीं जाता। यह वाक्य सुन परिषद् में सन्नाटा हो गया। सभासदों ने पूछा—क्या बात है योगिराज? उसने कहा—राजन्! आपके सुकुमार राजकुमार को मेरे मठ के सामने एक जंगली शेर खा गया। मैंने साक्षात् देखा था लेकिन राजन्! मैं ध्यानस्थ था इसलिये राजकुमार को नहीं बचा सका। राजन्! मेरे प्राण नहीं निकले फिर भी कुछ बाकी न रहा। मुझे बड़ा दुःख हो रहा है।

सभासदों ने कहा—योगिराज ठीक कह रहा है; नहीं तो राजकुमार कहाँ जाता। परिषद् में तहलका मच गया। किसीको यह पता नहीं था कि योगी ने राजा की परीक्षा के लिये ही यह ढोंग रचा है।

राजा मोहजीत पक्का निर्मोही था। उसने विचार किया—एक प्राणी की मृत्यु हो गई और इतना कोलाहल! यह क्या हल्ला मचा दिया?

राजा ने योगी से कहा—अरे योगी! तू किस भुलावे में भूला हुआ है। यह दुनिया सपना है, जंजाल है। कुँवर चल बसा, सिंह खा गया, उसका उतना ही

जीवन था। लेकिन तुझे किस बात का दुःख हुआ? तू योगी है या भोगी? क्यों वेश लजा रहा है? चला जा यहाँ से, ऐसी दुर्बलता भरी बातें न कर मेरे सामने। किसका बाप है, किसका बेटा है? चला जा यहाँ से पाखण्डी।

योगिराज वहाँ से भी निराश होकर लौट गया।

योगी राजकुमार की माता के पास चला। अन्तःपुर में गया। रानी से बोला—माता जी! भीषण दुःख की आँखों देखी घटना है। आप सभी जिस राजकुमार की खोज कर रही हैं उसे मेरे मठ के सामने एक जंगली शेर खा गया। जगत् का एक बालक चला गया। यह कह वह रोने लगा। रानी बोली—योगिराज! तू किस भ्रमजाल में फँसा है। किसकी माता है, किसका लड़का है? यह दुनिया मोहजाल है। निरा सपना है। वह मेरा नहीं था, कैसे रहता? इस जीवन में जितना ज्ञान, दर्शन और चरित्र संचय कर लूंगी वही मेरा है। बाकी सब पराया है।

योगिराज ने विचार किया—यह माता है या राक्षसी है जिसे पुत्र का तनिक भी वियोग नहीं है।

योगिराज फिर राजकुमार की पत्नी के पास चला। जाकर कहा—बहन! उदास क्यों, तुझे क्या दुःख है? पत्नी ने कहा—मेरे पतिदेव का पता नहीं है, न मालूम वे कहाँ चले गये। इसी से कुछ उदासी-सी है। योगी ने वही पूर्ववर्णित बातें उससे कह सारा जंजाल राजकुमार की पत्नी के पास बिछा दिया। सुनकर वह बोली—योगिराज! क्या कहा? मेरा प्राणवल्लभ कहीं नहीं जायगा। वह मेरे घट-घट में है, आत्मा में है। वह अभेद्य है, अछेद्य है। लेकिन योगिराज! तू दुःख क्यों कर रहा है? तू योगी है, त्यागी है। त्याग के रास्ते पर चल, संयम को अपना। तुझे दुःखी नहीं होना चाहिये। मेरा-उनका इतना ही संयोग था वह टूट गया। जो जुड़ेगा वह टूटेगा यह सदा होता आया है। योगिराज! कर्तव्य-पथ को न भूल।

देव ने परीक्षा कर ली। सारा परिवार कसौटी पर खरा उतरा। वह चारों ओर से निराश हो गया। मन-ही-मन सोचने लगा—बड़े आदमी की बात पर कभी संशय नहीं करना चाहिये। लेकिन मैं कितना अज्ञान हूँ। इन्द्रराज ने पहले ही मुझ से कहा था। खैर! अब इनको तो सारा हाल बता दूँ।

योगिराज देव बना। राजा के पास जाकर पैरों पड़ उनको सारा हाल बताया। राजकुमार को राजा के सामने उपस्थित कर दिया। बार-बार क्षमा की भीख माँगी। मैंने इन्द्र की बात नहीं मानी, मैं भ्रष्ट हो गया, पतित हो गया। आप जितने निर्मोही बने हैं उसके लिये आपको बार-बार धन्यवाद है। आपको तकलीफ दी है, क्षमा करें।

राजा ने कहा—हमें कोई तकलीफ नहीं।

देव ने इन्द्र के पास जाकर सारा हाल बताया और पुनर्वार क्षमा-याचना की।

८७ : धर्म कण-कण में रमे

मनुष्य धर्म को धारण करे—धर्म को अपनाए। यह धारणा कि वह बालक है, युवक है अभी क्या धर्म-क्रिया करेगा ? कष्टप्रद है। बुढ़ापा आने के बाद धर्म करेगा। इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकी हैं, शरीर रोग-ग्रस्त है। अब वह धर्म करना शुरू करता है पर याद रखें बुढ़ापे में धर्म नहीं होनेवाला है। अतः मनुष्य अपने जीवन में धर्म को ज्यादा से ज्यादा अपनाए।

धर्म आत्मा में रहे, विचारों में रहे, जीवन में धर्म की भावना उतरे। उसमें किसी भी जातिवाद को महत्त्व नहीं, धन को महत्त्व नहीं। वह जातिवाद से परे की वस्तु है। उसमें आचार को महत्त्व दिया गया है।

किसी भी सम्प्रदाय के साथ कटु व्यवहार व आक्षेप न करे। परस्पर में समन्वय की भावना का संचार करे और धर्म को ज्यादा से ज्यादा अपनाए, इसमें ही कल्याण है।

रूण,
२ जुलाई '५२

८८ : सत्संगति

मनुष्य संतों की सत्संगति करे। सत्संगति शुद्ध-जीवन की पहली मंजिल है।

आज मनुष्य के अन्तस्थल में घोर अन्धेरा छाया हुआ है। वह रास्ता भूल गया है। अपनापन भूल गया। कहीं रास्ते की खोज में वह खन्दक में न गिर पड़े।

वह त्यागी साधुओं की सत्संगति करे। उनके बताये मार्ग का अनुसरण करे। उनसे उसे रास्ता मिलेगा।

भारत में सदा से ऋषि-महर्षियों ने अपनी वाणी से—अपनी तपस्या से जन-जीवन को ऊँचा उठाया है, आज भी उठा रहे हैं और शायद युग-युगान्त तक उठायेंगे। आज का बुद्धिवादी मानव उनकी शरण ले।

असावरी,
४ जुलाई '५२

८९ : धर्म सुखप्रद है

सन्तों का आगमन और विहार होता ही रहता है किन्तु बड़लू में आगमन हमारे लिए बड़े महत्त्व का है जहाँ कि हमारे प्रथमाचार्य श्री भिक्षु स्वामी ने अपना एक चातुर्मास बिताया और हम भी आज उसी स्थान में आये हैं। मुझे खुशी है कि जो

स्थान आचार्य भिक्षु के पावन पदार्पण से कृतकृत्य हुआ था, उसे हम भी आज साक्षात् देख रहे हैं।

जनता में धर्म के प्रति आज भी दिलचस्पी है। धर्म अपनाने में मानव-जीवन की सार्थकता है। धर्म की भावना मानव की अन्तरात्मा में रहे, धर्म की वृत्ति मानव के लौकिक कार्यों में रहे—यह आज की आवश्यकता है। ऊपरी दिखावा—आडम्बर घटे और धर्म की भावना बढ़े।

धर्म में जाति, पांति, लिंग, रंग, निर्धन, धनिक का कोई भेद नहीं है। धर्म सब के लिए आवश्यक, शांतिदायक व सुखप्रद है।

बड़लू,
८ जुलाई '५३

९० : सार्थक जीवन

आज का मानव सही अर्थ में मानव है या नहीं। उसके हाथ पैर हैं, नाक मुंह है—इसलिये वह मानव है—यह व्याख्या उचित नहीं, जिसमें मानवता है, मानवता के गुण हैं, मानवीय आदर्श है—वह सही अर्थ में मानव है—मानव कहलाने के योग्य है।

सृष्टि की रचना कैसी हुई—उसका विकास और विनाश कैसे हो सकता है—इसकी खोज आज के, नवयुग के बुद्धिवादी मानव ने की और करने में संलग्न है। लेकिन उसने, मैं कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, मुझमें मानवता है या नहीं, मुझमें मानवता के बजाय दानवता तो नहीं है, इसकी खोज नहीं की। अन्वेषणकारी मानव इसकी खोज करे।

देहली चातुर्मास में स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष में मैंने चन्द शब्द कहे थे कि आजादी—स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं कि हम पर अब विदेशी हुकूमत नहीं है किन्तु स्वतन्त्रता का सही अर्थ होगा—उसमें मानवता, मानवीय आदर्श है या नहीं। अगर उनमें मानवता नहीं है तो वे दास हैं—परतन्त्र हैं।

आज के मानव के मानवीय आदर्श खाक बनकर मिट्टी में मिल गये हैं। जन-जीवन के आदर्शों की कमी के कारण अभिशाप-सा बन गया है। इसका एक ही कारण है। वह अपने मौलिक तत्त्वों को भूल गया है। वह अपने मौलिक तत्त्वों को याद करे, अपनाए। तब फिर मानव और मानवता में विभेद की रेखा न रहेगी। अस्तु। वह मानवता अपनाकर जीवन को सरस, तात्त्विक और सार्थक बनाये।

बड़लू,
८ जुलाई '५३

९१ : मनुष्य का कर्तव्य

जो मनुष्य अभिमान को मिटाकर, जीवन में नम्रता को स्थान दे, वह महान् है—उच्च है। उच्च कुल-जाति होने से गौरव टिकने का नहीं। अभिमान मनुष्य का पतन करता है।

सन्तों की वाणी जीवन का अनुभव लिये होती है। वह बुराइयों पर सीधा प्रहार करती है। सन्त तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा—'क्षमा धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान' इस वाक्य को गम्भीरता से मनन करिये, चिन्तन करिये तथा जीवन में उतारिये। जीवन की बहुत कुछ सफलता इसमें निहित है।

मनुष्य का कर्तव्य काम करना होना चाहिए बड़ा बनना नहीं। पद-लिप्सा पतन का कारण है। मनुष्य को पद-लिप्सु न बनकर जीवन को सरस, सात्विक और सदाचारी बनाना चाहिए।

बड़लू, (गढ़)
८ जुलाई '५१

९२ : त्याग का मूल्य

आज का जन-जीवन अशान्त है, क्लान्त है। हर व्यक्ति उसका कारण सोचता है—खोजता है। फिर भी समस्या विषम बनती जा रही है। वह सुलझती नहीं—मिटती नहीं।

अशान्ति के अन्यान्य प्रमुख कारणों में एक है—आज का मानव अधार्मिक बन गया, दूसरे शब्दों में कहें तो अमानव बन गया, अनैतिक बन गया। अगर नाममात्र के लिये कहीं रहा भी है तो मन्दिरों की, मठों की और साधुओं की सीमा में रहा है। यह महान् भूल हुई है। उसे सीमा में न जकड़ा जाय। वह तो व्यापक है—विशाल है। धर्म जीवन की वस्तु है। आत्मा की वस्तु है। वह हर समय अन्तरात्मा के कण-कण में रमे—उतरे। तभी आज का जन-जीवन सुखी बन सकता है। लोग कहते हैं धर्म का अस्तित्व खतरे में है। लेकिन याद रखिये—धर्म को कभी खतरा नहीं है। वह आत्मा की शाश्वत वस्तु है। उसका अस्तित्व खतरे में नहीं पड़ सकता। अगर उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाय तो आप निश्चित समझिये कि मानव और विश्व का अस्तित्व खतरे में है।

धर्म पूंजी से कभी नहीं होनेवाला है। पूंजी से मोह बढ़ता है। मोह से राग की उत्पत्ति होती है और इससे धर्म का विनाश होता है।

एक व्यक्ति ईसा मसीह के पास आया और कहने लगा कि मैं स्वर्ग जा सकूं—ऐसा रास्ता बताएँ।

ईसा मसीह ने कहा—तुम्हारे पास जितना भी धन है वह मुझे सौंप दो। इस पर वह बोला कि अगर आपको धन सौंप दूँ तो मैं क्या खाऊँगा? ईसा मसीह ने कहा—तो फिर तुम जाना ही नहीं चाहते हो; सुई की नोक से सम्भवतः हाथी निकल सकता है, किन्तु धन से धर्म कर लेना, स्वर्ग चला जाना मुश्किल है। मतलब यही है कि धन से धर्म नहीं होनेवाला है। वह आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति से होगा।

जैन साधु पैदल यात्रा करते हैं, अपने बोझ कन्धों पर लादते हैं, एक उद्देश्य को लिये—एक लक्ष्य को लिये—त्याग को खुद अपनाते हुए जनता को त्याग का सबक सिखाने। त्याग का स्थान सदा से ऊँचा रहा है। बड़े-बड़े सम्राटों का, राजाओं का सिर त्याग के आगे झुका है। त्याग ही वह महत्त्वपूर्ण चीज है जिसके द्वारा विश्व में सुख और शान्ति व्याप्त हो सकेगी और विश्व-शान्ति का सुमधुर स्वप्न—स्वप्न न रहकर प्रत्यक्ष होगा—यह दृढ़ विश्वास है।

मैं पुनः सभी भाइयों से कहूँगा कि वे धर्म को जीवन में ज्यादा से ज्यादा उतारें। तभी आज का मानव सही अर्थ में मानव कहलाने के योग्य होगा।

पीपाड़
११ जुलाई '५३

९३ : ज्ञान-प्राप्ति का सार

एवं खु नाणिणो सारं,
जं न हिंसई किंचणं।
अहिंसा समयं चेव,
एयावन्तं वियाणिया॥

भगवान् महावीर ने अपने एक प्रवचन में ज्ञान-प्राप्ति का सार क्या है, बतलाते हुए फरमाया है:

मानव क्यों ज्ञानार्जन करता है? बहुत से लोग यह समझते हैं ज्ञानार्जन जीविका के लिए है। उनका विचार है, हमने ज्ञान—विद्या पढ़ ली है बस इससे हम अच्छा अर्थोजन कर सकेंगे। जीविका चला सकेंगे। लेकिन सिद्धान्त इन सबसे दूर की बात बताता है। वह सिर्फ जीविका को महत्त्व नहीं देता। वह बतलाता है—ज्ञानार्जन अपने आपको खोजने के लिए किया जाय। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, तत्त्व क्या है यह सब आत्मिक ज्ञान कराता है—अपने आपका भान कराता है। आत्मिक-ज्ञान

हो जाने के बाद वह व्यक्ति को इस ओर प्रेरित करता है कि उसे किस प्रकार सुख मिल सकता है ; वह कौन तत्त्व है जिससे आत्मा को शान्ति मिल सकती है। वह यह भी सोचे जब मेरी आत्मा सुख चाहती है—शान्ति चाहती है फिर कोई ऐसा भी प्राणी है क्या जो यह न चाहता हो ? तात्पर्यतः सब सुख चाहते हैं—शान्ति चाहते हैं। कोई भी दुःख की इच्छा नहीं रखता है। फिर किसी को भी दुःख पहुँचाना नाजायज है, अमानवोचित है। व्यक्ति किसी को दुःख न पहुँचाये, किसी को न सताये। यदि संरक्षक न बन सके तो भक्षक तो न बने। यह ज्ञान-प्राप्ति का सार है, विद्याध्ययन की तात्त्विकता है।

लोग कहते हैं विज्ञान ने बड़ी तरक्की की है पर आखिर विज्ञान है क्या, उसने किया क्या ? पैरों से पंगु बन जाना ही तरक्की है क्या ? आज लोग आरामतलब बनते हैं जो पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। वैज्ञानिकों ने भौतिकवाद की खोज की शारीरिक सुख-सुविधाओं का अन्वेषण किया, वहाँ ऋषि-महर्षियों ने आत्मिकता का प्रकाश दिया। भौतिकता के रूप में विज्ञान ने हिंसा को पाया। पर यहाँ आध्यात्मिकता के रूप में अहिंसा मिली। जो सही अर्थ में समता और शांति का पाठ पढ़ाती है। आखिर ऋषि-महर्षियों के पास इतने लोग आते क्यों हैं ? उन्हें मिलता क्या है ? उन्हें ऐसा ज्ञान मिलता है जो आत्मा का भान कराता है, अहिंसा का पाठ पढ़ाता है। उनका आना भी तभी सार्थक होता है जब वे अपने जीवन में अहिंसा को उतारेंगे—उसे अहिंसा के प्रकाश से जगमगायेंगे। पर खेद की बात है कि भौतिकता का का फैलाव भी कम नहीं। बाह्याडम्बर और फैशनपरस्ती का बोलबाला है और इसका ही प्रभाव है कि लोग उस अहिंसा को अव्यावहारिक तक ठहरा देते हैं, जिस अहिंसा को साधु-सन्त पूर्णरूपेण अपनाते हैं, जो मानव को मानवता का पाठ पढ़ाती है, दानवता से परे रखती है।

अन्त में यही कहूँगा, साधुओं का आगमन इसीलिए होता है कि लोग उनसे ज्ञानार्जन करें, अहिंसा का पाठ पढ़ें। मैं उपस्थित सभी लोगों से यह अपील करूँगा कि वे साधुओं के जीवन से अपने जीवन को उठायें, प्रकाशित करें। मानव जीवन तभी सार्थक हो सकेगा। ज्ञान का सार यही है कि व्यक्ति किसी की हिंसा न करे। अहिंसा विज्ञान है, इसी में रत रहो।

पावटा,
१९ जुलाई '५३

९४ : अणुव्रतों का मनन करें

जोधपुर-वासियों ने हमारा स्वागत किया। उन्होंने अपनी अन्तरतम-भक्ति का दिग्दर्शन कराया। लोगों को ताज्जुब होगा, भला साधु-सन्तों का स्वागत! नेताओं का स्वागत हो सकता है। सरकारी अफसरों का स्वागत भी होता है, पर फकीरों का स्वागत? जो धन को धूल के समान समझते हैं, जो जायदाद को पत्थर के समान समझते हैं; 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को लेकर चलते हैं। संसार के सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव, दया-दृष्टि, रखकर चलते हैं। ऐसे त्यागियों का स्वागत सिर्फ शब्दों से नहीं होता। वह होता है त्याग से, तपस्या से और होता है जीवन को उठाने का प्रयास करने से। जैसे अभी-अभी दो दम्पतियों ने लोगों के सामने—अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग कर दिया है। और भी सैकड़ों व्यक्तियों ने अप्रकट रूप से त्याग-प्रत्याख्यान करके ऐसा किया होगा।

लौकिक दृष्टि से मरुधरा मेरी जन्मभूमि है—मेरी ही नहीं, मेरे पूज्य गुरुओं की जन्मभूमि है। हमारे आदि आचार्यश्री भिक्षुस्वामी का जन्म भी मरुधरा के कंटालिया ग्राम में हुआ था। 'तेरापन्थ' नाम तो जोधपुर से ही प्रचलित हुआ। आज उस समय का इतिहास आँखों के सामने आ जाता है। भिक्षु स्वामी ने शिथिलाचार के विरुद्ध सिंहनाद किया, बिगुल बजाया। उनके साथ १३ साधु थे। जब उनका यहाँ आना हुआ वे एक दूकान में ठहरे। उस समय श्रावक भी तेरह ही थे। जोधपुर के दीवान श्री फतेहसिंह जी उधर से निकले। उन्होंने दूकान में श्रावकों को सामायिकादि करते देखकर सारी बात पूछी। जब उन्होंने यह सुना कि १३ ही सन्त हैं और १३ ही श्रावक तो पास में खड़े एक कवि ने कहा—

> आप आप रो गिलो करै
> ते तो आप आपरो मंत।
> सुण ज्यो रे शहर रा लोकां
> अ तेरापन्थी मन्त॥

भिक्षु स्वामी ने उसी समय पाट से नीचे उतरकर भगवान् को वन्दन किया। उस समय तक उनकी इच्छा नहीं थी कि कुछ नाम रखा जाय; पर 'तेरापन्थ' नाम सुनकर आपने कहा—'हे प्रभो! यह मेरा पन्थ नहीं, तेरा ही पन्थ है। हम तो तेरे ही पन्थ के पथिक हैं। आज मेरा भी तेरापन्थ की इस ऐतिहासिक नगरी में आना हुआ है। मैं १६ वर्ष पहले यहाँ आया था पर इस रूप में नहीं। उस समय मैं आचार्य रूप में नहीं, शिष्य के रूप में था। उस समय मैं अपने गुरु श्री कालुगणि जी के साथ था। आज इस भूमि को देखकर मुझे प्रसन्नता है।

आज का जीवन गिरता जा रहा है। लोग कहेंगे आपको इसकी क्या चिन्ता है? साधु जन-जनकी चिन्ता क्यों करे? पर उनको 'तिन्नाणं तारयाणं' कहा जाना फिजूल नहीं है। साधु स्वयं तरें, दूसरों को तारें। खुद उठें, दूसरों को उठावें। लोग भी उठना चाहते हैं पर सिर्फ वाणी से, शब्दों से। वास्तव में वे उठना नहीं चाहते। बातों से आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। वह तो त्याग से होता है, संयम से होता है। कहा है :

> बातां साटै हर मिलै
> तो म्हानैं ही कहीज्यो।
> माथां साटै हर मिलै
> तो छाना माना रहीज्यो॥

आप बातें बनाते हैं—हम गिर गये, हमारा पतन हो गया पर उठने के लिये क्या करते हैं? जहाँ उठने का सवाल आता है, फौरन पीछे हट जाते हैं। योजनाओं को दुनियाँ पर आजमाया जाय, दुनियाँ ने इसे अपनाया तो हम भी इसे अपनाएँगे। मतलब, आप दुनियाँ के पीछे चलना चाहते हैं, आगे चलना नहीं चाहते। आगे तो बातों में चल सकते हैं। पर यदि आप कल्याण चाहते हैं तो धर्म को अपनाइये। धर्म! धर्म शब्द को सुनने मात्र से आज का बुद्धिवादी वर्ग चौंकेगा। सुना जाता है आज तरुणों में धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं है। दोष किसे दिया जाय आज की शिक्षा पद्धति को, आज के युग को या समय को। लेकिन इससे भी आगे तथाकथित धार्मिकों को, जिन्होंने धर्म के सही स्वरूप को नहीं समझा। उन्होंने धर्म का स्थान आडम्बर को दिया। यही कारण है कि उसके प्रति लोगों की श्रद्धा कम हो गई। अन्यथा मेरा अनुभव है कि युवकों को धर्म के प्रति श्रद्धा है। मैंने युवकों से सम्पर्क स्थापित किया और जाना है कि उनमें धर्म के प्रति श्रद्धा है पर उन्हें सही पथ-प्रदर्शन चाहिये। यदि ऐसा हुआ तो विज्ञान और धर्म के बीच की खाई पट जाएगी। यदि हमने धर्म का सही स्वरूप लोगों के सामने रखा तो 'धर्म खतरे में है' के बजाय 'अमर रहेगा धर्म हमारा' का नारा बुलन्द होगा। "धर्मो रक्षति रक्षतः", मनुस्मृति का यह श्लोक कितना सुन्दर है। पर धर्म सिर्फ मन्दिर, मठ, स्थानक या साधु-स्थान में आ जाने मात्र से नहीं होता, वह तो जीवन के हर क्षण में उपास्य है। उसका पालन घर, दुकान, श्मशान हर जगह आवश्यक है। उसमें वर्ण, जाति, लिंग, रंग का कोई भेद नहीं। निर्धन और धनिक सबको धर्म करने का अधिकार है। धर्म का धन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरे शब्दों में धर्म कभी धन से नहीं होता। यदि धर्म धन से होगा तो कोटि-कोटि जनता जो गरीब है कभी धर्म कर ही न पायेगी। वह तो आत्मा की वस्तु है उसी से होगा।

आज जोधपुर में सैकड़ों साधु और कितने ही आचार्य हैं। सबका यह कर्तव्य है कि बिना किसी साम्प्रदायिकता व छींटाकसी के धर्म का प्रचार कर जोधपुर को धर्मपुरी बना दें। सबको चाहिए कि किसी के प्रति आक्षेप न करते हुये शान्ति की एक लहर दौड़ा दें। यह एक अच्छा कदम होगा।

जोधपुर,
२२ जुलाई, '५३

९५ : प्रगति का वास्तविक अर्थ

वक्ताओं ने मेरे परिचय में बहुत बातें कहीं और मेरी स्वस्ति-वन्दना की, पर मुझे इससे रंचमात्र प्रसन्नता नहीं। मेरे लिये आज अपने लेखे-जोखे, सिंहावलोकन तथा भावी नीति की उद्घोषणा का समय है। वर्ष भर की घटनाएँ आज मेरे समक्ष मानो सजीव होकर नाच रही हैं। मैंने आत्मनिरीक्षण किया, वर्ष भर का सिंहावलोकन किया। अपनी नीति के सम्बन्ध में भी आप लोगों के समक्ष दो शब्द कह दूँ—हमारी नीति मण्डनात्मक, समन्वयात्मक रही है और आगे भी रहेगी। हमारे द्वारा किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नहीं होना चाहिये पर इसका मतलब यह नहीं कि हम शिथिलाचार को देखकर भी कुछ नहीं कहेंगे। हमें चोर पर आक्रमण नहीं करना है, चोरी को खत्म करना है। लोग प्रगति के नाम पर भटकें नहीं। प्रगति का वास्तविक अर्थ है—आत्मशोधन में सजग रहते हुए जनता को आत्मचेतना व व्यवहार-शुद्धि में अग्रसर करना। सही माने में यही धर्माराधना है। धर्म आत्मशुद्धि का प्रतीक है। वहाँ संकीर्णता या अनुदारता कैसी? क्या महाजन और क्या हरिजन, सबको धर्म सुनने तथा उस पर चलने का अधिकार है। धर्म जैसी निर्बन्ध, बेलाग व सार्वजनिक वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष, किसी जाति विशेष व समाज विशेष का अधिकार कैसे हो सकता है? अस्तु। इस विशाल भावनामूलक नीति के लिए मेरा प्रयत्न है—जन-जन में धर्म-भावना, सद्वृत्ति, सच्चाई व न्याय की प्रतिष्ठा हो, जिससे मानव-समाज आज के नारकीय जीवन से छुटकारा पा दैवी जीवन में प्रवेश पा सके।

जोधपुर,

९६ : कषाय-विजय के साधन

आज चतुर्दशी है। जैन-जगत् में चतुर्दशी का विशेष महत्त्व है। आज लोग अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान रखकर आत्मविकास के मार्ग का अनुसरण करते हैं।

ऐसी तिथियां और मुहूर्तों में किसी प्रकार की विशेषता नहीं है। विशेषता तो मनुष्य के विवेक में ही है। विवेक के अभाव में तिथियों और मुहूर्तों का कोई मूल्य नहीं।

आज के दिन सब सोचें —हमें क्या करना है? मैं कहूँगा आज के दिन सबको कर्तव्यनिष्ठ बनना है। हां, यह जरूरी है कि पहले समझें—कर्तव्यनिष्ठा क्या होती है? कर्तव्यनिष्ठा को समझने के बाद ही कर्तव्यनिष्ठ बना जा सकता है। इसलिये कर्तव्य-निष्ठा को पहचानना सबसे पहले आवश्यक है।

आज आप और बातों को जाने दीजिये। आज मैं उपस्थित साधु-साध्वी समाज और श्रावक-श्राविका समाज से यही कहूँगा कि उन्हें कषाय पर विजय करना है। कषाय क्या है? यह एक सांकेतिक शब्द है। इसमें एक सांकेतिक अर्थ छिपा हुआ है। सभी शब्दों की यही स्थिति है। उनमें कुछ-न-कुछ सांकेतिक अर्थ छिपा रहता है। यहाँ कषाय से मतलब क्रोध, अभिमान, दम्भचर्या और लालच इन चार दुर्गुणों से है। जैन-साहित्य का यह एक पारिभाषिक शब्द है। दूसरे शब्दों में कषाय को चाण्डाल चौकड़ी भी कहा जाता है। लोग चाण्डाल से परहेज करते हैं। किन्तु उनके घर में ही एक नहीं, दो नहीं, बल्कि चार-चार चाण्डाल विराजमान हैं। ऊपर के चाण्डाल को छूने से कुछ नहीं बिगड़ता। वास्तविक चाण्डाल तो कषाय है—गुस्सा है। गुस्से को छूने मात्र से हानि और विनाश का कोई पार नहीं रहता। गुस्से से घृणा करिये। ऊपर के चाण्डाल से घृणा करना बेकार और निरर्थक है। कहीं चाण्डाल से घृणा इसलिये तो नहीं की जाती है कि वह आजीविका के लिये मल जैसे घृणित पदार्थ को उठाता है। यदि घृणा में यही तथ्य है तो यह सरासर भूल है। मेरे ख्याल से सम्भवतः चाण्डाल से घृणा करने का कारण उनका निम्नतम खान-पान है। वे निकृष्टतम अखाद्य और अपेय पदार्थों का उपयोग करने लगे और उनका कोई उन्नतम आचार विचार नहीं रहा। इसीलिये वे लोगों की दृष्टि में घृणा के पात्र बन गये हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि घृणा करनेवालों में भी उनसे कुछ अन्तर है क्या? आपने उदाहरण सुना होगा :

बाजार की मुख्य सड़क पर एक चाण्डालिनी जा रही थी। उसके सिर पर एक मरा हुआ कुत्ता रखा था। वह हाथ में मृत मनुष्य का खप्पर लिए हुए थी। दोनों हाथ खून से रँगे हुये थे। महान् आश्चर्य! साक्षात् लक्ष्मी-सी प्रतीत होनेवाली वह चाण्डालिनी अपने आगे जल छिड़क-छिड़क कर पैर रख रही थी। अकस्मात् सामने से एक ऋषि आ निकले। उन्हें इन विचित्रताओं के सम्मिश्रण को देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनसे रहा नहीं गया। वे उसके निकट आये, निकट ही नहीं आये बल्कि अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये चाण्डालिनी से पूछ ही बैठे :

कर खप्पर सिर श्वान है, लहूलु खरडे हत्थ।
छिटकत जल चण्डालिनी ऋषि पूछत है वत्त ॥

अर्थात्—अरी चाण्डालिनी! क्या तू पागल हो गई है? यह क्या कर रही है? जन्म, कर्म, खान, पान, शरीर आदि सब बातों से अपवित्र होने पर भी तूने यह क्या पवित्रता का पाखण्ड रच रखा है? चाण्डालिनी ने ऋषि की ओर नजर डालते हुए शान्तिपूर्वक कहा :

तुम तो ऋषि भोरे भये नहिं जानत हो भेव।
कृतघ्नी की चरणरज छिटकत हूँ गुरुदेव ॥

अर्थात्—हे गुरुदेव! आप सन्यासी हैं। आप मेरी बात को क्या समझें? मैं कोई पागल नहीं हूँ और न मेरी यह प्रवृत्ति ही निष्प्रयोजन और पाखण्डता से युक्त है। देखिये, वह देखिये, वह जो आगे एक व्यक्ति चला जा रहा है, वह महान् कृतघ्नी है। उसके जैसा कृतघ्नी दूसरा कोई नहीं है। मैं सोचती हूँ कहीं उस कृतघ्नी की अपवित्र और अस्पृश्य चरणरज मुझे न लग जाय। इसीलिये ही मैं जल छिड़क कर चल रही हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि लोग अकृतघ्नता की चीजें पेट में ठूंसे बैठे हैं और मान बैठे हैं अपने आपको सबसे बड़े। क्या कृतघ्नी मनुष्य भी कहीं बड़ा कहलाने का अधिकारी है? यदि आप वास्तव में बड़े, उच्च और पवित्र बनना चाहते हैं तो सबसे पहले उपरोक्त चार दुर्गुणों को छोड़िये।

शास्त्रों में इन चार दुर्गुणों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाये गये हैं :

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जव भावेण लोहं सन्तोसओ जिणे॥

आज औषधालयों और चिकित्सालयों की कोई कमी नहीं है। आये दिन नये-नये चिकित्सालयों की बाढ़-सी आ रही है। किन्तु किसी भी औषधालय में क्या आज तक कहीं भी क्रोध-रोग की औषध दी जाती है? क्या उस औषधि का कहीं निर्माण किया गया है? भले ही उन बड़े-बड़े औषधालयों में चाहे क्रोध-रोग की औषधि न मिले किन्तु हमारे औषधालय में वह औषधि मिलती है, मिलती ही नहीं, सहस्रों शताब्दियों से उसका सफल प्रयोग चला आ रहा है। वह है 'शान्ति'। गुस्से के सामने आप शान्ति का प्रयोग करें, गुस्सा पिछले कदमों भाग खड़ा होगा। कोई आपपर गालियों की बौछार करता है तो आप वापस कुछ भी न बोलें। चुप्पी धारण कर लें। यदि आप जानना चाहें कि यह कैसे ग्रहण करें तो लीजिये मैं आपको एक छोटा सा किस्सा याद दिला दूँ :

बादशाह अकबर और बीरबल में सदा हँसी-मजाक चलता ही रहता था। एक दिन बादशाह ने बीरबल से कहा—"बीरबल! तू तो बड़ा अक्लमन्द है, किन्तु तेरा बाप कैसा है? यह मैं जानना चाहता हूँ।" बीरबल बोला—"जहाँपनाह! जिस खान के हीरे को आप देख रहे हैं फिर उस खान को देखने का क्या मतलब?" किन्तु बीरबल की यह सूझ कुछ भी काम नहीं आई। बादशाह अपनी जिद् पर तुला हुआ था। बीरबल आखिर बात को टालने के समस्त उपायों में असफल हो गया। बादशाह ने उसे दो आदेश देकर विदा किया। एक तो यह कि अपने पिता को शीघ्र राजसभा में उपस्थित करो और दूसरा यह कि उस समय तुम अपने घर पर ही रहो। आखिर बादशाह का बादशाह कौन? बीरबल घर पर आया। उसने अपने पिता को प्रणाम करते हुये कहा—"पिताजी! आपको आज बादशाह ने राजसभा में निमन्त्रित किया है।" पिता के होश उड़ गये। वे भला कब राजसभा में और कब बादशाह के सामने गये थे। फिर वे अपनी शक्ति और सामर्थ्य से भी तो परिचित थे। बादशाह के सामने बोलना कोई खेल नहीं था। बड़े आदमियों के सामने वे ही बोल सकते हैं, जो बच्चे हैं, या जो मूर्ख हैं। जब उन्हें यह पता चला कि उस समय बीरबल भी साथ में नहीं रहेगा, तब तो वे और भी घबरायें। हाँ, यदि बीरबल साथ में होता तो वह किसी न किसी तरह कोई भी परिस्थिति को सम्भाल लेता। पिता ने बीरबल से कहा—"बीरबल! मुझे यह तो बताओ कि मैं बादशाह के सामने जाकर क्या करूँ, क्या बोलूँ और कुछ पूछे तो क्या कहूँ?" बीरबल ने कहा—'पिताजी! मैं आपको एक ही बात कहता हूँ कि आप वहाँ पर जाकर बिल्कुल चुप रहें। हाँ, बादशाह को झुककर सलाम अवश्य करें किन्तु बोलें कुछ नहीं। चाहे बादशाह नाराज होकर आपको तरह-तरह के बुरे शब्द और कटु गालियाँ दें किन्तु आप उस समय कुछ भी न बोलकर चुप रहें। फिर जो कुछ होगा, उसे मैं अपने आप सम्भाल लूंगा।" यह कहकर बीरबल ने तुरन्त पिता को राजसभा में भेज दिया। बीरबल के कहे अनुसार वे बादशाह को सलाम कर उनके सामने चुपचाप खड़े हो गये। बादशाह ने हँसते हुये कहा—"बीरबल के पिता आ गये क्या?" वे वापस कुछ न बोले। बादशाह का कथन सुना-अनसुना कर दिया। यह देखकर बादशाह एकदम तमक उठे। उन्होने गरजकर कहा—"अरे! सुनते हो या नहीं? क्या बिल्कुल ही बहरे हो? मैं क्या पूछता हूँ?" फिर भी वे कुछ नहीं बोले। अब बादशाह से नहीं रहा गया। उनके क्रोध का पारा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। वे बुरी तरह बकने लगे—"अरे! यह कौन बेवकूफ-गधा यहाँ आ गया। इसको कुछ तमीज ही नहीं है। निकाल दो बेवकूफ को।" फिर क्या था! बेचारे अपमानपूर्वक निकाल दिये गए। उनके दिल में बड़ा रंज हुआ। वे सोचने लगे, बादशाह रुष्ट हो गया न जाने अब क्या होगा? इस प्रकार वे चिन्ता

करते-करते घर पहुँचे। बीरबल ने सारा किस्सा सुना। वह पिता को अनेक आश्वासन देकर उसी समय राजसभा में आया। राजसभा में तो हँसी-मजाकों के आज बड़े ठहाके लग रहे थे। बीरबल को नीचा दिखाने में बादशाह को स्वर्गीय सुख का अनुभव हो रहा था। इसीलिये बादशाह ने यह सारा नाटक रचा था। बीरबल के आने पर तो सारी राजसभा ही अट्टहास से एक साथ गूंज उठी। बादशाह को प्रमाण कर वह अपने स्थान पर बैठा कि बादशाह ने जोरों के साथ हँसते हुये प्रश्न किया – "अरे! बीरबल! यदि बेवकूफों से पाला पड़ जाय तो क्या करना?" बीरबल ने तपाक से उत्तर देते हुये कहा—"जहाँपनाह! चुप रहना।" ओह! उत्तर क्या था, बम का गोला था। बादशाह की सारी आशाएँ और हँसी पर क्रूर तुषारापात हो गया। वे एकदम चुप हो गये, मन ही मन बीरबल पर बड़ी कुढ़न हुई। ओहो! यह कैसा व्यक्ति है, इसने तो उल्टा मुझे ही बेवकूफ बना दिया।

यह किस्सा और चाहे कैसा ही हो, हमें तो इससे यही शिक्षा लेनी है कि यदि बेवकूफों से गुस्सेबाजों से काम पड़ जाय तो बिल्कुल चुप रहना। चुप रहने में ही गुण है, अन्यथा न जाने सड़कों पर कितने ही बेवकूफ मिलते हैं, क्या उनसे बराबर बोलकर सिरफोड़ी की जाय? गाली देनेवाले को गाली देनेवाला भी उसके जैसा ही बेवकूफ बन जाता है अन्यथा देनेवाला ही बनता है। आप एक दृष्टिकोण रखिये। गुस्से पर आपको काबू करना है। सारी दुनियाँ पर काबू करना सरल है, करोड़ों आदमियों को जीतना सरल है किन्तु अपने आप पर काबू करना बहुत कठिन है। दुनियाँ पर काबू करनेवाले अपनी बीबी, अपने मन और अपनी इन्द्रियों के आगे हार खा गये, शिथिल पड़ गये और निस्तेज बन गये। वह मनुष्य महान् मनुष्य है, परमात्मा का साकार अंश है जो अपने पर काबू रखता है। आप विचार करिये—कोई आपको गुस्से में आकर गाली देता है तो क्या आपका कुछ बिगड़ता है? आप इस श्लोक को याद रखिये :

ददतु ददतु गालिं गालिवन्तो भवन्तः
वयमिह तद् भावात् गालिदानेप्यसक्ताः
जगति विदितमेतद् दीयते विद्यतेतद्
नहि शशक - विषाणं कोपि कस्मै प्रयच्छेत्

"हाँ-हाँ, दीजिये जनाब! और गाली दीजिये।" "अरे वाह! मैं ही मैं क्यों? वापस आप क्यों नहीं देते?" 'भाई साहब! मैं कहाँ से दूँ? मैं क्या गालीवान् हूँ जो दूँ? आप ही गालीवान् हैं।" यह जगत् प्रसिद्ध बात है कि जिसके पास जो होता है वह वही देता है। क्या खरगोश के सींग कोई दे सकता है?

यह सुनकर वह गाली देनेवाला अपने आप शर्मिन्दा होकर चुप हो जायगा और वह करेगा ही क्या?

अतृणेपतितोवन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति

घास-फूस रहित स्थान में पड़ी हुई अग्नि भक्ष्य न पाकर अपने आप शान्त हो जाती है। इसलिये दुष्ट और गुस्सेबाजों से भिड़ने में कोई लाभ नहीं होता। उनसे तो दूर रहने में ही फायदा है।

हाँ, राजनीति का मार्ग इससे अवश्य भिन्न है। वहाँ तो यह कहा जाता है :

गण्डक दुष्ट गुलाम, बुचकार्‌यां बाथ्यां पड़ै
कुट्‌यां आवें काम, नरमी भलो न राजिया।

यह कथन धर्मनीति का नहीं, राजनीति का है। धर्मनीति का तो यह कहना है कि यदि दुष्ट मिल जाय तो उससे दस हाथ दूर से निकलो। अतः सबसे पहले गुस्से को जीतो। गुस्से को जीतने के बाद अभिमान को ऋजुता—सरलता से जीतो। गुस्सा और अभिमान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जहाँ गुस्सा है वहाँ अभिमान अवश्य मिलेगा और जहाँ अभिमान है वहाँ गुस्सा। गुस्से और अभिमान को पराजित करने के बाद दम्भचर्या और लालच को कोमलता और सन्तोष-वृत्ति से परास्त करो। साधु-सन्तों का तो यह सबसे पहला कर्तव्य है कि वे कषाय से बिल्कुल परे रहें। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे औरों का क्या कल्याण करेंगे। साधुओं को दोनों काम करना है—तिरना और तारना, उठना और उठाना, जगना और जगाना। उन्हें ख्याल रहे, वे वीतराग के मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। साहसपूर्वक अन्तरङ्ग-शत्रुओं पर आक्रमण करते हुये आगे बढ़ें। उन्हें अवश्य रास्ता मिलेगा और सफलता उनके चरण चूमेगी।

दूसरी बात है—समय को कैसे बिताया जाये। आप सोचें, मनुष्य का कीमती समय कितना बेकार जा रहा है। मनुष्य उसके मूल्य को नहीं समझता। यह ख्याल रखिये—जो अमूल्य समय आपके हाथों से निकल रहा है वह मुड़कर कभी नहीं आएगा। जो अपना सारा समय खाने, पीने और सोने जैसी तुच्छ क्रियाओं में ही गँवा देते हैं, न सत्सङ्ग करते हैं और न सत्साहित्य-अध्ययन, न आत्मालोचन करते हैं और न आत्मानुसन्धान—उनका जीवन "अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम्"—बकरी के गले में पैदा हुये स्तनों के समान बिल्कुल बेकार और निरर्थक है। उनका ही जीवन सफल और सार्थक है जो अपने बहुमूल्य समय को उच्चवृत्तियों में लगाते हैं। कहा भी है :

काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेनैव मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

विद्वानों का हर क्षण गीत और शास्त्रों के विनोद में बीतता है और इधर मूर्खों का

हर एक क्षण लड़ाई, झगड़े, फसाद और निद्रा में बीतता है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि जो समय को अच्छी प्रवृत्तियों में लगाते हैं वे विद्वान् हैं और जो समय को दुष्प्रवृत्तियों में खोते हैं वे निरे मूर्ख हैं। संक्षेप में यह समझिये कि जिसने अपना समय व्यर्थ बिता दिया उसने अपनी जिन्दगी ही खो दी। इसलिये समय का मूल्य आँकिये—मिनट-मिनट का बँटवारा कीजिये। सायंकालीन प्रार्थना में हम प्रभु से यही तो प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! हमारा प्रतिपल सफल व्यतीत हो। प्रतिपल हम यही सोचें कि हमने जो-जो नियम ग्रहण किये हैं उनपर हमारी दृढ़ निष्ठा बनी रहे। यश और पदलोलुपता से परे रहकर हम हर पल आगे बढ़ते रहें। विकारों की शृंखला को खण्ड-खण्ड कर हम अपनी अन्तिम मञ्जिल को पाने का सतत् प्रयत्न जारी रखें।

वास्तव में उपरोक्त प्रार्थना ही सच्ची ईश्वर-प्रार्थना है। मन्दिर, मस्जिद और धार्मिक स्थानों में जाकर प्रभु से धन, सम्पत्ति और पुत्र की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना प्रार्थना नहीं, स्वार्थ-साधना है। यह कितनी बड़ी अज्ञानता भरी भूल है कि लोग तनिक से चढ़ावे से अपनी सारी ऐहिक मनोकामनाएँ पूर्ण करना चाहते हैं। यह देवों के साथ आँखमिचौनी नहीं तो और क्या है? हम प्रभु से प्रार्थना करें, प्रार्थना तो हम अपनी आत्मा से ही करते हैं, प्रभु तो हमारी प्रार्थना के साक्षी हैं। हम यही कहें कि प्रभो! हमारे प्राण भले ही छूट जायँ किन्तु हम अपनी मर्यादा पर—अपने प्रण पर सदा अटल रहें। हम यह न कहें कि प्रभो! हमारे ऊपर कोई विपत्ति का तूफान आये ही नहीं किन्तु यह कहें प्रभो! अगर हमारे सिर पर विपत्ति का तूफान आये तो हम सहिष्णुता-पूर्वक उसका डटकर सामना करें। हम कभी घबरायें नहीं। हमारा मनोबल सदा मजबूत रहे। हमारे पल-पल का सदा सदुपयोग हो।

अन्त में मैं सब लोगों से यही कहूँगा कि वे कषाय पर विजय पाकर और समय के मूल्य को पहचान कर जीवन को अधिक-से-अधिक विकसित और सफल बना कर स्वार्थ-साधन की वृत्तियों को त्यागकर उनके स्थान पर जीवन में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को स्थान दें, जीवन में नैतिकता पनपाएँ और जीवन में धर्म को उतारें। यही आशा करता हुआ मैं आज के वक्तव्य को समाप्त करता हूँ।

जोधपुर,

२१ जुलाई, '५३

१७ : अनेकान्त

जैन-धर्म का नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आँखों के सामने आ जाती है। अहिंसा की अर्थात्मा जैन-शब्द के साथ इस प्रकार घुली-मिली हुई है कि इनका विभाजन नहीं किया जा सकता। लोकभाषा में यही प्रचलित है कि जैन धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन-धर्म।

धर्ममात्र अहिंसा को आगे किये चलते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं मिलता जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। तब फिर जैन-धर्म के साथ ही अहिंसा का ऐसा तादात्म्य क्यों? यहाँ विचार कुछ आगे बढ़ता है।

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धारणाएँ मिलती हैं। स्थूल रूप में सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हों, ऐसी बात नहीं। किन्तु बौद्धिक-अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर से जो अनेकान्त दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैन-धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न संबंध हो चला।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएँ अनन्त हैं।

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियाँ हैं। प्रत्येक दृष्टि में सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु है और सत्यांशों का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं। जितने सत्य हैं उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं उतनी ही आकांक्षाएँ हैं। जितनी आकांक्षाएँ हैं उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य-असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस! यहीं से विचारों का स्रोत दो धाराओं में बह चलता है—अनेकान्त या सत् एकान्त दृष्टि—'अहिंसा'; असत्य एकान्त दृष्टि—'हिंसा'।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत—इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि

की अनेक धाराएँ चाहिए। वक्ता ने जब शब्द कहा तब वह किस अवस्था में था? उसके आसपास की परिस्थितियाँ कैसी थीं? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति से अन्वित था? विवक्षा में किसका प्राधान्य था? उसका उद्देश्य क्या था? वह किस साध्य को लिये चलता था? उसकी अन्य निरूपण पद्धतियाँ कैसी थीं? तत्कालीन सामयिक स्थितियाँ कैसी थीं? आदि-आदि। अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य के तराजू पर तौलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसको प्रकाश में लाने का एकमात्र साधन है 'शब्द'। उसी के सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप में सत्य या असत्य कुछ नहीं है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य और असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है वह अपने आप में सही या झूठ कुछ भी नहीं। वक्ता यदि रात को रात कहे तो सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसीके सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है? इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया—प्रत्येक धर्म वस्त्वंश की अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्यांशों को ठुकरा कर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।

दूसरों के प्रति ही नहीं किन्तु उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझाने की चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसीका नाम है बौद्धिक अहिंसा। भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा। इसे जीवन-व्यवहार में उतारा। चण्डकौशिक साँप ने भगवान् को दंश मारा तब उन्होंने सोचा—यह अज्ञानी है। इसीलिए मुझे काटा है। इस दशा में मैं इसपर क्रोध कैसे करूँ? संगम ने भगवान् को कष्ट दिये तब उन्होंने सोचा कि यह मोह-विक्षिप्त है इसलिए यह ऐसा जघन्य कार्य करता है, मैं मोह-विक्षिप्त नहीं हूँ इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नहीं।

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तों को समान दृष्टि से देखा—इसलिए देखा कि विश्वमैत्री की अपेक्षा दोनों उनके समकक्ष मित्र थे। चण्डकौशिक अपनी उग्रता की अपेक्षा भगवान् का शत्रु माना जा सकता था किन्तु वह भगवान् की मैत्री की अपेक्षा उनका शत्रु नहीं माना जा सकता।

इस बौद्धिक अहिंसा का विकास होना आवश्यक है।

स्कन्धक सन्यासी को उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—विश्व सान्त भी है और अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्र में उपयुज्य है। दार्शनिक संघर्ष इस दृष्टि से

बहुत सरलता से सुलझाये जा सकते हैं। किन्तु कलह का क्षेत्र सिर्फ मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनैतिक अखाड़े संघर्षों के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमें अनेकान्त दृष्टिलभ्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाय तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। यदि कहीं भय या द्वैधीभाव बढ़ता है, उसका कारण एकान्त आग्रह ही है। एक रोगी कहे मिठाई बहुत हानिकर वस्तु है—उस स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति को यकायक झेंपना नहीं चाहिए, उसे सोचना चाहिए कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती। उसकी लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी दूसरे के लिए अमृत भी बन जाता है। साम्यवाद, पूंजीवाद को बुरा बतलाता है और पूंजीवाद साम्यवाद को। इसमें भी एकान्तिकता ठीक नहीं हो सकती। किसी में कुछ और किसी में कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्र में जैन-धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है।

जैन स्वयं इस सिद्धान्त का विशेष उपयोग नहीं कर रहे हैं। इसलिए इसका यथेष्ट विकास नहीं होता। यह केवल एक सिद्धान्त की वस्तु बन रहा है। जैन अनुयायियों का कर्तव्य होता है कि वे इसे व्यवहार में लायें। अगर ऐसा हुआ तो दूसरे स्वयं इसका मूल्य समझेंगे।

९८ : चातुर्मास

कुछ दिवस पूर्व चातुर्मास की कल्पना मात्र थी। आज उस कल्पना ने निश्चय का रूप ले लिया। आज वह निश्चय कार्य-रूप में बदल गया है। लोगों से मैं कहना चाहूँगा—समय बहुत मूल्यवान वस्तु है, वृथा न बिता उसका सदुपयोग किया जाना चाहिए। बीता समय वापिस नहीं आता। लोगों को चातुर्मास के समय का अधिकाधिक उपयोग करना है। चातुर्मास के कार्यक्रम में ये तीन पहलू रहेंगे—जागरण, ज्ञानार्जन व चरित्र-विकास। प्रत्येक धर्मप्रेमी श्रद्धालु जन का यह कर्तव्य है कि वह इस त्रिवेणी में स्नान कर अपने को निर्मल बनाये। उसे क्षण-क्षण जागरूक रहना है कि उससे कोई ऐसा कार्य तो नहीं हो रहा है जो आत्मा का पतन करनेवाला हो।

जोधपुर,
२४ जुलाई, '५३

९९ : युवकों से

आज युवकों में आत्म-श्रद्धा की कमी मालूम पड़ रही है। उन्हें आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन चाहिए, जिससे वे अपने आपका अस्तित्व समझ सकें। उनमें देव, गुरु और धर्म के प्रति विश्वास कम होता जा रहा है। उन्हें अपने पूर्व कृत कार्यों पर विश्वास नहीं होता। किसी भी तत्त्व को तर्क की कसौटी पर कसे बिना उनका मस्तिष्क उसे सही मान लेने को तैयार नहीं होता। पर तर्क भी तो हर कहीं काम नहीं देता। जो कार्य श्रद्धा से बन जाता है उसे कोरा तर्क नहीं बना पाता। मूलतः कोरे तर्क पर चलना ही गलत है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्म-विश्वास तो होना ही चाहिए। उन्हें तो चाहिए :

महाजनो येन गतः सः पन्थः

जिस रास्ते पर महापुरुष चले हैं उसपर ही चला जाय।

युवकों के जीवन में सादगी के स्थान पर आडम्बर को अधिक प्रश्रय मिलता जा रहा है। आखिर उन्हें मित्र भी तो वैसे ही मिल जाते हैं। संयमी पुरुषों की संगति से उन्हें ग्लानि-सी होती है, फिर भला सदाचार, संयम और सद्‌शिक्षा कहाँ मिलें! पतित कभी पावन बनने का उपदेश नहीं दे सकता। देनेवाला मिल भी जाय तो उसका प्रभाव नहीं पड़ता। जो स्वयं गिरा हुआ है वह दूसरों को क्या उठायेगा? सन्तजन जो स्वयं उठे हुए हैं, जिनका जीवन अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणों में रमा हुआ है, उनका उपदेश ऊपर की आवाज नहीं, अन्तर की गर्जना है। ऐसे सन्तजनों के सम्पर्क से धर्म का सम्पर्क होगा, आडम्बर, लड़ाई और शोषण से हटकर मानव आराधना, साधना और मानसिक उज्ज्वलता को प्राप्त कर सकेगा।

अणुव्रत-योजना सिर्फ बुड्ढों के लिए ही नहीं, हर व्यक्ति के लिए है। जीवन में नैतिकता लानेवाली योजना में भला वृद्ध और युवक की भेद-रेखा क्यों हो? यहाँ युवकों को इसे अपनाकर अपनी शक्ति का परिचय देना चाहिए। इससे जाति, राष्ट्र और उनका स्वयं का हित है।

युवक सन्त-सम्पर्क से लाभ उठाएँ। उनसे निःशुल्क आध्यात्मिक ज्ञानार्जन चार महीने के लिये करें। उन्हें यह स्वर्ण अवसर मिला है।

शिक्षा में साहित्य का विश्लेषण मिलता है, पर उन्हें हिताहित का विश्लेषण नहीं मिलता। वे आर्थिक, भौतिक पहलू सुलझा सकते हैं पर नैतिक धरातल तैयार करने की शिक्षा नहीं मिलती। नैतिकता के लिए आध्यात्मिक शिक्षा जरूरी है।

जोधपुर,
२६ जुलाई, '५३

१०० : जीवन, विकास और युग

जीवन और विकास ये दो शब्द हैं। हमें दोनों को समझना है। जीवन को समझे बिना विकास समझ में नहीं आ सकता। अगणित कोटि के जीवन में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य जीवन है, वह है मानव का जीवन। सब दर्शनों ने मानव-जीवन की दुर्लभता और बहुमूल्यता एक स्वर से गाई है। सहसा प्रश्न उठेगा—मानव जीवन में ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जो इतनी महत्ता गाई जाती है? उत्तर सीधा है। जो वस्तु थोड़ी, दुष्प्राप्य और कीमती होती है उसकी महत्ता अपने आप फैल जाती है। यही बात मानव जीवन में लागू होती है। वह बहुत कम, दुष्प्राप्य और कीमती है। मानव को सोचना चाहिये कि इस थोड़े से समय में मेरा वास्तविक कार्य क्या है? मेरा जीवन कैसा है और किधर जा रहा है? वह मिथ्या-छलना में न फँसे। मिथ्या गर्व से अपने आपको बचाये। हृदय, दिमाग, बुद्धि, यौवन, रूप, संपत्ति, आयु आदि के मिथ्या-आडम्बरों—प्रलोभनों में फँस कर अपनी गति को कुंठित न करे। इन चीजों पर वह गर्व किस बात का करे। गर्व करना हास्य की बात है। महर्षियों ने कहा :

> आयुर्वायुतरत्तरंगतरलं लग्नापदः सम्पदः
> सर्वेपीन्द्रिय गोचराश्च चटुलाः संध्याभ्ररागादिवत्।
> मित्र-स्त्री-स्वजनादि संगमसुखं स्वप्नेन्द्र जालोपमम्,
> तत्किं वस्तु भवे-भवेदिहमुदामालम्बनं यत्सताम्॥

अर्थात्—आयु वायु की चपल लहरों की तरह अस्थिर है। संपत्ति आपत्तियों से घिरी हुई है। सम्पत्ति है तो पुत्र नहीं है, पुत्र है तो विनीत नहीं है या स्वयं रोगादि कारणों से इतना निर्बल है कि उसका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता। इन्द्रियों के सारे विषय सान्ध्य-बादलों की क्षणिक रंगीली सदृश हैं। मित्र, स्त्री, स्वजन आदि का संगम—सुख, स्वप्न या इन्द्रजाल के समान मिथ्या है। फिर भला संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मनुष्य के लिये आनन्द का आलम्बन बन सके—गर्व को उत्तेजना दे सके।

जीवन का लक्ष्य क्या है? उसका निरीक्षण कीजिये। वह कहीं बाहर मिलनेवाला नहीं है, अपने भीतर ही खोजें। आत्मावलोकन कीजिये। वह है—जीवन का जागरण, विकास और निर्माण। इसके लिये आप कमर कसकर तैयार हो जाइये। जीवन को विकसित करना है। अब एक क्षण भी व्यर्थ खोना ठीक नहीं क्योंकि भगवान महावीर ने चेतावनी देते हुए कहा है :

> जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ।
> जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥

अर्थात्—जबतक वृद्धावस्था पीड़ित न करे, रोगों का आक्रमण न हो और इन्द्रियाँ क्षीण न हो तब तक जितना हो सके, उतना धर्म-संचय करने का अविलम्ब प्रयत्न करो।

यदि इस विषय में लापरवाही हुई तो फिर ऐसा अवसर सुलभ होना अत्यन्त दुष्कर है। 'जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ' जितनी रात्रियाँ बीत रही हैं, वे लौटकर नहीं आएँगी। इसलिये 'समय गोयम् मा पमायए' क्षण मात्र भी प्रमाद में व्यर्थ मत खोओ।

आप पूछेंगे जीवन का विकास कैसे होता है?

जीवन-विकास के अनेक मार्ग हैं। हाँ, हैं वे अवश्य पुराने। आज विज्ञान का समय है। सबको नई रोशनी चाहिये। हम ठहरे पुरानपन्थी। किन्तु हम पुराने और नये के झगड़े से परे हैं। मैं न तो कट्टर पुराण-पन्थी ही हूँ और न कट्टर नवीन-पन्थी ही। जिसमें मुझे जो वस्तु अच्छी मिलती है उसे मैं ग्रहण करने का सदा से पक्षपाती हूँ। जीवन विकास का सबसे महान् सूत्र है—आत्मानुशासन। लोगों ने विदेशी हुकूमत से मुक्त होकर स्वाधीनता का वरण किया, पर मैं समझता हूँ उनकी आत्मा पर से अभी भी विदेशी हुकूमत नहीं उठी है। यहाँ 'विदेशी' शब्द से मेरा मतलब देश-विदेश से नहीं वरन् उनपर स्वयं की आत्मा का अनुशासन न होकर आत्मातिरिक्त प्रलोभनों का अनुशासन है। इस परानुशासन को हटाये बिना वास्तविक-आजादी कहाँ? परानुशासन को हटाने के उपाय हैं—संयम, चरित्र और नियंत्रण। संयम क्या है? आत्मानुशासन का विकसित रूप ही संयम है। वह कब होगा? इस महत्त्वपूर्ण पाठ को पढ़ने से—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥

संग्राम में सहस्रों योद्धाओं को जीतनेवाले से भी वह व्यक्ति महान् विजेता है जिसने अपनी आत्मा को जीत लिया है। वास्तव में आत्म-विजय ही सबसे बड़ी विजय है। इसीलिये तो कहा है :

"अप्पणा मेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ"—"ऐ प्राणी! तू अपनी आत्मा के साथ संग्राम कर, उसपर विजय पा। दूसरों के साथ संग्राम कर उनपर विजय पाने से तुझे कोई लाभ नहीं होगा? अपनी विजय ही परम विजय है। वह संयम और आत्म-नियंत्रण से ही संभव है।

आजका समय बड़ा विचित्र है। लोग अपने आपको नहीं देखते। दूसरों की बड़ी लम्बी-लम्बी आलोचना करने को तैयार रहते हैं। अपने बड़े-बड़े दोष भी नजर नहीं

आते और दूसरों के अति तुच्छ दोष भी बहुत बड़े-बड़े रूप में नजर आने लगते हैं। महर्षि भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है :

परगुण परमाणु पर्वतीकृत्य नित्यं निज हृदि विलसन्तः सन्ति सन्त कियन्तः

—दूसरे के परमाणुतुल्य—अति तुच्छ गुणों को पर्वत के समान अति महान् वर्णन करनेवाले सज्जन पुरुष कितने हैं। इसके विपरीत आज उनलोगों का कोई पार नहीं जो अपने तो पर्वत-तुल्य अति महान् दोषों को अन्दर छिपा लेते हैं और दूसरों के परमाणु-तुल्य अति तुच्छ दोषों को पर्वत के समान अति महान् बनाकर सर्वत्र डंका पीटते फिरते हैं। दूसरों के दोषों की आलोचना करने का वही अधिकारी है जो स्वयं बिल्कुल निर्दोष हो। इस संपूर्ण सत्य-सिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिये महात्मा ईसा का किस्सा अत्यन्त सामयिक है।

एक बादशाह ने किसी चोर को प्राणदण्ड का आदेश दिया और वह भी नये तरीके से। बादशाह ने सारे नगर में एलान कराया कि नगर के सारे लोग नगर के बाहर चले जायँ और एक-एक पत्थर हाथ में लेकर चोर पर प्रहार करें। नगर के बाहर तमाशा-सा लग गया। एक निश्चित स्थान पर चोर को खड़ा किया गया। उसकी दशा बड़ी दयनीय थी। वह मन ही मन सोच रहा था कि यदि मैं इस बार छूट जाऊँ तो आगे फिर कभी चोरी नहीं करूँगा। एक तरफ पत्थरों का ढेर लगा हुआ था। तमाशा देखने और तमाशा के सक्रिय पात्र बनने के लोभ से नगर के समस्त लोग वहाँ पर उपस्थित हुए। चोर पर प्रहार करने के लिये ज्योंही लोगों ने अपने हाथों में पत्थर उठाये त्योंही एक फकीर महात्मा ईसा मसीह वहाँ पर सहसा आ निकले। वे इस अनैतिकतापूर्ण भीषण दृश्य को देखकर काँप उठे। उन्होंने एक ऊँचे टीले पर चढ़कर लोगों को एक सलाह देते हुए कहा—"बन्धुओ! मैं आपको कोई आज्ञा देने के लिये नहीं खड़ा हुआ हूँ। मैं तो आपको एक विनम्र सलाह देना चाहता हूँ। वह यह है कि आपमें से चोर को पत्थर से वही व्यक्ति मारे कि जिसने अपने जीवन में कभी प्रत्यक्ष या परोक्ष में किसी प्रकार की चोरी न की हो। आप दो क्षण विशुद्ध आत्म-चिन्तनपूर्वक सोचें कि आपने कभी चोरी तो नहीं की है। चोरी का मतलब सिर्फ यही नहीं है कि किसी की तिजोड़ी तोड़ कर पैसा चुरा लेना, दूसरे के अधिकारों को छीनना और शोषण करना भी चोरी के प्रमुख अंगों में से हैं।" लोगोंपर महात्मा ईसा की बात का जादू-का-सा असर हुआ। उन्होंने विचार किया हम चाहे प्रत्यक्ष चोर न हों किन्तु परोक्ष चोर तो हैं ही। एक-एक कर सारे लोग वहाँ से खिसक गये। किसी ने भी साहूकारी का दम्भ भरकर चोर पर प्रहार नहीं किया। राजपुरुषों ने सारी स्थिति बादशाह तक पहुँचाई। बादशाह ने क्रोधपूर्वक ईसा को पकड़ कर बुलवाया। ईसा ने राज्य-मजलिस में खड़े होकर निर्भीकतापूर्वक बादशाह के सामने

सारी घटना उपस्थित की और अन्त में बादशाह से भी यह निवेदन किया कि—"जहाँपनाह! आप भी विचार करें, क्या आप सच्चे अर्थ में साहूकार हैं। क्या आपने पर-अधिकारों को जबरदस्ती से नहीं छीना है?" बादशाह अवाक् रह गया। महात्मा ईसा ने आगे कहा—"मैं यह नहीं कहता कि चोर को दंड नहीं देना चाहिये। किन्तु ऐसा दण्ड तो नहीं होना चाहिये जो मानवी नीति की सीमा को ही लाँघ जाय। दण्ड में भी एक नीति होती है—उसका अतिक्रमण तो नहीं होना चाहिये।" बादशाह महात्मा ईसा के आगे नतमस्तक हो गया। उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए उसी समय चोर को भविष्य में चोरी न करने की शिक्षा देकर छोड़ने का आदेश दिया। यही बात आज के लिये है। लोग अपने आपको नहीं देखते। औरों पर निरन्तर कटु-कटाक्ष करते रहते हैं। आज जो बड़े-बड़े अधिकारी कानून और नियम बनाते हैं खुद वे ही सबसे पहले उन कानूनो और नियमों की अवहेलना करते हैं। कानून बनानेवाले ही जब कानून का भंग करेंगे तब दूसरे कैसे पालेंगे? और कैसे वे दूसरों से पालन के लिये आशा भी कर सकेंगे। यह न न्याय ही है और न मानवीय आदर्श ही।

लोग औरों को सुधारने की बात करते हैं, किन्तु स्वयं सुधरने की क्यों नहीं करते? औरों को सुधारने से तो बेहतर है वह पहले स्वयं सुधर ले। स्वयं के सुधार को भूलकर आज लोग पर-सुधार की चिन्ता में पड़े हुए हैं। यह अनुचित है। आत्मा-वलोकन कीजिये—देखिए—मेरे सुधार की सीमा क्या है? और मेरी सुधार की गति किस रफ्तार से चल रही है? मैं अपने साथ छलना, दंभ और अन्याय तो नहीं कर रहा हूँ? यह निश्चित समझिये, बिना आत्म-चिन्तन के आत्म-नियन्त्रण जागृत नहीं हो सकता। आत्म-नियन्त्रण के अभाव में संयम सम्भव नहीं और संयम के बिना विकास की बातें नीलकुसुम की तरह निरर्थक हैं। इन परमार्थ सारगर्भित बातों को कौन सोचे। देखिए—इन साधुओं ने आत्म-विकास की जागृति के लिये कठोरातिकठोर संयम मार्ग को अपनाया है। आत्म-दमन किया है। इनकी वेशभूषा में मत उलझिये—मौलिक तथ्य को समझिये। आप यदि पूर्ण संयम की साधना नहीं कर सकते तो अंशतः तो उसका पालन कीजिये। ऐसा करने से भी आप बहुत सी बुराइयों से बच सकेंगे। जब तक ऐसा नहीं किया जायेगा तब तक आत्म-विकास सम्भव नहीं।

बुराई से बुराई कभी मिट नहीं सकती। हिंसा से हिंसा बढ़ती ही है। हिंसा से हिंसा को मिटाने का प्रयत्न अग्नि को बुझाने के लिये उसमें घृत डालने के समान है। हिंसा का प्रतिकार अहिंसा से ही किया जा सकता है। अहिंसा की प्रबल शक्ति के के सामने वह अपने आप मर मिटेगी। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि संसार से हिंसा बिल्कुल खत्म हो जाय। क्योंकि जब तक काम, क्रोध, मद, लोभ आदि दुर्गुणों का अस्तित्व रहेगा तब तक हिंसा का अभाव होना असम्भव है। यह होते हुए भी

अहिंसा को अधिक आदर और उच्च दृष्टि से देखना कल्याणकारी है। हिंसा और अहिंसा की मात्रा पर ध्यान रखना आवश्यक है। हिंसा संसार से बिल्कुल मिट न सके, फिर भी उसकी मात्रा अनावश्यक अधिक न बढ़ जाय, इस ओर जागरुक रहना भी लाभदायक है। इसके साथ-साथ अहिंसा की मात्रा क्रमशः अधिकाधिक बढ़ती रहे, वह हिंसा को दबाये रखे। उसे संसार पर हावी न होने दे, उसे उच्छृङ्खल न होने दे और अपनी प्रधानता कायम रखे, इस तथ्य को आँखों से ओझल न होने देना ही हिंसा की मात्रा रोकने का सफल प्रयास है।

आज संसार में जगह-जगह युद्ध-विभीषिका छाई हुई है। पर उससे किसको शान्ति मिली! आज तक का इतिहास बताता है कि कभी युद्धों से न तो शान्ति-प्रसार ही हुआ है और न शान्ति की स्थापना ही। आखिर शान्ति और मैत्री तो अहिंसा के द्वारा झगड़ों को निपटाने से ही स्थापित की जा सकती है। अभी-अभी कोरिया में युद्ध-विराम संधि हुई है। पत्र-पाठक जानते हैं—वहाँ कितनी नृशंस हत्या हुई। पाँच वर्षों के लम्बे काल तक उस छोटे से देश में रणचण्डिका हाथ में खून का खप्पर लेकर घूमती रही। तीस लाख मनुष्य की प्रौढ़ सन्तानें अग्नि में पतंगों की तरह उस युद्धाग्नि में होम दी गईं। ऐसा सोचने से ही दिल दहल उठता है। खेद है, जहाँ एक व्यक्ति का खून के सुनने मात्र से मनुष्य के रोंगटे खड़े हो उठते हैं वहाँ इस नृशंस हत्या से उन युद्ध-प्रिय देशों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। इतना ही नहीं हुआ बल्कि कहा जाता है इस अर्से में वहाँ के करोड़ों लोग बेकार हो गये। आखिर हुआ क्या? पाँच वर्ष के दीर्घकालीन युद्ध से उनकी पारस्परिक गुत्थी तिल भर नहीं सुलझी। आखिर जब युद्ध जनित अशान्ति से सब हार गये तब विवश होकर—दोनों पक्षों ने युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर किये। अगर यह पाँच वर्ष पहले हो जाता तो इस प्रकार की नृशंस हत्या का भयानक-दृश्य विश्व में क्यों उपस्थित होता? खैर! अब तो सबक मिला। लोग यह समझ गये कि जिस प्रकार आग घी से उपशान्त नहीं होती, उसी प्रकार युद्ध-से युद्ध की प्रचण्डता खत्म नहीं होती। युद्ध की प्रचण्डता अहिंसा और मैत्री से ही समाप्त हो सकती है। यह ठीक ही है जैसे चढ़ते ज्वर में दवा अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती, कुछ प्रकोप शान्त होने पर ही उसका प्रभाव प्रतीत होता है, वैसे ही खून के उबाल, उन्मत्तता और विह्वलता में—अहिंसा के उपदेश को व्यक्ति पचा नहीं सकता। खून में शीतलता आने पर, उन्मत्तता तथा विह्वलता के हटने पर ही अहिंसा के उपदेश को वह ग्रहण कर सकता है। अहिंसा और मैत्री ही जटिल से समस्याओं के सुलझाने में समर्थ हो सकती हैं, ये ही इन अग्नि-परीक्षाओं में खरी उतर सकती हैं, पश्चिमी सभ्यता वाले लोग इस मौलिक तथ्य को दृढ़ता और निश्चयपूर्वक समझें।

समस्त सुधार और विकास का आधार अध्यात्मवाद है। अध्यात्मवाद क्या है?

इसे समझना बिल्कुल सरल है। आप आत्मा, परमात्मा पुनर्जन्म आदि में जाकर उलझ पड़ते हैं। मेरी दृष्टि में ये कोई इतनी बड़ी उलझनें नहीं हैं। फिर भी ये कुछ गहन और गम्भीर तो हैं ही। अध्यात्मवाद से आप इतना ही समझिये कि—'अपने आपका वाद'। दूसरे शब्दों में—'अपने लिये अपना नियन्त्रण—संयम'। आपके मन में आशंका होगी—आत्मा कहाँ है? परमात्मा कहाँ है? मैं कहता हूँ आप इन बातों को एक बारगी छोड़ दीजिये। ये अति गम्भीर प्रश्न हैं। कम से कम इतना समझिये—आपको अपना जीवन बिगाड़ना नहीं है। आत्म-नियन्त्रण इस जीवन में तो सुख और शान्तिप्रद है ही, अगर अगला जीवन भी है तो उसके लिए भी वह ठीक ही है। सम्भवतः जोधपुर की ही बात है—एक राज्याधिकारी हमारे गुरु महाराज के पास आकर कहने लगे—"महाराज! आपसे एक सवाल है। आप जो सारी सुख-सामग्रियों को ठुकराकर इतनी कठोर साधना कर रहे हैं,—आत्म-नियन्त्रण कर रहे हैं, अगर अगला जीवन नहीं हुआ तो आपकी यह कठोर तपश्चर्या और आत्म-नियन्त्रण यों ही व्यर्थ जायगा और आप जीवन के सुखों से भी वंचित रहेंगे।" गुरु महाराज ने सस्मित उत्तर देते हुए कहा—"आपकी बात मिल गई तो सिर्फ इतना ही तो होगा कि हम इस जीवन की भौतिक सुख सुविधाओं से वंचित रह जायेंगे। किन्तु हमारी बात ठीक निकल गई तो आप जो साधना और आत्म-नियन्त्रण को व्यर्थ समझकर भौतिक सुख-सुविधाओं में आकण्ठ डूबे हुए हैं, फिर क्या हालत होगी?" इसलिये आत्म-नियन्त्रण तो सदा ही अच्छा और उपयोगी है; यदि अगला जन्म है तब भी और यदि नहीं है तब भी। यह स्पष्ट है कि जबतक आत्म-नियन्त्रण नहीं होगा तबतक आत्म-भय भी नहीं होगा और आत्म-भय के अभाव में आत्म-विकास का स्वप्न ही कैसा? आत्म-भय के अभाव में ही मनुष्य ऐसा निन्द्यकार्य करने लगता है कि चलो कोई देखे तो पाप नहीं करेंगे और जहाँ कोई देखनेवाला नहीं है वहाँ पाप करने में क्या हानि है? ऐसे व्यक्ति यह नहीं सोचते कि चाहे कोई व्यक्ति देखे या न देखे किन्तु तू तो स्वयं देख ही रहा है। इसके विपरीत जहाँ आत्म-भय होगा वहाँ व्यक्ति यही सोचेगा कि चाहे कोई देखे या न देखे, मैं तो देख ही रहा हूँ। इस सारपूर्ण अन्तर के होते ही मनुष्य की समस्त गुत्थियाँ सुलझने लगेंगी।

अध्यात्मवाद की नींव धर्म पर टिकी हुई है। धर्म क्या है? जो आत्मा की शुद्धि के साधन हैं वे ही धर्म हैं। धर्म प्रलोभन, बलात्कार और बल प्रयोग से नहीं होता। धर्म जिन्दगी को बदलने से होता है; अन्याय, अत्याचार और शोषण से भय रखने से होता है; जीवन को सुधारने से होता है। इसलिए जिन्दगी को बदलो, अत्याचारों से भय रखो और स्वयं को सुधारो।

लोग कहते हैं आज की शिक्षा-प्रणाली ठीक नहीं है। यह सही है, जिस शिक्षा-

प्रणाली में आत्मानुशासन और आत्म-जागरण को स्थान नहीं, वह शिक्षा-प्रणाली अधूरी अपूर्ण और विनाशकारी है। शिक्षा वही है जो आत्मानुशासन सिखाती है। "सा विद्या या विमुक्तये" यह श्लोक शिक्षा के मौलिक उद्देश्य पर वास्तविक प्रकाश डालता है। वह शिक्षा क्या जिसमें आत्मानुशासन और आत्म-जागृति के तरीके नहीं बताये जाते? इससे तो कहीं प्राचीन शिक्षा-प्रणाली अच्छी थी—जिससे कम से कम आत्म-पतन तो नहीं होता था। इसलिये ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है जो आत्म नियन्त्रण और संयम का पाठ पढ़ाये। इस विषय में मैं कहूँगा—शिक्षकों को विशेष जागरूक होने की आवश्यकता है। उनके हाथों में देश की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। मैं धन दौलत को वास्तविक सम्पत्ति नहीं मानता। वास्तविक सम्पत्ति है, छात्र और छात्राएं। यह सम्पत्ति शिक्षकों के हाथ में है। शिक्षक उन्हें जिधर बहायेंगे वे उधर ही बहेंगे। इसलिये मेरा उनसे अनुरोध है—वे ऐसी महान् सम्पत्ति को बिगाड़ न दें, वे स्वयं अपने जीवन के विकास, जागृति, अध्ययन और निर्माण में इस सम्पत्ति का विकास, जागरण, उन्नयन और निर्माण करें। जैसे एक दीपक से सहस्रों दीपक जलाये जा सकते हैं उसी प्रकार अपने जीवन से कोटि-कोटि छात्र-छात्राओं का जीवन जगायें। इससे वे समाज, देश और राष्ट्र-हित करने में बहुत बड़ा हाथ बटायेंगे।

व्यक्ति-सुधार समाज-सुधार की रीढ़ है। मुझे समाज, जाति, देश या राष्ट्र-सुधार की चिन्ता नहीं, मुझे व्यक्ति-सुधार की चिन्ता है। चाहे आप भले ही मुझे स्वार्थी कहें, किन्तु मेरा यह निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति-सुधार ही सब सुधारों की मूल भित्ति है। समाज किस चीज का नाम है? व्यक्तियों के समूह का ही तो समाज कहते हैं। तब यदि व्यक्ति-व्यक्ति सुधरा हुआ होगा तो इसी तरह फिर देश-राष्ट्र आदि भी अपने आप सुधरे हुये होंगे। व्यक्ति अपने सुधार को ताक पर रख, समाज, देश और राष्ट्र-सुधार की बड़ी-बड़ी गप्पें हाँकता है, वह तो उसी तरह है जैसे—"दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम"—इसलिये व्यक्ति का सुधार आवश्यक है। उसके बिना समाज और देश-सुधार होना असम्भव है। व्यक्ति स्वयं सुधरकर दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करें, केवल आचरणहीन, निकम्मी, थोथी आवाजों से कुछ सम्भव नहीं। मौखिक प्रचार पंगु है। उसे जबतक अपने जीवन में समाहित नहीं किया जायगा, तबतक उस प्रचार में कोई स्फूर्ति या गति नहीं आयेगी।

जीवन सुधारने का सबसे बड़ा सूत्र है—इस प्रकार का चिन्तन करना "किं नाम होज्ज तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा"। वह कौन-सी प्रक्रिया है जिससे कि मैं दुर्गति में न जाऊँ, मेरा पतन न हो, इसी नैरन्तरिक खोज में व्यक्ति को अपने आप वह प्रक्रिया मिलेगी, जो कि जीवन के लिये प्रेय और श्रेय है। मेरे शब्दों में आज के युग में वह प्रक्रिया है—अणुव्रत-योजना। अणुव्रत-योजना को अपनाकर व्यक्ति किसी

का अनिष्ट किये बिना अपना महान् विकास कर सकता है। यह योजना न तो कोई आज के युग की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने की योजना है और न कोई वाद-विवाद सुलझाने की योजना। यह तो व्यक्ति के जीवन-सुधार की योजना है। इस योजना में प्रमुखतः अहिंसादि पाँच अणुव्रतों को व्यावहारिक रूप देकर उनके ८४ नियम बनाये गये हैं। जनता क्या चाहती है? इस पहलू के दीर्घकालीन सूक्ष्म चिन्तन का यह परिणाम है। इसको लोगों ने बड़ी पसन्द की है, स्तुति और प्रशंसा के बड़े २ पुल बाँधे है, किन्तु मैं केवल पसन्द और प्रशंसा से खुश होनेवाला नहीं हूँ और न मैं इनका भूखा ही हूँ। मैं तो तभी खुश होनेवाला हूँ जब इस जीवन-विकास की योजना को अपने जीवन में समाहित कर चला जाएगा। इस योजना का सारा कार्यक्रम अत्यन्त विशाल और उदार दृष्टिकोण से बनाया गया है। सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, लिंग आदि की इसमें बू तक नहीं मिलेगी, लोग इसका सूक्ष्म-चिन्तन और मनन करें। अगर यह योजना आपके जीवन-विकास का हेतु बनी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

आज वैज्ञानिक युग है। सब चीजों का असंभाव्य विकास हो रहा है। क्या हृदय का? क्या दिमाग का? क्या बुद्धि का? और क्या सुख-सुविधाओं का? कल ही अखबार में देखा—"न्यूयार्क में एक ऐसे यंत्र का आविष्कार किया गया है, जो बिजली की सहायता के बिना दो घण्टे तक का वार्तालाप, प्रवचन, नया संगीत आदि रिकार्ड कर सकेगा" इस तरह आज आये दिन नये-नये विकास के सूत्र सामने आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में क्या जीवन का विकास आवश्यक नहीं है? खाना, पीना, सोना, सिनेमा देखना आदि जीवन के साध्य नहीं। जीवन का साध्य मानवता है। सबसे बड़ी भूल आज यही हो रही है कि लोग इस महान् साध्य को भूल गये हैं। उनका दृष्टिकोण भ्रान्त बन गया है। यही कारण है आज वे दुर्व्यसनों के दास बने हुये हैं। मजे की बात तो यह है कि लोग दुर्व्यसनों के गुलाम होते हुए भी इस गुलामी को समझते तक नहीं। इसको मिटाने का तरीका यही है कि लोग पहले इस गुलामी को समझें और तदनन्तर अधिकारों की लिप्सा, अन्याय, दुराचार और शोषण को छोड़कर जीवन-विकास के क्षेत्र में आगे कदम बढ़ायें।

आप सभी बहिर्मुखी दृष्टिकोण को त्यागकर अन्तर्मुखी दृष्टिकोण अपनाइये। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण का विकास आत्मानुशासन की शिक्षा और उसके रहस्यपूर्ण तरीके हमें विरासत में मिले हैं। तेरापन्थ के आद्यप्रवर्तक महामहिम आचार्य भिक्षु ने हमें सबसे पहले बताया कि यदि तुम आत्म-विकास करना चाहते हो तो यह प्रतिज्ञा करो, "हम अपने मन का जाना कभी नहीं करेंगे। हम सब एक गुरु के अनुयायी हैं, अतः उनका अनुशासन ही हमारे प्रत्येक कार्य में मार्ग-दर्शक रहेगा।" इसका नाम ही आत्मानुशासन है। यही

जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिये। इसी को अपने जीवन के कण-कण में रमाकर आगे बढ़ना चाहिए।

अन्त में मैं पुनः आपसे यही कहूँगा—कि आप "जीओ और जीने दो" के अधूरे जीवन सिद्धान्त को छोड़कर "उठो और उठाओ" जैसे पूर्ण, सर्वग्राही और सर्वव्यापक सिद्धान्त को ग्रहण कर अपने विकास में से जुट जाइये। यह कीमती, अल्पकालिक और दुष्प्राप्य मानव-जीवन तभी सफल बनेगा जब आप आत्म-भय, आत्म-नियन्त्रण, आत्म-अनुशासन और संयम जैसे महत्त्वपूर्ण मानवीय आदर्शों को अपनाकर अपने विकास, सुधार, जागरण, उन्नयन और निर्माण में स्फूर्तिप्रद प्रेरणा ग्रहण करेंगे और दूसरों के लिये ऐसा ही स्फूर्तिप्रद प्रेरणात्मक पथ-प्रदर्शन करेंगे।

जोधपुर,
२ अगस्त, '५३

१०१ : छात्राएँ चरित्रशील हों

आज देश में विद्यालयों व महाविद्यालयों की कमी नहीं है मगर आज की शिक्षा-पद्धति उन विद्यालयों और महाविद्यालयों को सार्थक नहीं बना रही है। शिक्षा सिर्फ अक्षर-ज्ञान तक ही सीमित रह गई है। उन्हें जीवन-विकास की तनिक भी शिक्षा नहीं मिलती। फलतः वे उच्छृङ्खलता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। ऐसी हालत में छात्राओं को चारित्रिक विकास की शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है। साथ-साथ में शिक्षिकाएँ भी अपने जीवन को चरित्रशील और समुन्नत बनायें। उनके सुसंस्कारों से छात्र व छात्राएँ भी पथ-प्रदर्शन पा सकेंगी। बालपन के सुसंस्कार जीवन भर के लिए स्थायी होते हैं। अगर उनकी अच्छी तरह से सार-सम्भाल व शिक्षा हो तो वे अपना, समाज व राष्ट्र की बहुत कुछ भलाई कर सकती हैं।

जोधपुर,
४ अगस्त, '५३

१०२ : श्रावकों से

आजकल श्रावकों में आध्यात्मिक ज्ञान की बहुत कमी हो गई है। अगर कोई उनसे पूछे कि तुम्हारे धर्म की व्याख्या क्या है? परमात्मा क्या है? तो वे आचार्यश्री के पास चलने को कहेंगे। ऐसी स्थिति में उनका भी फर्ज है कि वे आध्यात्मिक ज्ञान का अध्ययन करें। युवक इसमें पीछे न रहकर अपनी मेधा का परिचय देंगे, ऐसी

आशा है। इसके लिए सरदारशहर में एक शिक्षण-शिविर की आयोजना भी की गई थी, जिसमें काफी भाई-बहनों ने आध्यात्मिक शिक्षा का लाभ लिया। इसी तरह से यहाँ भी अगर ऐसी आयोजना हो सके तो सम्भवतः बहुत से भाई-बहन तत्त्व-ज्ञान से लाभ उठा सकेंगे। यहाँ के भाई-बहन काफी शिक्षित भी हैं जिससे कि उनके लिए यह कार्य सहज सिद्ध होगा।

अणुव्रती संघ की योजना उनके सम्मुख है। इसका महत्त्व सबके सामने ही है। जो अणुव्रती बने हैं उनका जीवन कितना शान्तिप्रद व सन्तोषमय है यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। एक वर्ष का साधना-काल भी उनके सामने है, वे अपने जीवन को इस काल में तौल सकते हैं। आशा है, श्रावकगण मामूली विघ्न-बाधाओं को चीर कर अणुव्रती बन अपने आत्म-बल का यथेष्ट परिचय देंगे।

जोधपुर,
८ अगस्त, '५३

१०३ : स्वतन्त्रता में दुःख क्यों ?

समय का प्रवाह नियमित चलता है, यह सभीने देखा है। प्रकृति में ऐसा नियम है और प्रकृति-विजयी होने का गर्व करनेवाला मनुष्य नियम का अतिक्रमण करता चले, क्या उसके लिए यह शोभा की बात है? ऋषिवाणी में कहा है—"हाथ पर संयम करो, पैर पर संयम करो, वाणी पर संयम करो और इन्द्रियों पर संयम करो।" आखिर संयम क्यों? इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि यह दोष-निरोधक टीका है। रोग-निरोधक टीके लगाये जाते हैं इसलिए कि स्वस्थता बनी रहे, किन्तु दोष-निरोधक टीका लिए बिना स्वस्थता आयेगी कहाँ से? और टिकेगी कैसे? इसपर विचार कीजिए।

संयम से आत्मानुशासन पैदा होता है। आत्मानुशासन से स्वतन्त्रता का स्रोत निकलता है। उत्सव मनानेवालों को उसका सही रूप समझना चाहिए।

अपने पर नियन्त्रण न हो सके तब कैसी स्वतन्त्रता? 'स्वतन्त्रता में सुख है और परवशता में दुःख है' यह सत्य या तो सत्य नहीं है या इसका सही रूप पकड़ा नहीं जा रहा है। अवश्य कहीं भूल है। नहीं तो स्वतन्त्र होने के बाद इतना आर्त्त-स्वर क्यों सुनने को मिलता?

मैं समझता हूँ, भूल सिद्धान्त में नहीं; भूल उसे पकड़ने में हो रही है। स्वतन्त्रता अपना निजी गुण है। अन्याय के सामने न झुकनेवाले विदेशी सत्ता में भी

स्वतंत्र रह सकते हैं और अन्याय के प्रवर्तक स्वदेशी सत्ता में भी स्वतंत्र नहीं बनते। विदेशी सत्ता चली गई, वही अगर स्वतंत्रता होती तो आज सभी सुखी होते। बाहरी पदार्थों की यथेष्ट पूर्ति न होने पर भी दुःखी न बनते।

विदेशी सत्ता हटने पर आत्मानुशासन आना चाहिए था, वह आया नहीं। इसलिए सच्ची स्वतंत्रता नहीं आई। राजनीतिक स्वतंत्रता का छठा उत्सव मनाया जा रहा है। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए अनेक योजनाएँ चल रही हैं किन्तु अपनी स्वतंत्रता के लिए अन्याय और लड़ाइयों के विरुद्ध लड़ने के लिए, कठिनाइयों और परिस्थितियों को सहने के लिए जो स्वतंत्रता होनी चाहिए उसके बहुमुखी प्रयत्न कार्य-रूप में नहीं चल रहे हैं। सही अर्थ में स्वतंत्र बनना है तो मैं कहूँगा कि आज के दिन प्रत्येक भारतीय अणुव्रत के आदर्शों पर चलने के लिए प्रतिज्ञा ले।

भारत की भूमि, त्याग और तपस्या की सौवर्ण भूमि है। इसका सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव जो निष्प्राण-सा लग रहा है वह आज भी भारत की संतति से त्याग और तप की शक्ति चाह रहा है। मैं विश्वास करता हूँ कि लोग जीवन का सिंहावलोकन करेंगे।

जोधपुर,
१५ अगस्त, '५३

१०४ : अणुव्रत-आन्दोलन

लोगों में आई हुई अनैतिक वृत्तियाँ और असदाचारपूर्ण व्यवहार, जिससे आज का जन-जीवन नष्ट-भ्रष्ट और विध्वस्त हुआ जा रहा है, उससे मुक्त हो, जीवन में नैतिकता, सादगी और त्याग-भावना का संचार हो इसके लिए अणुव्रत आन्दोलन के रूप में एक आत्म-निर्माणात्मक कार्यक्रम जनता के समक्ष हमारी ओर से रखा गया है।

जोधपुर,
१८ अगस्त, '५३

१०५ : अति महत्त्वपूर्ण भाग

विद्यार्थी-जीवन मानव-जीवन का अति महत्त्वपूर्ण भाग है। यह वह समय है जब कि भावी-जीवन का निर्माण होता है। यह अति आवश्यक है कि इसका उपयोग अत्यन्त सावधानी एवं जागरूकता के साथ हो। विद्यार्जन का लक्ष्य जीविकोपार्जन ही नहीं है। उसका लक्ष्य है—जीवन का विकास, बंधन से मुक्ति, चारित्र्य का अभ्युदय।

यह कहते हुए खेद होता है कि आज के विद्यार्थी, शिक्षक व संचालक इस आदर्श को भूलते जा रहे हैं जिसका परिणाम है शिक्षा की दिन पर दिन प्रगतिशीलता के बावजूद लोगों का जीवन अशान्त, असन्तुष्ट और व्याकुल है। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि शिक्षाक्रम में आमूल परिवर्तन हो। नैतिकता और सदाचार का शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान हो। चारित्र्य के बिना विद्या भार है। विद्यार्थियों को मैं विशेष जोर देकर कहूँगा कि वे चारित्र्य अर्थात् अहिंसा, सत्य व ब्रह्मचर्य के आदर्शों पर अपने जीवन को ढालें। वे जीवन में एक परमपूषण प्रकाश का अनुभव करेंगे।

अध्यापक यह भूल न जाएँ कि आज के विद्यार्थी, भावी समाज व राष्ट्र के निर्माता हैं। अध्यापकों पर उनके जीवन-निर्माण की महत्त्वपूर्ण जिम्मेवारी है जिसे उन्हें निभाना है। राष्ट्र की बहुत बड़ी निधि उनके हाथों सौंपी गई है जिसको उन्हें विकसित और उन्नत बनाना है। यदि अध्यापकों का चरित्र स्वयं ऊँचा नहीं होगा तो विद्यार्थियों पर क्या असर होगा? इसीलिए उन्हें चाहिए कि वे स्वयं अपने जीवन को ऊँचा उठाते हुए विद्यार्थियों के जीवन-विकास के लिए जी-जान से जुट जाएँ।

जोधपुर,

१८ अगस्त, '५३

१०६ : कल्याण की अभिसिद्धि

संसार का प्रत्येक प्राणी सुखी बनने को लालायित है। मुक्ति का चाहे उसे आकर्षण हो या न हो किन्तु सुख का उसे अतर्क्य आकर्षण है। मेरे विचार से परम सुख पाना यानी जहाँ दुःख का अंश भी न हो, उसीका नाम कल्याण है। हमें यहाँ पर कल्याण की विवेचना नहीं करनी है। विवेचना तो करनी है कल्याण के साधनों की। साधनों के बिना सिद्धि की बात अधूरी है। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर दूँ कि जो लोग अच्छे साध्य के लिये अशुद्ध साधनों का प्रयोग करते हैं उनसे मेरा अभिमत बिल्कुल भिन्न है। मैं मानता हूँ, अच्छे साध्य के लिये साधन भी अच्छे हों तभी यह संभव है। अच्छे साधन होने पर ही सिद्धि सुन्दर, व्यापक और चिरस्थायी होगी। अतः कल्याण के साधनों की ओर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कल्याण के साधन क्या हैं? इस विषय में अपना दिमाग न लगाकर अपने पूर्वजों तथा ऋषि-महर्षियों की निःसृत वाणी को याद करें। उन्होंने अपनी महान् साधना के द्वारा मन्थन कर जो अमरतत्त्व निकाले हैं हमें उनका ही उपयोग करना चाहिए। उनकी महार्घ्य-संपत्ति अनुपयोगी नहीं है। उन्होंने कल्याण के साधनों की विवेचना करते हुए

तीन प्रकार की साधनाएँ बतलाई हैं—"तिविहा आराहणा पन्नत्ता—णाणा राहण, दंसणाराहणा, चरित्ता राहण"—यह प्राकृत भाषा है। थोड़े में इसका मतलब यही है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन रत्नों की आराधना से कल्याण की अभिसिद्धि होती है।

कल्याण का पहला साधन है—ज्ञान। भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है :

नहिं ज्ञानेन सदृशं—पवित्रमिह विद्यते।

अर्थात्—पवित्र से पवित्र और उत्तम से उत्तम ज्ञान के समान इस संसार में दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञान क्या है? साक्षरता को ही सिर्फ मैं ज्ञान नहीं मानता, वह तो ज्ञान का साधन मात्र है। ज्ञान तो वह है जिससे गुण-दोष की परख होती है, हेय उपादेय की भावना जागृत होती है, हिताहित का बोध होता है। इसके लिये आज की शिक्षा-प्रणाली अधूरी है। उसमें त्याग, चारित्र और आत्म-विकास जैसे मूलभूत तत्त्वों को स्थान नहीं दिया गया है। मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि जो ज्ञान आत्म-विकास का उज्ज्वल साधन था आजकल उसे तुच्छ आजीविका का साधन बना दिया गया है यानी पेट-पालन तो एक अज्ञानी, अशिक्षित भी कर सकता है। आजीविका के लिये ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं, उसकी आवश्यकता तो आत्म-विकास और चारित्र विकास के लिये है।

ज्ञान और विज्ञान में कोई बहुत अन्तर नहीं। विज्ञान ज्ञान से परे नहीं है। विशिष्ट ज्ञान यानी अन्वेषण व खोजपूर्ण जो प्रायोगिक ज्ञान होता है, वही विज्ञान है। आज विज्ञान का सर्वत्र बोलबाला है। यद्यपि वह बुरा नहीं है, किन्तु उसका दुरुपयोग बुरा है। यह विचारणीय है कि उसका उपयोग कैसा होना चाहिये? यदि आज उसका उपयोग विध्वंस के लिये किया जाता है तो यह असह्य है।

ज्ञान के विषय में भारत का पिछला इतिहास स्वर्णिम रहा है। ज्ञान की विशेषता के द्वारा वह अन्य सब देशों का गुरु माना जाता था। उस समय ज्ञान की कुञ्जी यहाँ के ऋषि-महर्षियों के हाथ में सुरक्षित रहती थी। वे बिना परीक्षा किये किसीको ज्ञान नहीं देते थे। जिसको वे ज्ञान का अधिकारी या योग्य समझते थे उसीको ज्ञान देते थे। इस विषय में जैन-इतिहास में वर्णित एक किस्सा बड़ा ही सुन्दर है।

आचार्य भद्रबाहु के समय की बात है। उनके शिष्य स्थूलिभद्र उनके पास ज्ञानार्जन कर रहे थे। उन्होंने क्रमशः १० पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। एक दिन वे चमत्कार दिखाने की भावना से नियम-निषिद्धज्ञान का प्रयोग कर बैठे। आचार्य भद्रबाहु को पता चलते ही उन्होंने तुरन्त आगे पढ़ाना स्थगित कर दिया। मुनि स्थूलिभद्र ने अपराध स्वीकार करते हुए पुनः आगे पढ़ाने के लिये उनसे विनम्र प्रार्थना की। आचार्य भद्रबाहु ने

उन्हें अयोग्य पात्र बतलाकर आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया। इस ऐतिहासिक किस्से से यही सिद्ध होता है कि हमारे ज्ञान के केन्द्र पूर्वज ऋषि-महर्षि योग्य पात्र को ही ज्ञान देते थे। उस समय एक दूसरी विशेषता यह भी थी कि ज्ञान का कोई विक्रय नहीं होता था। ऐसी सरकारी व सामाजिक परम्पराएँ थीं जिससे कि पढ़ानेवाले को अपनी आजीविका की कोई चिन्ता नहीं होती थी। आज ज्ञान का खुले आम विक्रय हो रहा है। मैं मानता हूँ—इसके कई कारण हैं, मैं उनसे अपरिचित नहीं हूँ; किन्तु इससे यह प्रवृत्ति उचित तो नहीं मानी जा सकती।

ज्ञान का प्रयोग आज सही रूप में नहीं हो रहा है। शास्त्रों में कहा गया है:

किं ताए पडिआए पयकोडिवि पलाल भूयाए।
जह इत्तोवि न जाणं परस्स पीडा न कायव्वा॥

कोटि-कोटि पदो का वह ज्ञान निस्सार है, जिससे कि इतना भी नहीं पहचाना जा सकता कि औरों को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये। इसलिये वही ज्ञान ज्ञान है जिससे जीवन विकसित, शुद्ध और उन्नत होता है। जिस ज्ञान से यह नहीं होता वह ज्ञान ज्ञान नहीं, अज्ञान है। इसलिये ज्ञान का प्रयोग आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के लिये होना चाहिए।

आज के युग में दार्शनिक ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक है। संसार में आज पौर्वात्य दर्शन और पाश्चात्य दर्शन, ये दो धाराएँ विद्यमान हैं। आज जितना पौर्वात्य दर्शन का प्रचार नहीं उतना पाश्चात्य-दर्शन का हो रहा है। लोग पाश्चात्य-दर्शन के सामने भारतीय-दर्शन को कम प्रामाणिकता देने लगे हैं। यह अनुचित हो रहा है। पौर्वात्य-दर्शन का केन्द्र प्रारम्भ से ही भारत रहा है और आज भी वही है। यहां प्रमुखतः वैदिक, बौद्ध और जैन ये तीन दर्शन ही मुख्य रहे हैं। बौद्ध-दर्शन तो भारत से लुप्तप्राय हो गया था किंतु आजकल उसका पुनः उन्नयन हो रहा है। वैदिक दर्शन आदिकाल से यहाँ रहा और आज भी विद्यमान है। जैन-दर्शन अपनी लड़खड़ाती अवस्था में भी अपनी विशेषताओं के कारण यहाँ टिका रहा और आज भी वह अपनी प्राचीन विशुद्ध विचारधारा को लिये चल रहा है।

आज मैं इन तीन दर्शनों में से जैन-दर्शन पर ही कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ। इसका कारण यह है कि सम्भवतः जैन-दर्शन के विषय में आपकी जानकारी कम है। वह आज की भाषा में उपलब्ध नहीं है। एक कारण यह भी है कि इसके विषय में लोगों की रुचि भी कम है। न जाने किस महामना ने "हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्" इस प्रकार के अरुचिकर पद्य रचे। वे पद्य जैन-दर्शन के प्रति लोगों की अरुचि को भड़काते रहे। लोग दूर रहे। जैन-दर्शन की अमूल्य सम्पत्ति

से वे सर्वथा अपरिचित रहे। आज लोगों में जैन-दर्शन के प्रति निःसन्देह जिज्ञासा है। पश्चिमी भाषाओं में जैन-दर्शन की अनेक टीकायें भी प्रकाशित हुई हैं। आज के वैज्ञानिक भी जैन-दर्शन का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते हैं। उसमें एक नई सूझ और नई जागृति पाते हैं।

जैन-दर्शन क्या है? जैन-दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। दूसरे शब्दों में वह निवृत्ति प्रधान दर्शन है। 'जिन' से जैन शब्द बनता है। 'जिन' का मतलब है—आत्म विजेता, वीतराग। 'जयतीति जिनः'—जो आत्म-विजयी है, वह जिन है। "जिनो देवता यस्य स जैनः' जिन जिनके देवता हैं, जो जिन के प्रवचनों के अनुसार चलते हैं, वे जैन हैं। जैन-धर्म वीतरागों का धर्म है। वीतराग उसके प्रवर्तक हैं। उन्होंने अपने प्रवचनों में जिन अमूल्य तत्त्वों की पूँजी हमें दी है, वह संसार में सदा अमर रहेगी।

जैन-दर्शन ने मुख्यतः विचार और आचार इन दो पहलुओं पर बल दिया है। जहाँ विचारात्मक पहलू का प्रसङ्ग आता है वहाँ जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि का तत्त्व दिया है। अनेकान्त दृष्टि सब प्रकार के विरोधों की गुत्थियाँ सुलझानेवाली एक महान् दृष्टि है। उसका कहना है कि किसी भी पदार्थ को एकान्त दृष्टिकोण से मत देखो। एकान्त दृष्टि आग्रह की जननी है। आग्रही व्यक्ति तत्त्व को समग्र रूप से समझ नहीं सकता। इसलिये किसी भी तत्त्व को समझने के लिये अनेक दृष्टियों का प्रयोग करो। एक वस्तु के अनेक पहलू हो सकते हैं। उदाहरणतः मँझले पुत्र से कोई पूछे—'तुम छोटे हो या बड़े,'। वह क्या कहे? असमंजस में पड़ जाता है। छोटा कैसे कहे? जब कि उसे छोटा भाई भी है। और बड़ा भी कैसे कहे? जब कि बड़ा भाई भी विद्यमान है। यकायक उसे एक रास्ता दीखा और उसने चट कह दिया—'जनाब! मैं छोटा भी हूँ और बड़ा भी हूँ।' पूछनेवाला इस नई सूझ से चकित हुये बिना न रहेगा। एकाङ्गी दृष्टि से काम नहीं चल सकता। अपेक्षा-दृष्टि ही व्यक्ति को सही रास्ता दिखला सकती है। यह सिद्धान्त संसारवर्ती छोटे-बड़े सभी तत्त्वों पर लागू होता है। प्रश्न उठते हैं—संसार सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त? इसपर कोई दर्शन सादि-सान्त कहेगा और कोई अनादि-अनन्त। किन्तु जैन-दर्शन अनेकान्त दृष्टि की महान् सूझ के कारण संसार को सादि-सान्त और अनादि-अनन्त दोनों बतायेगा। क्योंकि अपेक्षावाद के अनुसार जगत् न नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है। चूंकि संसार-चक्र सदा चलता रहता है, उसके पदार्थत्व की अपेक्षा वह अनादि-अनन्त है और उसकी अवस्थाओं में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है अतएव वह सादि-सान्त है। इस प्रकार यह नियम सब तत्त्वों पर लागू होता है। अनाग्रह बुद्धि से खोजने पर ही वस्तु-तत्त्व मिलता है। आचार्यों ने कहा है :

एकेनाकर्षन्ति श्लथयन्ति वस्तु तत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीति मंथाननेत्रमिव गोपी॥

अर्थात्—गोपी दही से मक्खन निकालती है। मन्थन करते समय उसका एक हाथ पीछे और एक हाथ आगे रहता है। वह सोचे—हाथों को आगे-पीछे करने से क्या है? आगे-पीछे नहीं करूंगी, ऐसे ही मक्खन निकाल लूंगी। क्या वह इस प्रकार अपने दोनों हाथों को एक साथ कर मक्खन निकाल सकती है? उत्तर होगा—नहीं। यही नियम तत्त्वों पर लागू होता है। तत्त्वों का सार हम तभी निकाल सकेंगे, जबकि हम एक ही तत्त्व का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से परीक्षण करेंगे। इस विषय को समझने के लिये अनेक दार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनका गम्भीर अध्ययन इस महान् अपेक्षा दृष्टि—स्याद्वाद को समझने में अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है।

मैं यहाँ यह भी बता दूँ कि स्याद्वाद सन्दिग्धवाद या संशयवाद नहीं है। अनेक जैनेतर विद्वानों ने इसको सही रूप में न समझने के कारण बड़ा अनर्थ किया है। स्यात् का मतलब कथंचित् यानी किसी दृष्टि से है। उसका सन्देह या संशय अर्थ करना तत्त्व का गला घोंटने के समान है।

स्याद्वाद की महान् शक्ति द्वारा संसार भर के सारे झगड़ों को समाप्त कर सही रूप में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। स्याद्वाद समन्वय का ही पथ-प्रदर्शक है। उदाहरणतः 'एकोऽहं, द्वितीय नास्ति' इसका जैन-दर्शन के साथ अच्छी तरह से समन्वय किया जा सकता है। सामान्य यानी जाति की अपेक्षा सब मनुष्यों में एक ही स्वरूप वाली आत्मा विद्यमान है, इस दृष्टि से यानी जाति की अपेक्षा संसार को एकात्मक ग्रहण किया जा सकता है। जैसे हम कहते हैं—'अमुक देश का किसान बड़ा सुखी है', यहाँ 'किसान' शब्द जातिवाचक है। अतः किसी व्यक्ति विशेष का ग्रहण न होकर इस शब्द से उस देश के सारे किसानों का ग्रहण हो जाता है। इसके विपरीत जहाँ व्यक्तिवादी दृष्टि का सवाल आता है वहाँ व्यक्तिशः प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न होने के कारण सब अलग-अलग हैं और तब उस अवस्था में व्यक्ति की अपेक्षा संसार को अनेकान्तात्मक भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार अन्यान्य विषयों में भी अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग कर हम समन्वय की गति को बहुत आगे बढ़ा सकते हैं।

जहाँ आचारात्मक पहलू का प्रसंग आता है वहाँ जैन दार्शनिकों ने अहिंसा की दृष्टि दी है। मैंने पहले ही कहा है—आचार यानी अहिंसा के अभाव में कोटि-कोटि पद्यों का ज्ञान होने पर भी जीवन शून्य और बेकार है। अहिंसा की दृष्टि भगवान् महावीर ने दी है। वैसे औरों ने भी अहिंसा का प्रतिपादन किया है किन्तु वे अहिंसा के उतने तह में नहीं घुसे जितना कि भगवान् महावीर घुसे हैं। अहिंसा से मनुष्य कायर बनते

हैं, भीरू बनते हैं, अहिंसा ने वीरत्व का सर्वनाश कर डाला,—यह निरा भ्रम है। अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म है। अहिंसा वीरत्व की जननी है। कायर पुरुष को अहिंसा के द्वार खटखटाने तक का अधिकार नहीं। अहिंसा-शस्त्र की सुरक्षा में बिना रक्तपात किये भारत जैसा विशाल देश स्वतन्त्र हो जाता है फिर भी कोई कह सकता है कि अहिंसा कायरता और भीरुता की जननी है ?

अहिंसा क्या है ? मन, वाणी और कर्म इन तीनों को विशुद्ध रखना, पवित्र रखना, कलुषित व अपवित्र न होने देना ही अहिंसा है। थोड़े में जहां हिंसा नहीं, वहीं अहिंसा है। हिंसा से यह अभिप्राय नहीं कि केवल प्राण-वियोजन करना, किन्तु अपनी दुष्प्रवृत्ति पूर्वक प्राण-वियोजन करने से है। जितनी बुरी, कलुषित, राग-द्वेष और स्वार्थमयी प्रवृत्ति है, वह हिंसा है। हिंसा को त्यागने का और अहिंसा को अपनाने का मुख्य उद्देश्य अपना आत्म-कल्याण है। हिंसा करनेवाला किसी दूसरे का अहित नहीं करता बल्कि अपनी आत्मा का ही अहित करता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा के दो विभाग बताये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। 'अर्थैव वा मरणमस्तु युगान्तरेवा' के सिद्धान्त को अपनाकर जो मुमुक्षु चलनेवाले हैं उनके लिये मात्र हिंसा वर्जनीय है। इस चोटी की अहिंसा तक विरले ही पहुँच पाते हैं। अतएव हिंसा को तीन विभागों में विभक्त किया गया है - आरम्भजा, विरोधजा और संकल्पजा। व्यापार, कृषि आदि जीवन की आवश्यक क्रियाओं में जो हिंसा होती है, वह आरम्भजा है। इसका त्याग सामाजिक प्राणी के लिये अति कठिन है। समाज या राष्ट्र की रक्षा के लिये आक्रमणकारियों के साथ लड़ाई की जाती है वह विरोधजा हिंसा कहलाती है। साधारण गृहस्थ के लिये इसका परित्याग भी अत्यन्त दुष्कर है। तीसरी हिंसा है संकल्पजा। इसका मतलब है निरपराध प्राणी पर इरादेपूर्वक आक्रमण करना। इसी हिंसा के कारण बड़े-बड़े नृशंस हत्याकाण्ड हुये हैं। जातिवाद और साम्प्रदायिकता इसी हिंसा के कारण पनपे हैं और पनपते रहते हैं। संकल्पपूर्वक हिंसा करनेवाला मानव—मानव नहीं, पशु है। कम से कम इस तीसरी हिंसा से तो मानवमात्र को अवश्य ही बचना चाहिये। इस प्रकार जैन-दर्शन के आचार और विचार, इन दो सारगर्भित सिद्धान्तों का जितना चिन्तन, मनन और अनुशीलन किया जाता है उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होता है। विचार और आचार के इतने विवेचन का मतलब यही है कि मनुष्य जहां विचार का निर्णय करना चाहे वहाँ स्याद्वाद—अनेकान्तवाद का अनुसरण करे और जहाँ आचार का निर्णय करना चाहे वहाँ अहिंसा का आश्रय ले।

मैं एक बात यहाँ पर और स्पष्ट कर दूँ कि अहिंसा का बलात्कार और प्रलोभन से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ पैसे देकर या डण्डे के बल पर आकांक्षा को पूरा किया जा सकता है किन्तु उसका हृदय-परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जब हृदय परिवर्तन

ही नहीं तब अहिंसा हो ही कैसे सकती है ? यह दूसरी बात है कि सामाजिक प्राणियों में किसी को बचाने के लिये ये तरीके काम में लिये जाते हैं किन्तु उनके काम में लिये जाने मात्र से वे अहिंसात्मक तरीके तो नहीं कहला सकते। वास्तव में शिक्षा और उपदेश के द्वारा ही हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है और जहाँ हृदय-परिवर्तन है, वहीं अहिंसा है।

जैन-धर्म में जातिवाद को लेकर कोई समस्या नहीं है। धर्म की व्याख्या ही उसने यही की है कि :

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया जाति-पांति का भेद मिटाया।
निर्धन-धनिक न अन्तर पाया जिसने धारा जन्म सुधारा॥

धर्म व्यक्तिनिष्ठ है, समष्टिगत नहीं। वह सबका है। वह उसका ही है जो उसकी आराधना करे। धर्म की मर्यादा में जाति, रंग, देश, अस्पृश्य आदि का कोई भी भेद-भाव नहीं हो सकता। मुझे खुशी होती है जब मैं ऐसा विचार करता हूँ कि मैं धर्म को हर व्यक्ति, हर जाति और हर देश में फैलाऊँ। जैनी लोग यह न समझ लें कि जैन-धर्म तो हमारा ही है। जैन-धर्म वीतरागों का धर्म है। उसका किसी एक जाति विशेष से सम्बन्ध हो नहीं सकता। वह प्राणी-मात्र का है और प्राणी-मात्र उसका अधिकारी है।

जैन धर्म की एक और विशेषता है, वह है, नकारात्मक दृष्टिकोण। यद्यपि जैन-दार्शनिकों ने विधानात्मक दृष्टिकोण को भी अपनाया है किन्तु अधिक बल नकारात्मक दृष्टिकोण पर ही दिया है। इसमें रहस्य है। जितना नकारात्मक दृष्टिकोण व्यापक है उतना विधानात्मक नहीं। जैसे 'मत मारो' यह सर्वथा निर्दोष, सफल और व्यापक है। 'बचाओ' यह अपने आपमें सन्दिग्ध है। 'बचाओ' कहते ही प्रश्न होगा—किसको और कैसे बचाया जाय ? डरा-धमकाकर किसी को बचाने में पारस्परिक संघर्ष होना सम्भावित है। ऐसी अवस्था में 'बचाओ' दोषमुक्त और सफल नहीं कहा जा सकता। संयुक्तराष्ट्र कोरिया को बचाने के लिये कोरिया में प्रविष्ट हुआ, उसका भयंकर परिणाम सबके सामने ही है। इसी प्रकार 'झूठ मत बोलो'—इसमें कोई बाधा नहीं आती किन्तु 'सत्य बोलो' इसमें बाधा आती है। कहा भी है : 'सत्यं ब्रूयात, प्रियं ब्रूयात मा ब्रूयात सत्यम प्रियं'—सत्य बोलो किन्तु वैसा सत्य नहीं जो अहितकर हो। एक शिकारी के पूछने पर उसको मृग के जाने का मार्ग बताना सत्य होते हुये भी अहितकर और विनाशक है। इसलिये नकारात्मक दृष्टिकोण जितना सफल हो सकता है उतना विधानात्मक नहीं। यह समझना गलत होगा कि जैन-धर्म में विधानात्मक दृष्टिकोण को स्थान ही नहीं है। जैन-धर्म में विधानात्मक दृष्टिकोण पर भी बल दिया गया है जैसे—मैत्री करो, बन्धुता रखो। अस्तु।

आराधना का दूसरा भेद बतलाया गया है—दर्शन-आराधना। जिसको हम दूसरे शब्दों में श्रद्धा भी कह सकते हैं। श्रद्धा का मतलब है सच्चा विश्वास—आत्म-विश्वास। आज आत्म-विश्वास की कमी हो रही है। यह क्यों? आत्म-विश्वास के अभाव में क्या मानव आगे बढ़ सकता है? क्या सफलता पा सकता है? इसलिये आत्म-विश्वास का होना अत्यावश्यक है।

तीसरा भेद बतलाया गया है—चरित्र-आराधना। चरित्र का सबसे अधिक महत्व है। आज जगह-जगह चरित्र-सुधार की बड़ी-बड़ी बातें होती हैं। हँसी आती है, जब चरित्रहीन व्यक्ति भी चरित्र का उपदेश देने लगते हैं। उन्हें सबसे पहले अपने जीवन को सुधारना चाहिये, अपने आपको सुधारना चाहिये। जब मैं कुछ लोगों को, अपने सुधार को ताक पर रख कर औरों की बातें करते सुनता हूँ तो मेरे आगे महाराज श्रेणिक और महामुनि अनाथी का किस्सा नाचने लगता है। उद्यान में मगध-सम्राट् महाराज बिम्बसार की दृष्टि मुनि अनाथी के दिव्य रूप पर पड़ते ही वे उनकी ओर लोह-चुम्बक की तरह आकर्षित हो उठे। उन्होंने मुनिराज के निकट जाकर कहा—"मुने! मैं जानना चाहता हूँ, आपने इस भरी जवानी में दीक्षा क्यों ग्रहण की?" मुनिराज ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"राजन्! मैं अनाथ था इसलिये मैंने दीक्षा-ग्रहण की है।" महाराज की खुशी का कोई पार नहीं रहा—उन्होंने तपाक से कहा—"अच्छा! यह बात है तो आप मेरे साथ चलिये, मैं नाथ बनता हूँ। मेरे राज्य में किसी बात की कमी नहीं है। आपको सभी प्रकार की सुख-सुविधायें प्राप्त होंगी।" मुनिराज मुस्कराये। उन्होंने सस्मित कहा—"राजन्! तुम स्वयं अनाथ हो। तुम दूसरों के क्या नाथ बनोगे?" महाराज की सारी खुशी उड़ गई। उन्होंने कठोरतापूर्वक कहा—"मुनिवर! आप सत्य-भाषी हैं, आपको असत्य नहीं बोलना चाहिये? आप जानते नहीं, मैं एक प्रभूत ऐश्वर्य-सम्पन्न साम्राज्य का नाथ हूँ, मुझे अनाथ बताते आपको मिथ्या-दोष नहीं लगता?" मुनिराज ने इस आक्षेप का उत्तर देते हुये कहा—"राजन्! आप अनाथ और सनाथ का भेद नहीं जानते इसीलिये आप मेरे कथन को मिथ्या समझ रहे हैं।" यह कहकर मुनिराज ने राजा श्रेणिक के अन्तरंग नेत्रों पर चोट करते हुये कहा—"राजन! आपको मालूम नहीं, आपके भीतर काम, मद, लोभादि कितने दुर्धर्ष और दुर्जय शत्रु छिपे बैठे हैं। आप उनको देखते तक नहीं। असली शत्रु तो वे ही हैं। उन्हें जो पराजित नहीं कर सकता वह नाथ कैसा? वह तो स्वयं ही अनाथ है।" महाराज श्रेणिक मुनिराज के चरणों पर नतमस्तक हो गये। उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया—"महामुने! मैं अनाथ हूँ, लाखों-करोड़ों मनुष्यों का नाथ होते हुये भी मैं वास्तव में अनाथ ही हूँ।" यही बात आज के लिये है। चरित्रहीनों के मुँह से चरित्र की बात शोभा नहीं देती।

जिस देश का सन्देश विश्व भर में गूंजता था, जिसके लिये यहाँ तक कहा गया

था कि "एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः" ॥ अर्थात्—संसार भर के सारे लोग यहाँ पर पैदा हुये आर्यों से चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें। खेद! आज उसी देश को चरित्र की शिक्षा देने के लिये बाहर से 'डेलीगेट्स' आते हैं। चरित्र के उत्थान के लिये इधर में कई अहिंसात्मक क्रान्तियाँ हुईं। अणुव्रती संघ भी इसी ओर संकेत करता है। उसमें एकमात्र चरित्र की शिक्षा है। 'जीवन को कैसे उठाया जाये' इसकी सूची है। मूल अणुव्रत पांच हैं और उनका ही विस्तार कर ८४ नियम बनाये गये हैं। व्यापारियों के लिये एक ही नियम है—वे चोर बाजारी न करें। राज्य-कर्मचारियों के लिये और शिक्षकों के लिये भी एक ही नियम है कि वे रिश्वत न लें। इसी प्रकार चिकित्सकों के लिये भी एक ही नियम है कि वे पैसा कमाने की दृष्टि से रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय न लगायें। ये नियम किसके लिये आवश्यक नहीं हैं? धार्मिकता जाने दीजिये, कम से कम मानवता और नागरिकता के नाते ही आप इन्हें अपनाइये। इससे आपका भला होगा, आपके समाज का भला होगा और आपके देश का भला होगा। उपस्थित शिक्षक लोगों से तो मैं जोर देकर कहूँगा आप अणुव्रती संघ के नियमों को अपने जीवन में उतारें। आपके ऐसे करने से दो बातों का लाभ होगा। एक तो अपना सुधार और दूसरे में आप के संपर्क में आनेवाले छात्र और छात्राओं का सुधार। जबतक आप अपने सुधार को मुख्य रूप नहीं देंगे तबतक आपकी सुधारभरी शिक्षाओं का छात्र-छात्राओं पर कोई असर नहीं पड़ेगा। इसलिये पहला सुधार, अपना सुधार हो यानी व्यक्ति-सुधार हो। आज समाज और राष्ट्र-सुधार की लम्बी-लम्बी आवाजों से कहीं अधिक यह आवश्यक है। समाज और राष्ट्र व्यक्तियों से ही तो बनते हैं तब व्यक्ति-सुधार होने से समाज और राष्ट्र का सुधार तो अपने आप ही हो जायेगा। व्यक्ति-सुधार ही सब सुधारों का केन्द्र है।

अन्त में मैं इन्हीं शब्दों के साथ आज का वक्तव्य समाप्त करता हूँ कि यदि आप व्यक्ति-सुधार के दृष्टिकोण को अपनाकर जीवन में कल्याण और जागृति का पावन-पुनीत प्रकाश फैलानेवाली ज्ञान, दर्शन और चरित्रात्मक-त्रिवेणी की आराधना करेंगे तो निःसंदेह शिक्षक-समाज वास्तव में शिक्षक-समाज बनकर अपने हाथों में आई हुई देश की सर्वतोमहान् सम्पत्ति को सुरक्षित रखते हुए उसे अधिक से अधिक विकसित कर अपना और दूसरों का सही अर्थ में भला कर सकेंगे।

जोधपुर,
२२ अगस्त, '५३

१०७ : मूर्त उपदेश

शिक्षक समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उनपर समाज व राष्ट्र की भारी जिम्मेवारी है। वे समाज व राष्ट्र के भावी निर्माता एवं स्रष्टा हैं। उनका जीवन जितना ऊँचा, जितना संयत, जितना सात्विक और नैतिक होगा उतना ही अपने कार्यों के लिए वे उपयुक्त बनेंगे। सीख देनेवाले की वाणी उनका प्रतीक नहीं, प्रतीक है उनका अपना जीवन तथा अपना आचरण। वे स्वयं आचरणशून्य होकर दूसरों को सिखाने के लिए कैसी ही लच्छेदार भाषा में कितनी ही ऊँची-ऊँची बातें क्यों न कहें, उसका कुछ असर होने का नहीं। उसका असर तभी होगा, यदि उन्होंने अपना जीवन उस साँचे में ढाला हो। इसीलिए मैं सदा जोर देकर कहता रहता हूँ कि सुधार की लम्बी-लम्बी बातें बनाने से कुछ बनने का नहीं यदि आपने अपने जीवन को न सुधारा है। इसलिए समाज व राष्ट्र के सुधार की बड़ी-बड़ी बातों को थोड़ी देर के लिए दूर रख सबसे पहले अपने आपको सुधारने, ज्ञान, सत्य, निष्ठा व चारित्र को जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। ऐसा होने से उनका जीवन एक मूर्त उपदेश बन सकेगा। जिसने अपने को न सुधारा वह दूसरों को क्या सुधार सकता है?

शिक्षकों का मार्ग त्याग, बलिदान व साधना का मार्ग है। उन्हें स्वार्थपरता छोड़, परमार्थ-पथ पर आना चाहिए, तभी वे शिक्षा के उच्चतम आदर्श के अनुकूल बन सकेंगे।

जोधपुर,
२१ अगस्त, '५३

१०८ : साधना का जीवन

विद्यार्थी समाज और देश के भावी कर्णधार हैं। आज मैं उनके बीच अपना धार्मिक सन्देश दे रहा हूँ। बुजुर्गों-बुड्ढों से इतनी आशा नहीं जितनी कि उनसे है। वे आशा के केन्द्रविन्दु हैं। मुझे इनके बीच अपना सन्देश देते हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

आप जानते हैं—यह विद्यालय है। विद्यालय का मतलब उस स्थान से है जहां ज्ञानार्जन होता हो। ज्ञान का जीवन में सर्वप्रमुख स्थान है। शास्त्रों में बताया गया है:

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा नाहि सेय पावगं॥

जीवन-विकास का सर्वप्रमुख साधन ज्ञान है और फिर क्रिया। इसी उज्ज्वल क्रम पर समस्त साधक-वर्ग टिका हुआ है। जो अज्ञानी होगा, वह क्या समझेगा—क्या

श्रेय होता है और क्या अश्रेय ? क्या विकास होता है और क्या पतन ? इसलिए जीवन को विकसित करने के लिए ज्ञान की सबसे अधिक आवश्यकता है। ज्ञान ही जीवन है, ज्ञान ही सार है, ज्ञान ही तत्त्व है और ज्ञान ही आत्म-निर्माण तथा आत्म-विकास का मुख्य साधन है।

आजकल जो ज्ञान स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में दिया जा रहा है, जो जो शिक्षा-पद्धति प्रस्तुत है, मुझे क्या आजके बड़े-बड़े नेताओं और विशिष्ट विचारकों को भी उससे सन्तोष नहीं है। आपलोगों की आज यही आवाज है कि हमारी शिक्षा-पद्धति सर्वाङ्ग सुन्दर नहीं है। जिससे संस्कार शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत न बने, जीवन संस्कारित न हो, उस शिक्षा-प्रणाली को सर्वाङ्ग सुन्दर कहा भी कैसे जा सकता है। जबतक संस्कार शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत बनाने की शिक्षा-पद्धति में कोई प्रयास नहीं किया जायेगा तबतक देश की सर्वाङ्गीण उन्नति होना असम्भव है। इसके साथ-साथ आजकल ज्ञानार्जन का तरीका भी सुन्दर नहीं है। यह सब आज की अधूरी शिक्षा-प्रणाली का ही दोष है। प्रणालीगत दोष किसी एक संस्था विशेष का नहीं वह तो समस्त देशव्यापक संस्थाओं का ही है—किसी एक स्थान विशेष से इस दोष को दूर करना सम्भव नहीं। समस्त शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने से ही इस दोष को दूर किया जा सकता है।

ज्ञान जीवन की मूलभूत पूँजी है। उसके अभाव में मनुष्य अपने आपको खो बैठता है। आजकल भौतिक ज्ञान जरूर अभिमत है। दिलचस्पी के साथ उसका अर्जन किया जाता है। किन्तु मौलिक आध्यात्मनिष्ठ ज्ञान की ओर कोई आकर्षण नहीं। यह सोचना तक इष्ट नहीं कि मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? मैं बौद्ध धर्म की मान्यतानुसार अस्थायी—क्षणिक हूँ या वैदिक धर्म की मान्यतानुसार अछेद्य, अभेद्य, अक्लेद्य, सनातन-स्वरूपवाला स्थायी ? मरने के बाद भी जिन्दा रहूँगा या नहीं ? आज इन जीवन-विकासी शिक्षाओं का सर्वथा अभाव या अनुभव हो रहा है। जबतक इस प्रकार की मौलिक शिक्षा नहीं दी जायगी तबतक जीवन का संस्कारित होना बहुत मुश्किल है। इसके साथ साथ यह भी सही है कि जबतक जीवन संस्कारयुत नहीं होगा, तब तक ज्ञानार्जन का प्रयास भी सफल नहीं होगा।

आज ज्ञान का उद्देश्य गलत हो रहा है। पुराने जमाने में लोग अपने विकास के लिये और स्वयं को पहिचानने के लिये ज्ञानार्जन किया करते थे। आजीविका और भरण-पोषण जैसी तुच्छ क्रियाओं के लिये वे ज्ञानार्जन नहीं करते थे। पुराने जमाने में राजा, महाराजा और सम्राट तक ज्ञानाभ्यास करते थे। पर किसलिये ? आजीविका के लिये ? नहीं, आजीविका का उनके सामने कोई सवाल ही नहीं था। वे तो मात्र विद्वान बनने के लिये या दूसरे शब्दों में कहें तो अपना विकास और अपना उत्थान

करने के लिये ज्ञानाभ्यास करते थे। महाराज कृष्ण, गौतम बुद्ध और भगवान् महावीर आदि बड़े २ राजा और महापुरुष बाल्यावस्था में ज्ञानाभ्यास के लिये गुरुकुलों में भेजे गये थे। उनके ज्ञानाभ्यास का एक उद्देश्य था कि वे अपने आपको समझें, विवेक को जाग्रत करें, हेय—उपादेय के तत्त्व को हृदयंगम करें और जो बातें जीवन को अमर्यादित, और रसातल में पहुँचाने वाली हैं उनसे सदा बचते रहें। जबतक ज्ञानार्जन का यह उद्देश्य नहीं बनेगा तबतक विद्यार्थीगण उन्नति और उत्थान कैसे कर सकेंगे? मैं कहूंगा—अध्यापक-वर्ग विद्यार्थियों को ज्ञान का मूलभूत उद्देश्य समझाएँ।

यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि आज देश में अनेक विद्या केन्द्र होते हुये भी लोगों की शिक्षा-पिपासा शान्त नहीं है। प्रतिवर्ष सहस्रों विद्यार्थी बड़ी-बड़ी डिग्रियां प्राप्त कर शिक्षण-संस्थाओं से बाहर निकलते हैं। प्रतिवर्ष अनेक शिक्षण संस्थाओं का नवनिर्माण होता है फिर भी चारों ओर से यही आवाज आ रही है कि आज देश का पतन हो रहा है, नैतिकता का गला घोंटा जा रहा है—यह क्या है? क्या यह गलत है? गलत हो कैसे सकता है? जबकि यह आवाज एक या दो की नहीं, सभी की है। वास्तव में इस आवाज को आज गलत नहीं बतायी जा सकती। यह क्यों? जो ज्ञानजीवन को बनानेवाला है, यदि उससे जीवन नहीं बनता है तो फिर वह ज्ञान कहां रहा? आज तो यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान के पीछे एक 'वि' और लग गया है, इसलिये आज ज्ञान साधारण न रहकर विशिष्ट बन गया है। वह है विज्ञान। आज विज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है। फिर भी क्या कारण है जीवन पंगु और कुंठित बना हुआ है? अवश्य कहीं आज के ज्ञान में त्रुटि है, उसमें कुछ न कुछ कमी है।

विचार करने पर यह पता चलता है कि ज्ञान के साथ जो दूसरी वस्तु चाहिये, उसका पूर्ण अभाव है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि ज्ञान सीखना नहीं चाहिये, वरन् यह कि अन्न खाना तभी कार्यकर होता है जबकि पास में पीने के लिये जल भी विद्यमान हो। जल के अभाव में अन्न खाना अत्यन्त हानिकारक और अनुतापकारक होता है। हाँ, अन्न यदि चार दिन न भी खायें तो काम चल सकता है किन्तु जल के अभाव में केवल अन्न से एक दिन भी गुजारना मुश्किल है। यही मैं कहना चाहता हूँ कि आज विद्या की कोई कमी नहीं है किन्तु अन्न के साथ जल की तरह जो दूसरी वस्तु चाहिये उसका अभाव है। आप विचार कर देखिये—आज जितनी ही विद्या की प्रगति हुई है उतनी ही चारित्र की अवनति। और चारित्र-अवनति के कारण ही आज प्रत्येक क्षेत्र में समस्याओं, बाधाओं और उलझनों की भरमार है। इसलिये ज्ञान के चारित्र का होना परमआवश्यक है। तभी ज्ञान का उपयोग सदुपयोग कहलायेगा। अन्यथा बिना चारित्र का ज्ञान किसी काम का नहीं। उससे समस्यायें सुलझेंगी

नहीं बल्कि और अधिक खड़ी होगी। ज्ञान और सदाचार परस्पर एक दूसरे के पोषक हैं। इस दृष्टिकोण पर सभी ध्यानपूर्वक विचारें।

आप जानते हैं और आपने सम्भवतः सुना भी होगा कि राजा रावण कितना बड़ा पण्डित था। उसके पास ज्ञान की कोई कमी नहीं थी। किन्तु जब वह दुश्चरित्र बन गया तब उसे राम और लक्ष्मण के हाथों कुत्ते की मौत मरना पड़ा। विद्यार्थी लोग समझें, आचार-भ्रष्ट रावण के किस्से से यह सबक लें कि आचारशून्य विद्या, विद्वता किसी काम की नहीं। जीवन आचारपूर्ण होना चाहिये। आचारी जीवन में यदि विद्या की कमी है भी तो क्षम्य है। बुजुर्गों का उदाहरण लें, उन वृद्ध माताओं का उदाहरण लें जो अधिक कुछ जानती थीं, फिर भी उनका चारित्रिक वातावरण इतना व्यापक और मजबूत था जिसके कारण उनके सक्रिय जीवन का उनकी सन्तानों पर वास्तविक प्रतिबिम्ब पड़ता था। मैं आज के माता-पिता और अध्यापकों पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं करता और न मैं उन्हें हतोत्साह ही करना चाहता हूँ। सिर्फ मैं तो यही बताना चाहता हूँ—गाड़ी एक चक्के से नहीं चला करती, दो चक्केवाली गाड़ी ही अपने अभीष्ट-स्थान पर पहुँच सकती है। इसलिये विद्यार्थियों में ज्ञान और चारित्र दोनों की ही आवश्यकता है। ये दो तत्त्व मिलकर ही जीवन को विकसित, सफल और संस्कारयुत् बना सकते हैं।

चारित्र से यही मतलब है कि सवेरे से लेकर रात को लेटने तक आपकी कोई भी क्रिया ऐसी न हो, जो किसी के लिये घातक और अनिष्टकर हो। वास्तव में इस प्रवृत्ति को निभानेवाला व्यक्ति ही सदाचारी कहलाने का अधिकारी है। अन्यथा वह सदाचारी नहीं, दुराचारी है। यदि आप सदाचार सीखना चाहते हैं तो उसके लिये आपको अधिक परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं। बहुत बातों को सीखने से ही उसे आप आत्मसात् कर सकते हैं न तो उसके लिये बीस, चालीस या पचास पुस्तकों के पढ़ने की आवश्यकता है और न कुछ पैसे खर्च करने की ही। मैं आपको और कुछ न बताकर सदाचारी बनने के लिये मात्र एक ही उपाय बताऊँगा, वह है सत्य। आप सत्यवादी बनिये, झूठ को हलाहल समझ कर उससे परहेज रखिये। सत्य में सदाचार का अखण्ड स्वरूप समाया हुआ है, उसका कोई भी अंश सत्य की सीमा से बाहर नहीं है। आप इस पद्य को सदा याद रखिये :

सत्य से बढ़कर जगत में
कौन सत्पथ और है।
और सब पगडंडियाँ
यह राजपथ की डोर है॥
सत्य ही भगवान्
श्री भगवान् यों फरमा रहे।

सत्य के गुण - गान
श्री भगवान् मुख से गा रहे ॥
सत्य की महिमा जिनागम
में भरी पुरजोर है।
सत्य से बढ़कर जगत में
कौन सत्पथ और है ॥

अर्थात्—सत्य कोई छोटी-मोटी पगडंडी नहीं है, यह वह विशाल राजपथ है, जिसपर आप आत्म-विश्वास के साथ बढ़ते चले जाइये। आपके बीच में कोई बाधा या मुसीबत नहीं आयेगी, और यह आयेगी तो आपके सत्य-बल और आत्मबल के सामने वह टिक नहीं सकेगी, हार जायगी और अन्त में वह आत्मसमर्पण कर देगी। सत्य से बढ़कर वह कौन वस्तु जगत् में होगी जबकि स्वयं भगवान् अपने मुख से सत्य को भगवान कह कर सम्बोधित कर रहे हैं। 'सच्चं भगवं'—यह शास्त्र-वाक्य इसी तथ्य पर प्रकाश डाल रहा है! विद्यार्थियो! यदि आप यह प्रतिज्ञा कर लें कि हम सत्य बोलेंगे, झूठ को कभी नहीं प्रश्रय देंगे, तो निश्चित समझिये आपका जीवन सफल है और आपका भविष्य स्वर्णिम है। हाँ, यह मैं चाहता हूँ कि ऐसा करने में आपके सामने एक बड़ी बाधा है। उसको भी मैं स्पष्ट कर देता हूँ। वह यह है कि आप सोचते होंगे, आज सत्य की महिमा सर्वत्र गाई जाती है—गुरुजन और शिक्षक-जन सब सत्य पर पूरा-पूरा बल देते हैं किन्तु हम अपने घर में झूठ ही झूठ का वातावरण देखते और सुनते हैं। किसकी बात मानें? किसकी बात अच्छी है, किसकी झूठी। यहाँ पर मैं आपको यही सलाह दूँगा कि चाहे घर का वातावरण कुछ भी हो और चाहे समूची दुनियाँ का दबाव भी किसी ओर हो आप यह दृढ़ निश्चय रखें कि हम तो सत्य पर ही डटे रहेंगे, सत्य को अपना जीवन समझेंगे, सर्वस्व समझेंगे। चाहे आपमें हजार दुर्गुण हों, यदि आप सत्यनिष्ठ हैं तो मुझे उनकी कोई चिन्ता नहीं। आप कहेंगे कि क्या कभी ऐसा हो सकता है? मैं कहता हूँ क्यों नहीं, आप उस लड़के का उदाहरण याद कीजिये जो दुनियाँ के समस्त दुर्गुण और दुर्व्यसनों का शिकार था। मां-बापका वह इकलौता पुत्र था। घर में पैसे की कमी नहीं थी। प्यार ही प्यार में लड़का बिगड़ गया, बदमाश हो गया। पिता की आँखें जब खुलीं तो उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। मगर अब क्या हो सकता था? उसने पुत्र को समझाने के लिये अनेक उपाय किये किन्तु पुत्र पर उनका कोई असर नहीं हुआ। संयोगवश एक दिन उस शहर में एक मुनिराज आये। उसका प्रवचन हुआ। प्रवचन में उस लड़के का पिता भी विद्यमान था। उसने विचार किया—ये मुनिराज ठीक हैं, इनके पास लड़के को भेजना चाहिये। पिता ने ऐसा ही किया। लड़का मुनिराज के पास आया। पिता

का मुनिराज को पहले से ही संकेत किया हुआ था। मुनिराज ने लड़के को उपदेश देना प्रारम्भ किया। साधु-सन्त वास्तव में गजब सूझ के होते हैं। लोगों पर उनकी गम्भीर बात का तो क्या, मामूली बात का भी बड़ा असर होता है। यह क्यों? इसमें यही रहस्य है कि वे जो बातें कहते हैं, वे सब उनके जीवन में उतरी हुई होती हैं। यही कारण है उनके साधारण वचन का भी आशातीत प्रभाव पड़ता है। एक बात और है, मेरा यह एकान्त अभिमत है कि यदि किसी को सन्मार्ग पर लाना है तो उसे उपदेश द्वारा हृदय-परिवर्तन करके ही लाया जा सकता है। इसी महान् सिद्धान्त पर गांधीजी ने देश को आजाद कराया। डंडे के बल पर और प्रलोभन के द्वारा किसी स्थायी सुधार की सम्भावना नहीं की जा सकती। जैन-धर्म का यही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मुनिराज ने यही किया। उन्होंने शिक्षा द्वारा बालक का हृदय-परिवर्तन करना चाहा। मुनिराज ने पूछा—"बालक! तुम चोरी करते हो?" बालक—"हाँ, महाराज!" मुनिराज ने फिर पूछा—"और क्या करते हो?" बालक ने कहा—"क्या पूछते हैं महाराज! दुनिया के जितने दुर्गुण हैं मुझमें सब मौजूद हैं।" तदनन्तर मुनिराज ने दुर्व्यसनों के दुष्फलों पर विस्तृत प्रकाश डालते हुये मार्मिक उपदेश दिया और बालक से अनुरोध किया कि "बालक! तुम अपने अमूल्य जीवन को दुर्गुणों के कीचड़ में फँसाकर व्यर्थ क्यों खो रहे हो? तुम्हें आज से ही प्रतिदिन एक-एक दुर्गुण छोड़ने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।" बालक ने नम्रता पूर्वक कहा—"महाराज! आप जो कहते हैं वह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ। किन्तु मजबूर हूँ। अपने को उन दुर्गुणों से पृथक् नहीं कर सकता। वे दुर्गुण मेरे जीवन की प्राकृतिक-क्रियाएँ बन गई हैं, उन्हें मैं छोड़ नहीं सकता। हाँ, यदि आप उनके अलावा और किसी दूसरी बात के लिये कहें तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूँगा।" मुनिराज ने उसको सत्यव्रत अपनाने के लिये कहा। बालक एक बार तो चौंका, मगर वह वचन का पक्का था। उसने उसी समय से झूठ बोलना छोड़ दिया। बालक अब बन्धन में आ गया। दूसरे ही दिन जब वह प्रहर रात्रि बीतते ही घर में आया तो पिता सहसा पूछ बैठा—"पुत्र! कहाँ से आए?" बालक बड़ी मुसीबत में पड़ा। क्या कहे? झूठ बोलना ठीक नहीं? सच कहे तो भी कैसे कहे? पिता अकेले तो थे नहीं, उनके निकट शहर के अनेक प्रतिष्ठित-नागरिक बैठे थे। दो क्षण तक वह टालमटोल करता रहा, किन्तु पिता उसे कब छोड़नेवाला था। आखिर उसको लज्जापूर्वक कहना ही पड़ा—"पिताजी! मदिरालय से मदिरा पीकर आ रहा हूँ।" यह सुनते ही वहाँ पर बैठे हुये समस्त लोग उसके प्रति नाना प्रकार की घृणा-प्रकट करने लगे। बालक को बड़ी शर्म आई। उसने उसी समय सर्वदा के लिये मदिरा न पीने की प्रतिज्ञा कर ली। अगले दिन फिर उसी समय घर में आते ही पिता ने पूछा—"पुत्र! कहाँ से आ रहे हो?" बालक को बड़ी झुंझ-

लाहट हुई। वह सोचने लगा—"मुझसे ये बार-बार क्यों पूछते हैं"? मैं जहां चाहूँ, वहाँ जाऊँ; जब चाहूँ, तब आऊँ। इनको इससे क्या मतलब? किन्तु आखिर उसे पिता की दृढ़ता के सामने झुकना ही पड़ा। उमसे टूटते हुये स्वरों में कहाँ—"पिताजी!··· वेश्या···गृहसे···आ रहा हूँ।" यह सुनते ही वहाँ पर बैठे हुये तमाम लोग अपना मुँह फेरकर छिः छिः छिः कर उठे। बालक तो मानों जमीन में गड़ गया। उसकी ग्लानि का कोई पार नहीं रहा। उसने उसी समय फिर वेश्या-गृह जाने का परित्याग कर दिया। इस प्रकार एक महीने के भीतर २ उसके सारे दुर्व्यसन छूट गये। विद्यार्थियो! विचारें, उसपर किस बात का प्रभाव था। इसलिये मैं आपको यही सलाह दूँगा कि आप यह दृढ़ निश्चय कर लें कि हमें कभी झूठ नहीं बोलना है। हमें सिर्फ पढ़ना है। जीवन को ज्ञान-अर्जन में लगाना है। फिर आप देखेंगे कि आप में चारित्र कैसे आ जाता है। जहाँ सत्य निष्ठा होगी, वहाँ चारित्र अपने आप आयेगा। ऐसा कर आप अपना ही सुधार नहीं करेंगे, बल्कि अपने कुटुम्ब का, समाज और राष्ट्र का कायाकल्प कर देंगे।

आचार की एक प्रमुख वस्तु पर मुझे और संकेत करना है। वह है, ब्रह्मचर्य। आप जानते हैं आपका जीवन साधना का जीवन है किन्तु विस्मय होता है—जब मैं यह सुनता हूँ कि आज के विद्यार्थी-समाज में ब्रह्मचर्य की भयंकर कमी है। वे आज अप्राकृतिक-क्रियाओं में पड़कर अपने देवदुर्लभ मानव-जीवन को मिट्टी में मिला रहे हैं। हास्य-कुतूहल में पड़कर वे अपनी आदतों को बिगाड़ रहे हैं। आज उनका नष्ट-भ्रष्ट जीवन देख कर किसे तरस नहीं आता। मैं आपसे जोर देकर कहूंगा—आप विद्यार्थी-जीवन को साधना का जीवन समझें। यह सोचें कि हमें इस साधना काल में ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करनी है। पूर्ण-साधना के लिये यह आवश्यक है कि आप खाद्य-संयम करें, दृष्टि-संयम करें और अश्लील साहित्य, अश्लील संगीत तथा अश्लील चित्रों से कोसों हाथ दूर रहें। इस विषय में अध्यापकों का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वे विद्यार्थियों का पूरा ध्यान रखें। उनको बुराइयों में न फँसने दें। आज वह पुराना युग नहीं जब कि बड़े-बड़े नोजवान भी अश्लील बातों को समझते तक नहीं थे। आज के छोटे-छोटे बच्चे भी बड़ों-बड़ों की आँखों में सफलतापूर्वक धूल झोंक सकते हैं। इसलिये अध्यापकों से मैं यही आशा करूँगा कि वे अपने हाथों में आई हुई इस महान् सम्पत्ति का सही अर्थ में निर्माण करेंगे। केवल वाचिक और पुस्तकीय शिक्षा से नहीं वरन् अपने जीवन के सक्रिय आदर्शों के द्वारा उनके सामने सक्रिय-शिक्षा प्रस्तुत करेंगे।

जोधपुर,

२६ अगस्त, '५१

१०९ : मानव का उद्देश्य

मुझे प्रसन्नता है कि मैं आज आपके बीच में अपना धार्मिक-सन्देश दे रहा हूँ। मेरे जीवन का यह प्रमुख विषय रहा है या यों समझ लीजिये—विद्यार्थियों के बीच कार्य करना मेरा प्राकृतिक विषय है। जैसा कि पूर्व वक्ता (Student's Association) के अध्यक्ष श्री जोरावरमल बोड़ा ने बताया, मैं जब १३-१४ वर्ष का था तब से ही विद्यार्थियों की देख-रेख रखनी प्रारम्भ कर दी थी। इस कॉलेज में यह पहला ही मौका है। इससे पूर्व भारतवर्ष के अनेक शिक्षा-केन्द्रों से मेरा सम्बन्ध हुआ है। मैंने विद्यार्थियों की नीति का अध्ययन किया है। वे क्या चाहते हैं? उनकी क्या समस्याएँ हैं? और उनके लिए क्या-क्या आवश्यक है? इन बातों का मैंने धीरता पूर्वक चिन्तन और मनन किया है और समय-समय पर करता भी रहा हूँ।

आज का युग विकास का युग है। चारों ओर विकास के नये-नये सूत्र सुनने में आ रहे हैं। मौलिक विकास आवश्यक है और वह होना ही चाहिए। आप भी अपना विकास चाहते हैं यह ठीक है, किन्तु इसके पहले तनिक यह भी सोचना चाहिये कि आखिर मानव-जीवन का उद्देश्य क्या है? जीवन का उद्देश्य यह नहीं हो कि सुख सुविधापूर्वक जिन्दगी बिताई जाय, शोषण और अन्याय से धन पैदा किया जाय, बड़ी-बड़ी भव्य अट्टालिकाएँ बनाई जांय और भौतिक साधनों का यथेष्ट उपभोग किया जाय। ऐसे अधूरे और अपूर्ण उद्देश्य को भारतीय संस्कृति में कोई स्थान नहीं है। यह जीवन का उद्देश्य नहीं बल्कि जीवन के लिये अभिशाप है। भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन का उद्देश्य कुछ और ही बताया गया है। उसकी दृष्टि में बाह्य-सुख सुविधाओं के लिये छीना-झपटी करना कोई महत्त्व नहीं रखता। वह आन्तरिक सुख-सुविधाओं को पाने के लिये संकेत करती है। वह बताती है—मानव का उद्देश्य, विकास की चरम सीमा यानी परमात्म-पद तक पहुँचना है।

यदि आपको इस उद्देश्य तक पहुँचना है तो मैं आपसे कहूँगा—आप पण्डित नहीं शिक्षित बनिये। आप चौंके नहीं पण्डित और शिक्षित में बड़ा अन्तर होता है पण्डित उसे कहते हैं जो विद्वान है, पढ़ा हुआ है। किन्तु शिक्षित का अर्थ कुछ और ही होता है। शिक्षित बनने के लिये सबसे पहले आप द्रष्टा बनिये। शास्त्रों में कहा है : 'उद्देशो पासगस्स नत्थि'—जो द्रष्टा बन गया उसके लिए फिर उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं। जबतक द्रष्टा बनने में अधूरापन है तबतक ही उपदेश—शिक्षा आदि की आवश्यकता होती है। संभवतः आप पूछना चाहते हैं 'द्रष्टा' से क्या मतलब है? सब को दो-दो आँखें हैं। सब देखते हैं। नजदीक ही नहीं दूर-दूर तक का ज्ञान करते हैं। न हमसे आकाश ही छिपा है और न समुद्रतल ही। सूक्ष्मता और

विप्रकृष्टता का व्यवधान आज हमें देखने में कोई अड़चन पैदा नहीं कर सकता, मैं मानता हूं आपकी यह विचार-धारा आपके दृष्टिकोण से ठीक है। किन्तु मेरे द्वारा प्रयुक्त 'द्रष्टा' शब्द की परिभाषा इससे सर्वथा विपरीत है। वह है 'अपने आपको देखना'। जो अपने आपको देख लेता है उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता है। इसलिये द्रष्टा वही कहलाता है जो अपने आपको देखे। दूर-दूर की वस्तु दूरवीन जैसे सूक्ष्मयन्त्र द्वारा देखी जा सकती है किन्तु अपनी शक्ल नहीं, यदि आप अपनी शक्ल देखना चाहेंगे तो आपको हाथ में दर्पण लेना पड़ेगा।

जो जैसा नहीं है उसे वैसा मानना अज्ञान है। भारतीय संस्कृति बताती है :

देहाय कीर्त्या बुद्धिर्गविद्येति प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥

यह ख्याल, जो शरीर है, वही मैं हूँ, यह अविद्या—अज्ञान का परिणाम है। मैं शरीर नहीं, मैं उससे भिन्न कुछ और हूँ, वह जड़ है, मैं चेतन हूँ, अनुभवकर्ता हूँ, विवेकशील हूँ तथा हेय-उपादेय स्वरूपात्मक बुद्धिवाला हूँ। 'मैं कौन हूँ' ? द्रष्टा के लिये यह कोई उलझन नहीं। द्रष्टा बन जाने के बाद न कुछ सुनने की आवश्यकता रहती है और न कुछ ग्रहण करने के लिए कहीं जाने की। आप पूछेंगे—क्या आप द्रष्टा बन गये ? मैं कहूँगा—अभी हम द्रष्टा नहीं बने हैं। हम और आप दोनों ही द्रष्टा बनने की कोशिश में हैं। हमारा यह अभिमत है कि हमें अपनी विरासत में जो अमूल्य चीजें मिली हैं उनको हम अपने में चरितार्थ करते हुए दूसरों तक भी पहुँचाएं। हम अभी तक साधक हैं, साधना हमारा लक्ष्य है। हम अभी सिद्ध नहीं हुए हैं आप भी साधक बनिये, साधना करिये, यह मैं आपसे जोर देकर कहूँगा। यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि जो द्रष्टा नहीं, उनके लिए अभी उपदेश की आवश्यकता है। प्रश्न उठता है—उपदेश क्या है ? उपदेश है 'बुज्झेति उट्टिज्जा' अर्थात्—बन्धनों को जानो और तोड़ो। जानना पहले आवश्यक है। बंधनों को जाने बगैर तोड़ना संभव नहीं। तोड़े बिना आजादी कहाँ ? और आजादी के अभाव में गुलामी से पिण्ड छूटना क्या संभव है ? इसलिये ज्ञान जानने की सबसे पहले आवश्यकता है।

भारतीय परम्परा में जानना सिर्फ जानने के लिए नहीं, ज्ञान सिर्फ ज्ञान के लिए नहीं बल्कि ज्ञान जीवन के लिए है। शास्त्रों में ज्ञान का फल प्रत्याख्यान बतलाया गया है। 'नाणे पच्चक्खाण फले' अर्थात्—अच्छा और बुरा, हेय और उपादेय, त्याज्य और ग्राह्य इनको समझकर त्याज्य को छोड़ो और ग्राह्य को ग्रहण करो यह है सच्चा ज्ञान और उसका सच्चा फल। आज मुझे यह सखेद कहना पड़ता है कि भारत अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति और अपनी सभ्यता को भूलकर भौतिकवाद का अन्धानुकरण

कर रहा है। भौतिकवादी देशों में कला, कलाजन्य ज्ञान के लिए माना जाता है, ज्ञान का जो प्रत्याख्यान फल है उसका वहाँ कोई स्थान नहीं। यही कारण है आज देश में अनेक शिक्षणशालाओं के होने पर तथा दिन-प्रति-दिन अनेक नई-नई विद्या होने पर भी विद्यार्थियों को वास्तविक ज्ञान नहीं मिल रहा है।

ज्ञान के साथ में शिक्षा होनी नितान्त आवश्यक है। आज मैं अनुभव करता हूँ—ज्ञान के लिए, ज्ञान खूब है, मगर दूसरी ओर जीवन में शिक्षा का पूर्ण अभाव है। इसीलिये आज सर्वत्र क्लेश और उलझनों का वातावरण छाया हुआ है। आप पूछेंगे—ज्ञान और शिक्षा में क्या भेद है? ज्ञान सिर्फ जानना मात्र है जबकि शिक्षा का अर्थ संयम की साधना है। जिसमें संयम की साधना है, उसका जीवन सफल है, कृत्य-कृत्य है। जिसमें यह नहीं है उसको संयम का अभ्यास करने की भरसक चेष्टा करनी चाहिए। यह निश्चित समझिये जिसे संयम का अभ्यास नहीं वह अपनी मंजिल से बहुत दूर और बहुत नीचे है। मुझे सखेद कहना पड़ता है कि आज शिक्षार्थियों में भी शिक्षा यानी संयम की साधना का बहुत बड़ा अभाव है। यही कारण है कि आज शिक्षार्थी समाज में तरह-तरह के अनर्थ अपना डेरा डाले हुए हैं।

शिक्षा का स्वरूप कैसा हो और शिक्षा के योग्य कौन व्यक्ति होता है? इसपर प्रकाश डालते हुए शास्त्रों में आठ कारण बतलाये गए हैं :

अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीलित्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदा हरे॥
नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए सिक्खा सीलित्ति वुच्चई॥

अर्थात्—शिक्षा प्राप्त करने के योग्य वही होता है जो सदा हास्य-कुतूहल से दूर रहता है। हास्य-कुतूहल करनेवाला शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। इसी तरह जो इन्द्रियों और मन पर काबू रखता है, ब्रह्मचर्य का सेवन और इन्द्रियों का दमन करता है वह शिक्षा के योग्य होता है। जिह्वास्वादी और चक्षु-गृद्धि कदापि शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। जो किसी के मर्म का उद्घाटन नहीं करता वह शिक्षा के योग्य है। मर्मभेदी वचन कहने वाला दूसरे के अन्तःकरण को जला डालता है। वह शिक्षा के योग्य नहीं इस प्रकार शिक्षा के योग्य वही होता है जो सदाचारी है जिसका आचार खंडित नहीं हुआ है, रसों में जिसकी वृद्धि नहीं है, जो अक्रोधी, क्षमायुक्त और सत्य-भाषण करनेवाला है। सारांश यही है कि शिक्षा-ग्रहण करते समय जिनकी संयम में दृढ़निष्ठा नहीं रहती वे न तो शिक्षा ही पा सकते हैं और न शिक्षित ही कहला सकते हैं। सही बात तो यह है कि आज के विद्यार्थियों में संयम की बड़ी अवहेलना हो रही है। विशेषकर उनका मानसिक

संयम तो आज बिल्कुल गिरा हुआ सा प्रतीत होता है। आए दिन परीक्षा में अनुत्तीर्ण कितने विद्यार्थी आत्महत्या कर क्या मौत के घाट नहीं उतरते? यह क्या है? क्या परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही सब कुछ है। परीक्षा में उत्तीर्ण हो या न हो किन्तु जो पढ़ा है वह तो कहीं नहीं गया। पढ़ने का सार तभी है जबकि वह स्वयं संयम की साधना करता हुआ समाज और देश में संयम का प्रसार करे, व्यक्ति-व्यक्ति में संयम की पावन-पुनीत भावना को जागृत करे।

विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य-साधना की बहुत बड़ी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य ही जीवन है, इसे आप न भूलें। ब्रह्मचर्य को खोकर यथेष्ट उन्नति और विकास करना सम्भव नहीं। वह पढ़ना किस काम का जिससे ब्रह्मचर्य का विकास न होकर, उसका ह्रास हो। मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप विद्यार्थी-जीवन को एक साधना का जीवन समझकर ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करें। सदा जागरूक रहें और यह विचार करें कि वे कौन कौन से कारण हैं जो हमें अब्रह्मचर्य की ओर ढकेलते हैं। उन कारणों को खोजकर उनका निर्मूलन करें। उन व्यक्तियों की संगति न करें, वैसा साहित्य न पढ़ें, जो जीवन को ब्रह्मचर्य से हटाकर अब्रह्मचर्य की ओर ले जानेवाला हो।

पढ़ने के बाद भी जिसमें संयम की साधना नहीं हैं, हेय-उपादेय का ज्ञान नहीं है, त्याज्य-ग्राह्य का विवेक नहीं है वे शिक्षित भी निरे अज्ञानी हैं। ज्ञान के साथ जिनमें शिक्षा नहीं हैं, वे परमार्थ और व्यवहार में कभी सफल नहीं हो सकते। वे केवल जानने के लिए जानते हैं किन्तु वे यह नहीं समझते कि जाननेका प्रयोग कैसे करना चाहिए? मुझे वह घटना याद आ रही है जिसमें कि एक पढ़े-लिखे इञ्जीनियर ने अपने ज्ञान का कितना हास्यास्पद प्रयोग किया। एक इञ्जीनियर किसी काफिले के साथ जा रहा था। जंगल का मार्ग था। आगे चलकर रास्ते में चारों ओर पानी आ गया। काफिले के गाड़ रुक गये। लोगों ने इञ्जीनियर से सलाह माँगी। वे फौरन एक पन्ना और पेन्सिल लेकर आगे आये। एक आदमी को जल मापने के लिए कहा। जल मापा गया। कहीं एक-दो हाथ था और कहीं पाँच-सात हाथ। इंजीनियर ने पन्ने पर नोट कर सारा औसत मिला लिया। औसत ठीक था उसमें गाड़ों के डूबने जैसी कोई बात नहीं थी। फिर क्या था? इंजीनियर ने तुरन्त गाड़ों को जल में उतारने की सलाह दी। आगेवाले गाड़े में बच्चों का झुण्ड था। ज्यों ही वह गाड़ा कुछ गहरे पानी में पहुँचा कि जल में डूबने लगा। लोगों में भगदड़ मच गई। वे तुरन्त इंजीनियर के पास दौड़े आये और बोले—"इंजीनियर साहब! आपने यह क्या किया? सारे बाल-बच्चे डूबे जा रहे हैं।" इंजीनियर ने तुरन्त अपना पन्ना निकाला और दुबारा औसत मिलाया। औसत ठीक निकला। बड़े गर्व के साथ उन्होंने कहा—"लेखा-जोखा ज्यों का त्यों, छोरा-छोरी डूबे क्यों।" भाई मेरा तो कोई दोष नहीं है,

देख लो, यह लेखा-जोखा तुम्हारे सामने है। समझ में नहीं आता औसत ठीक होने पर भी छोकरे-छोकरी क्यों डूबे जा रहे हैं?" कहने का तात्पर्य यही है कि जो जीवन की शिक्षा प्राप्त नहीं करते, वे कहीं भी सफल नहीं होते। वे अपने साथ-साथ औरों को भी मुसीबतों में फँसा देते हैं तथा बड़े-बड़े अनर्थ कर बैठते हैं।

यदि आपको वास्तव में शिक्षित बनना है तो आप संयम की साधना करें। मैं कहूँगा इसके लिए अणुव्रत-योजना अत्यन्त उपयोगी है। आप कहेंगे वह तो एक जैन सम्प्रदाय विशेष की योजना है। हम उसे क्यों अपनायें? क्या हमें जैनी बनना है? मुझे सखेद कहना पड़ता है—आज साम्प्रदायिकता का भूत किस विकृत रूप में सबके दिमागों पर छाया हुआ है। मैं मानता हूँ साम्प्रदायिकता अच्छी नहीं, पर क्या कभी सम्प्रदाय (विचारकों का समाज) भी बुरा होता। सिर्फ नाम मात्र से ही भड़क जाना अच्छा नहीं, यह संकुचित और संकीर्ण मनोवृत्ति का द्योतक है। सवाल तो यह है कि आप पहले मानवता की दृष्टि से उस योजना का अध्ययन करें, उसपर विचार करें। मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ कि आप उन नियमों को पढ़ कर यही सोचेंगे—अनुभव करेंगे कि ये नियम तो किसी एक सम्प्रदाय या वर्ग-विशेष से सम्बन्धित नहीं, ये तो हमारे शास्त्रों में भी बताये गये हैं।

खेद तो इस बात का है कि आप साधुओं के विषय में शंकित रहते हैं। आज आप में कितने ऐसे नहीं हैं जो चलते ही कह डालते हैं कि ये साधु साधु क्या हैं, समाज पर बोझ हैं? भारभूत हैं। मैं मानता हूँ यह कहना बिल्कुल निर्मूल नहीं। उनके सामने कुछ ऐसे ही साधु आते हैं जिनसे उनकी धारणा ऐसी बन जाती है। किन्तु साधु-समाज के लिए ऐसी धारणा बनाना उचित नहीं। जैनी साधुओं के विषय में मैं आपको स्पष्ट बता दूँ कि वे समाज के लिए तनिक भी बोझ या भारभूत नहीं हैं। वे 'जिन' के अनुयायी हैं। 'जिन' वे होते है जो विजेता हैं। आत्मजयी है, वीतराग हैं और समस्त कर्माणुओं का नाश करनेवाले हैं। वे आज भी अपने पवित्र उद्देश्य को अक्षुण्ण रखते हुए आत्म-विजय के मार्ग में प्रस्तुत हैं। 'उठें और उठायें' यही उनके जीवन का ध्रुव मन्त्र है। वे आज के लोगों की तरह सुधार की थोथी आवाज नहीं लगाते। आज ऐसे लोगों की कमी नहीं जो स्टेज पर खड़े होकर जीवन-सुधार के विषय में बड़े-बड़े वक्तव्य झाड़ते रहते हैं। पर यदि उनके जीवन को देखा जाय तो उनसे घृणा होने लगती है। भला जिनकी कोई अच्छी जिन्दगी नहीं, आचरणों की कोई योग्यता नहीं, क्या वे भी कुछ कहने और प्रेरणा देने के अधिकारी हो सकते हैं? उन्हें क्या मालूम सुधार और उत्थान कैसे होता है? सुधार और उत्थान केवल बातों से होने की चीज नहीं है। उसके लिए अपनी कुर्बानी करनी पड़ती है। बलिदान करना होता है। तब कहीं आकर सुधार और उत्थान की कथा साकार होती है। जैनसाधु इसी मन्त्र को

लिये चलते हैं। वे यही कहते हैं तुम जो उपदेश करना चाहते हो पहले उसे अपने आचरणों में उतारो और फिर लोगों से कहो।

जैन साधु ५ नियमों का पालन करते हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। मैत्री-विश्वबन्धुता का प्रचार करना उनका प्रमुख कर्तव्य है। अहिंसा उनका जीवन है। अहिंसा को जो कायरता की जननी कहते हैं वे महान् भूल करते हैं। कायरता की जननी तो हिंसा है। अहिंसा वीरत्व की जननी है। वह वीरों का आभूषण है। किसी को तनिक भी क्लेश न पहुँचाते हुए अध्यात्म की राह पर हँसते-हँसते अपने प्राण न्यौछावर कर देना क्या कायरता है? यह तो उत्कृष्टतम वीरता का प्रमाण है; साधु के लिए मात्र हिंसा त्याज्य है। इसी प्रकार वे पूर्ण सत्य का पालन करते हैं, किसी प्रकार की चोरी नहीं करते, ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करते हैं और किसी भी प्रकार का संग्रह नहीं करते। साधुओं का कहीं कोई स्थान नहीं होता और न उनके लिए कहीं भोजन पानी भी तैयार रहता है। वे किसी प्रकार की सवारी नहीं करते, उनकी यात्रा पैदल होती है। देहली में जब विनोबाजी से मुलाकात हुई तो उन्होंने कहा—"आजकल मैंने भी आपकी चीज स्वीकार कर ली है।" मैंने कहा—"आपने तो अब की है, हम तो शताब्दियों और सहस्राब्दियों से ही पैदल यात्रा करते आ रहे हैं।" आप सोचें जिनके जीवन में ऐसे महत्त्वपूर्ण आदर्श हैं क्या वे समाज के लिए भार हैं? जो निरन्तर अवैतनिक रूप में समाज का नैतिक पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं, जो हर समय निःस्वार्थ भाव से समाज को उपदेश और शिक्षा-वितरण करते रहते हैं, क्या वे किसी के लिए भी बोझ हैं? ये तो उत्कृष्टतम साधक हैं और समाज को भी साधना के उच्चतम शिखर तक पहुँचाने का अविरल व अविलम्ब प्रयत्न करते रहते हैं।

जैन साधुओं से चौंकने के दो कारण हैं? एक तो उनसे आपका संपर्क नहीं है। दूसरे में आप उनकी वेशभूषा को देख कर चौंक भी उठते हैं। आप संभवतः सोचते होंगे इन्होंने मुँह पर पट्टी क्यों बाँधी है? लुधियाना (पंजाब) की बात है। मैं वहां के गवर्नमेण्ट कॉलेज में प्रवचन करने के लिए गया था। विद्यार्थी लोग साधुओं की वेशभूषा देख कर आपस में मजाक उड़ाने लगे। एक ने पूछा—ये मुँह पर पट्टी क्यों बाँधते हैं? दूसरे ने उत्तर देते हुए—मुँह का आपरेशन कराया है। तीसरे ने इससे भी आगे कहा—मुँह में मक्खी-मच्छर आदि पड़ जाते हैं इसलिए पट्टी बाँध रखी है क्या? मैं उनके गप्प-पप्प और शोरगुल को देखकर विचार में पड़ गया कि ये प्रवचन सुनेंगे? मगर ज्यों ही मैंने सर्वप्रथम उनकी उलझनों, भ्रान्तियों और समस्याओं को लेकर प्रवचन प्रारम्भ किया कि वे शान्त होकर प्रवचन सुनने लगे। मैंने कहा—विद्यार्थियों! आप इन साधुओं की उलझन में मत पड़िये। ये कोई दूसरी दुनियाँ के नहीं हैं, आपके ही भाई-बन्धु हैं। आपमें से ही निकल कर ये इस जिन्दगी में अग्रसर

हुए है। इनकी वेशभूषा भ्रान्ति या दिखावट पैदा करने के नहीं, बल्कि सादगी का प्रतीक है। मुँह पर पट्टी बंधने के पीछे एक गहरा सिद्धान्त-बल है। यह भी एक साधना का अंग है। यह दूसरी बात है कि सबको यह जंचे या नहीं जँचे। जैन-शास्त्रों में बताया गया है कि बोलते समय जो तेज और जोशीली हवा निकलती है उसे बाहर की हवा के साथ टकराने से वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है इसलिए इस पट्टी को बाँधने का यही मतलब है कि वह हवा तेज न निकल कर धीमे से निकल जाये। इसका मतलब न तो कीड़े-मकोड़े आदि पड़ने से ही है और न कोई ऑपरेशन से ही। तथ्य को समझते ही सब शान्त हो गये और फिर सबने पूरा प्रवचन बड़े ध्यानपूर्वक और शिष्टतापूर्वक सुना।

आज आप जानते हैं यह अखबारी दुनियाँ है। साम्यवाद को लेकर चारों ओर हलचल सी मच रही है। लोगों के लिए साम्यवाद चिन्ताजनक बन रहा है। लोग सोचते हैं साम्यवाद आने पर क्या हो जायगा ? तथाकथित धार्मिक लोगों की तो और भी बुरी स्थिति है। देहली-प्रवास में कन्स्टीट्यूसनक्लब में एक व्यक्ति ने मुझसे प्रश्न किया—"क्या भारत में साम्यवाद आयेगा ? मैंने कहा—"अगर आप बुलायेंगे तो अवश्य आयगा। अन्यथा नहीं।"

आज का युग समानता का युग है। लोग आज विषमता को सहन नहीं कर सकते। उनके लिए यह असह्य है कि एक व्यक्ति के पास तो पाँच-पाँच मोटरें हों और एक के पैरों में खड़ाऊँ भी न हो। समानता का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। प्राचीन शास्त्रों में भी समानता पर बल दिया गया है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि दोनों के तरीकों में अन्तर है। तरीके चाहे कुछ भी हों आखिर समानता लाना दोनों का ही ध्येय है। हमारी दृष्टि में हिंसा से किया गया परिवर्तन चिरकाल तक स्थायी नहीं हो सकता। हृदय-परिवर्तन द्वारा लाया गया परिवर्तन ही स्वस्थ, सुखद और चिरकाल स्थायी हो सकता है। निराशावादी कहेंगे—क्या ऐसा होना कभी संभव है ? एक-एक का हृदय-परिवर्तन कर सबको एक सूत्र में बाँधना—एक असंभव कल्पना है। मगर मैं निराशावादी नहीं, आशावादी हूँ। आज अगर नेता, साहित्यिक, दार्शनिक, कलाविद् और कवि हिंसा के वातावरण को फैलाना छोड़ कर अहिंसा के पुनीत वातावरण को फैलाने में जुट जाएँ तो क्या यह संभव नहीं कि अहिंसा का उज्ज्वल आलोक कण-कण में चमक उठे।

मैं चाहता हूँ विद्यार्थियों के जीवन में धर्म का संचार हो। आप धर्म शब्द से चौंके नहीं। मैं उस धर्म के विषय में नहीं कहता जो पूँजीपतियों का पिछलग्गू हो, जिसे शोषण का माध्यम बना दिया गया हैं, जो आडम्बरों और दुराचारों को प्रोत्साहन देता है। हाँ,

उस धर्म के बारे में कहता हूँ जो व्यक्ति-व्यक्ति का समान आश्रयदाता है। जिसमें लिंग, रंग और जाति-पाँति आदि का कोई भेद-भाव नहीं है। जिसको निर्धन और धनिक दरिद्र और पूँजीपति सभी समान रूप से ग्रहण कर सकते हैं। मेरे दृष्टिकोण में सद्भाव और समानता पैदा करनेवाला धर्म किसके लिए आवश्यक नहीं है। बुद्धिवादी लोग धर्म को विष से भी अधिक अनिष्टकर मानने लगे और मानते हैं। इसका दोष तथा-कथित धार्मिक लोगों पर ही है। उन्होंने धर्म के पवित्र वातावरण को अपनी तुच्छ स्वार्थ-सिद्धि को लेकर इतना गन्दा और कलुषित बना दिया कि जिसे देखकर आज किसके हृदय में चोट नहीं पहुँचती।

अन्त में मैं आपसे यही कहूँगा कि आपलोग अगर कल्याण चाहते हैं तो अहिंसा और अपरिग्रह के मार्ग को अपनाइए। अहिंसा और अपरिग्रह की महान् शक्ति के आधार पर राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक किसी भी समस्या का हल निकाल कर दुनियाँ की तस्वीर बदली जा सकती है। विनोबा जी और क्या कह रहे हैं। अभी-अभी जब जाजूजी मिले तो वे यही कह रहे थे कि विनोबाजी का कहना है कि अब शीघ्र ही एक अहिंसात्मक क्रान्ति होनेवाली है वह रुकेगी नहीं। मैं भी तो यही कह रहा हूँ—अहिंसा और अपरिग्रह की भावना फैलाना मेरा प्रमुख कर्तव्य है और जब यह भावना व्यापकरूप पकड़ने लगेगी तब जो अहिंसात्मक क्रान्ति होनेवाली है, क्या वह रुकेगी? नहीं, कदापि नहीं।

बस मैं पुनः इन्हीं वाक्यों को दोहरा देता हूँ—आप उठें, जागें, जीवन का निर्माण करें, तपोधान द्रष्टा बनें, 'उद्देसो पासगस्स णत्थि' अर्थात् द्रष्टा बनने के बाद उपदेश देने की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए आप पंडित नहीं, सबसे पहले शिक्षित बनिए तभी आपका, समाज का तथा देश का सही अर्थ में कल्याण होगा।

जोधपुर,

(जसवन्त कॉलेज)

११० : काव्य की सार्थकता

कवि समाज और राष्ट्र के निर्माता होते हैं। आज उनपर समाज और देश के विकास की बहुत बड़ी जिम्मेवारी है।

कवि की रचना केवल मनोविनोद व हास्य के लिये ही नहीं होनी चाहिए। वह जन-जीवन-विकास की प्रेरणा के लिए हो, जो जन-मानस को छूते हुए विकास की एक सजग प्रेरणा दे सके।

कवि कर्म बड़ा दुर्लभ है। जितनी दुर्लभता, मानव-जीवन की तथा शिक्षा की है उससे कहीं अधिक दुर्लभ कवि बनना है। कवि अभ्यास से नहीं बना जाता, प्रकृति ही उसकी निमात्री होती है। सही अर्थ में कवि बनने की सार्थकता तब है जबकि वह विषमता-मूलक वातावरण को बदलकर नैतिकता मूलक बना दे।

कवि की रचना किसी को प्रसन्न रखने के लिए या सम्मान पाने के लिए ही नहीं होनी चाहिए। वह अपनी रचना के सहारे जनता का पथ-प्रदर्शन कर सके।

उनकी रचनाएँ युग-युग तक जनता के लिए एक प्रकाश-पुँज बनी रहे। वे इसे ही लक्ष्य रखें, और जनता में समन्वय की भावना को ज्यादा से ज्यादा विकसित व मानव का चारित्रिक विकास करते हुए अपनी साहित्य-साधना में अविरल गति से बढ़ते चलें।

जोधपुर,
३० अगस्त, '५३

१११ : आत्मसाधक तथा पथदर्शक

जयाचार्य एक महान् दार्शनिक, कलाकार और विचारक थे। दर्शन, धर्म, शास्त्र और नीति जैसे विषयों पर उन्होंने राजस्थानी भाषा में लगभग ३॥ लाख पद्य लिखे जो राजस्थानी साहित्य को उनकी अमर देन है। आगमों की टीकाएँ, महापुरुषों की पद्यात्मक जीवनियाँ, संघ का इतिहास, गद्यकाव्य, प्रबन्धकाव्य, आदि साहित्य के विविध अंगों पर उनका पूर्ण अधिकार था और उन सबपर उन्होंने प्रचुर मात्रा में लिखा। जहाँ एक ओर वे प्रतिभाशील कलाकार, लेखक और कवि थे, दूसरी ओर आत्म-साधना के महान् पथ-प्रदर्शक थे। महापुरुषों का जीवन, जीवन में स्फूर्ति का संचार करनेवाला होता है। उनकी स्मृतियाँ प्रेरणादायिनी हैं।

जोधपुर,
५ सितम्बर, '५३

११२ : त्रिवेणी बहे

पर्युषण-पर्व अध्यात्म का प्रतिनिधि पर्व है। इसलिये कि इसमें आत्मालोचन या आत्मनिरीक्षण के अतिरिक्त अन्य कोई पर्व-लक्षण नहीं।

मर्यादा का अतिक्रमण सबके लिए अक्षेमकर होता है। मनुष्य विवेकशील है किन्तु विविक्त आचार नहीं है—स्वमर्यादा में नहीं है। पर वह पर-मर्यादा में जाता है—

कहीं मुरझाता है कहीं उलझाता है, किसीको मित्र मानता है, किसीको शत्रु। इस प्रकार वह अपने हाथों अपने लिये अनन्त बन्धन रच लेता है। आत्मा का सहज आनन्द दब जाता है। बाहर से आनन्द लाने के लिये फिर अनेक आमोद-प्रमोद के पर्व मनाये जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि पर्युषण पर्व को वह रूप न मिले। यह बाहरी आनन्द, रूढ़ि का पालन और वाणी विश्वास का रूप न ले।

आत्म-शोधन के इस महान् पर्व में आचार-शुद्धि, विचार-शुद्धि, विश्वास-शुद्धि की त्रिवेणी बहे; पूरे वर्ष के लिये सहज आनन्द का सम्बल जुटे, तभी इसका पर्व-रूप सफलता ला सकता है।

जोधपुर,
५ सितम्बर, '५३

११३ : अणुव्रत प्रेरणा दिवस

अनीति और शोषण जैसी वृत्तियों से जर्जरित मानव समाज आज शान्ति चाहता है। भौतिक विज्ञान का दिन पर दिन वृद्धिशील विकास उसके लिए शान्ति नहीं ला सका। बाहर से सब कुछ पाने पर भी उसका अन्तस्तल आज दुःखी है। यह सब क्यों? इसलिए कि उसके जीवन में नीति नहीं, सत्यनिष्ठा नहीं, न्यायपरता नहीं, ईमानदारी नहीं, विश्वास नहीं। जीवन बाहर से पुष्ट और भरा-पूरा दीखता है, पर वास्तव में वह अधूरा है। भीतर से खोखला है। इस खोखलेपन की जगह ठोसपन लाने की आवश्यकता है और उसको लाने का साधन है जीवन में नीति, न्याय, सचाई, नेकनीयती को उतारना। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना को लेकर चलनेवाला एक रचनात्मक कार्यक्रम है। नैतिकता व सुधार में विश्वास रखनेवाले इसे अपनायें, जीवन आत्म-ज्योति से जगमगा उठेगा।

जो व्यक्ति अज्ञानियों के अज्ञान, बच्चों के बचपन को देखकर अधर्म की ओर बढ़ता है वह विपथगामी बनता है। उसे ऐसी नकल न करनी चाहिए। यदि देखा-देखी करनी है तो धीर और धार्मिक पुरुषों की की जाय।

तपस्या की जाय, अच्छा ही है। पर खाद्य-संयम भी कम नहीं है। यह भी एक तरह से तपस्या है। लोग तपस्या करते हैं पर लोलुपता नहीं छोड़ते। यह ठीक नहीं। खाद्य पदार्थों की लोलुपता रखकर तपस्या करने से, खाद्य-संयम अच्छा है।

जैन-धर्म त्याग-प्रधान धर्म है। उसमें आडम्बर को तिल मात्र भी स्थान नहीं। जैन-धर्म क्या, मैं तो कहूँगा किसी भी धर्म में आडम्बर को स्थान नहीं मिलना चाहिए। धर्म आत्म-शोधनार्थ होता है, उसमें आडम्बर कैसा?

धार्मिक मान्यताओं में विरोधी बातों की अपेक्षा समन्वय ज्यादा होते हैं। ईश्वर सृष्टि में कर्ता है या नहीं, वह व्यापक है या नहीं इत्यादि दो-चार प्रसंगों में आपस में मतभेद होते हैं, पर साध्य सबका एक है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के सम्बन्ध में हरेक धर्म का एक मत है। फिर इन थोड़ीसी बातों को सामने रखकर संघर्ष क्यों किया जाय, जो इन मूल-तत्त्वों के सामने कोई मूल्य नहीं रखतीं। संघर्षण से दियासलाई जलती है—प्रकाश होता है। लेकिन ऐसा प्रकाश किस काम का जो हमको जला डाले। अतः आज संघर्ष का नहीं, समन्वय का समय है।

साधु और गृहस्थ का धर्म अलग-अलग नहीं हो सकता। वह एक है। साधु उसे पूर्णरूपेण अपनाते हैं तो गृहस्थ उसे आंशिक—यथाशक्ति जीवन में उतारते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि एक कार्य साधु के लिए धर्म और गृहस्थ के लिए पाप हो या गृहस्थ के लिए जो कार्य धर्म है वह साधु के लिए धर्म नहीं। धर्म हर हालत में धर्म है। उसमें रूपान्तर नहीं हो सकता।

जोधपुर,
६ सितम्बर, '५३

११४ : क्षमा

संसार दुःखी है और वह इसलिये दुःखी है कि आज व्यक्ति-व्यक्ति की मानसिक स्थिति असन्तुलित बनी हुई है। मनुष्य अपने गुण-अवगुण को पहचान नहीं सकता। फिर दुःख कैसे न हो? दुःख को दूर तो तभी किया सकता है जब कि मनुष्य गुण पर गर्व न करे और अवगुणों से पल्ला छुड़ाये। जब तक ये दो बातें नहीं होतीं तब तक दुःख दूर होना सम्भव नहीं। जब यह होगा, तब निश्चित समझिये, आत्मा में समता का निर्मल स्रोत फूट पड़ेगा। तब अनिर्वचनीय आनन्द बरसानेवाला क्षमत-क्षामना अपने आप मानवता की महान् विजय का शंखनाद फूँकेगा। क्षमा, साधक-जीवन का मूल मंत्र है। उसके अभाव में साधक जीवन की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। जो क्षमा से विमुख होकर क्रोध को प्रश्रय देते हैं वे मानों अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी चलाते हैं। क्रोधी व्यक्ति क्षण भर भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। उसका अन्तःकरण क्रोधाग्नि में क्षण-प्रतिक्षण जलता रहता है। होठों में स्वाभाविक फड़कन और आँखों में लाली छाई रहती है। उस पर भी जो गम्भीर गुस्सेवाले, डसीले, गठीले होते हैं, उनके दुःख और अशान्ति का तो कहना ही क्या? कहते हैं—नरक में प्राणी को एक क्षण भी सुख व शान्ति नहीं मिलती। यह है नरक की बात, किन्तु जो डसीले और गठीले व्यक्ति हैं उनमें उन नरकवासियों से कुछ अन्तर है क्या?

मानव जीवन की इस महान् कमजोरी को अनुभव कर आत्मदर्शियों ने इस भयंकर रोग को मिटाने के लिए खमत-खामना जैसी पावन-पुनीत चिकित्सा पद्धति का आविष्कार किया। यह उनकी महान् देन है, जिसको कभी भुलाया नहीं जा सकता। इस महान् चिकित्सा पद्धति का प्रयोग कर कितनों ने अपना जीवन परिष्कार किया, यह तथ्य जैन-इतिहास के विद्यार्थियों से अज्ञात नहीं। आज भी इस चिकित्सा पद्धति के सहारे कितने व्यक्ति अपने जीवन की पाशविकता को निकाल कर मानवीय आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण करते हैं, इससे भी आज हम अनभिज्ञ नहीं। हम उन महान् महर्षियों के हृदय से कृतज्ञ हैं, जिन्होंने मानवीय दुर्बलताओं को चुनौती देते हुए भीषण अंधकार में एक विराट्प्रकाश-स्तम्भ का निर्माण किया।

यह बात नहीं है कि क्रोधी व्यक्ति को अपनी दुर्बलता का भान नहीं होता ; वह अपनी कमजोरी के लिए भीतर ही भीतर रोता है। वह चाहता है कि जिसके प्रति मेरा वैमनस्य है वह मिट जाय। मगर मिटे कैसे? पहल कौन करे? दोनों को अपनी-अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल रहता है। लोग क्या कहेंगे — अमुक व्यक्ति कमजोर है, हार खा गया। कमखयाली लोग इन तुच्छ उलझनों में उलझे रहते हैं। वे अपने मार्ग का सही निर्माण नहीं कर सकते। मैं पूँजीपति या शक्तिशाली को बड़ा नहीं समझता, बड़ा मैं उसको मानता हूँ जो वैमनस्य को मिटाने के लिए पहल करता है। वह फिर चाहे साधारण स्थितिवाला ही क्यों न हो, सामनेवाले को झुका लेगा, हृदय-परिवर्तन कर देगा और उसकी गति को मोड़ देगा। मुझे मेवाड़ की वह घटना याद आ रही है जिसमें कि एक हरिजन और एक महाजन, उस समय के शब्दों में कहूँ तो एक सेठ और एक ढेढ़ के परस्पर में कुछ अच्छा सम्बन्ध था। कारणवश उनका वह सम्बन्ध टूट गया और आपस में अनबन व वैमनस्य रहने लगा। वैमनस्य बढ़ा तो इतना बढ़ा कि आपस का लेन-देन और यहाँ तक कि बोल-चाल भी बन्द हो गई। सेठ ढेढ़ को देखकर जल उठता और मुँह फेर लेता और ढेढ़ सेठ को देखकर। लगभग १० वर्ष बीत गए किन्तु उनका तनाव कुछ भी कम नहीं हुआ। संयोगवश एक दिन आचार्य भिक्षु के विद्वान् शिष्य हेमराजजी स्वामी का वहाँ आगमन हुआ। सर्व प्रथम ढेढ़ की नजर में वे आये। ढेढ़ पक्का श्रद्धालु था। उसने विचार किया—गाँव में किसी को मालूम नहीं है। अगर मैं सूचना नहीं दूँगा तो कौन सन्तों के सामने आएगा और कौन सन्तों का स्वागत करेगा? किन्तु···किन्तु ··· उस सेठ को मैं कैसे सूचना दूँगा? जिसको मैं देखना, सुनना और समझना तक नहीं चाहता। दो क्षणतक उसके हृदय में अन्तर्द्वन्द्व मचा रहा। वह क्या करे? सेठ की सूचना दिये बिना कार्य सम्पन्न होना कठिन सा लगता था। इतने ही में उसे एक प्रकाश-पुञ्ज दिखाई दिया। उसका सारा अन्तः संघर्ष समाप्त हो गया। उद्वेग और चिन्ता की लपटें एक साथ शांत हो गईं। उदारता और विवेक का महान्

स्रोत उसके हृदय में उतर आया। उसने विचार किया—सेठ से जो मेरा वैर-विरोध है वह दुनियावी झंझट है। आखिर हम दोनों का धर्म तो एक ही है। धर्म को लेकर हम दोनों में कोई विभेद नहीं। अतः धार्मिक कर्तव्य के नाते मुझे सेठ को अवश्य सूचना देनी चाहिए। यह सोचकर वह वहाँ से दौड़ता-दौड़ता सेठ के मकान पर पहुँचा और बाहर से ही उच्च स्वर से आवाज लगाई। सेठ, ढेंढ़ को अपना नाम लेकर पुकारते देख आश्चर्यचकित रह गया। उसने तुरन्त कहा—क्यों भाई? क्या कहते हो? ढेंढ़ ने कहा—गाँव में सन्त आ रहे हैं। सेठ ने पूछा—किधर से? ढेंढ़ ने कहा—उधर से। बस इतना कहकर ढेंढ़ वापस सन्तों के सामने दौड़ आया। इधर सेठ भी सब को सूचना देकर सन्तों के सामने आया। सन्त गाँव में पधारे, व्याख्यान हुआ। सेठ के विचार आज मन ही मन में चक्कर काट रहे थे। ढेंढ़ ने आज उसके मर्म को झकझोर डाला था। सेठ ने विचार किया—ढेंढ़ कितना उदार है जो मुझे सूचना देने मेरे घर आया। व्याख्यान समाप्त होते ही सेठ परिषद् में खड़ा होकर गद्‌गद् स्वरों में अपनी आत्म निन्दा करते हुए हृदय के उद्‌गार प्रगट करने लगा—"श्रद्धेय मुनिवर एवं अन्य भाइयो! मैं आज अपने दिल की बात आप सब के सामने रख रहा हूँ। देखिये, वह जो ढेंढ़ बैठा है उसके और मेरे बीच में आज वर्षों से भयंकर वैमनस्य चला आ रहा है। मैं समझता हूँ आज वह मुनिवर के शुभ-आगमन के कारण समाप्त होने जा रहा है। इसके पहले मैं यह स्पष्ट शब्दों में कहूँगा कि यह उदारचेता ढेंढ़ होते हुए भी सेठ है और मैं संकीर्ण हृदय सेठ होते हुए भी ढेंढ़ हूँ। मैं अन्तरात्मा से प्रेरित होकर कहता हूँ कि अगर सन्तों के आगमन का मुझे पता होता तो मैं त्रिकाल में भी इसको सूचना नहीं देता। इसने ऐसा कर आज मेरे हृदय के सारे कुँठित तारों को झनझना दिया है। इसलिये मैं मानता हूँ—गुण, लक्षण और विवेक से यह सेठ है और मैं ढेंढ़। मैं आज अपने अकरणीय कृत्यों से लज्जित और नतमस्तक हूँ। मैं बद्धांजली उससे प्रार्थना करता हूँ कि वह क्षमा स्वीकार करे और अपनी ओर से मुझे क्षमा प्रदान करे। ढेंढ़ ने तुरन्त खड़े होकर सब के सामने सेठ को क्षमा प्रदान कर मैत्रीपूर्ण वातावरण में क्षमत-क्षामणा किया। देखनेवालों ने इस बिगड़े हुए सम्बन्ध को आशातीत सफलतापूर्वक इस प्रकार प्रेम भावना के साथ सुधरता हुआ देखकर गद्‌गद् स्वरों में दोनों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस घटित घटना से जन-जन को यही शिक्षा ग्रहण करनी है कि वे विचारें, सोचें, विवेकपूर्वक एक-एक कदम आगे बढ़ायें। ऐसे आदर्शपूर्ण मानवीय चित्रों को अपने सामने रख कर आत्म-शोधन करें।

जब मैं सुनता हूँ कि अमुक गाँव में वैमनस्य है, तो सोचता हूँ वे कौन हैं? धार्मिक हैं, जैन हैं? पोषध, उपवास, सामायिक और नाना प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान करनेवाले हैं? मन में आता है—यह क्या? क्या है वह धार्मिकत्व? और क्या है जैनत्व? जब कि

आत्मा में पशुत्व घँसा हुआ है। पशुत्व मनुष्य के आकार-प्रकार में ही नहीं रहता, बल्कि वह भीतर घुसा हुआ रहता है।

आज क्षमा-याचना दिवस है। क्षमत-क्षामणा का अर्थ है—अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में आचरित अनुचित व्यवहार के लिये क्षमा माँगना और अपनी ओर से दूसरों को देना। दोनों ओर के परिमार्जन व विशुद्धि का यह हेतु है। आज के इस महत्वपूर्ण दिन से प्रेरणा लीजिये। स्थिर चित्त और अन्तर दृष्टिमय बन कर अपनी अन्तरात्मा को टटोलिये। अपना परिमार्जन करिये।

आज इस महान् पर्व को एक रश्म के रूप में मनायें। यह जीवन शुद्धि व आत्मान्वेषण का पुनीत पर्व है। दूसरों के प्रति कभी असद् भाव व दुर्व्यवहार मत कीजिये। इस प्रक्रिया को समझ कर आप हृदय से पशुता के समस्त अंशों को निकाल कर तथा हृदय को खोलकर क्षमत-क्षामणा कीजिये। जान या अनजान में किसी के साथ दुर्भावना या दुर्व्यवहार हो गया है तो क्षमा-याचना द्वारा आज उसे साफ कर डालिये और आगे के लिए मन में यह ठान लीजिये कि इस तरह के कार्यों से आप सदा बचे रहेंगे तभी वास्तविकता होगी, जीवन-शुद्धि होगी और आत्मा का महान् उपकार तथा निर्माण होगा तथा क्षमा-याचना दिवस की महत्ता सहस्रधा समर्थित होगी।

कल की रात सोने की रात नहीं थी। मैंने सरदारशहर से लेकर कल तक का सिंहावलोकन किया। चिन्तन और मनन, आलोचन और प्रत्यालोचन के उतार-चढ़ाव में मैंने जी भर कर गोते लगाये। अन्तःस्थल के एक-एक कण को टटोला। जहाँ कुछ ग्लानि या असद्भावना मिली उसको बाहर निकाल कर अन्तःस्थल का विशुद्धि-करण व परिमार्जन किया। अभी मैं सिद्ध नहीं साधक हूँ और जब तक वीतराग नहीं हो जाता, तब तक यह हो नहीं सकता कि किन्हीं परिस्थितियों को लेकर मन में किसी प्रकार की उथल-पुथल न हो। मैं यह ढोंग रचना नहीं चाहता कि मेरे मन में निन्दा, प्रशंसा या झूठे आक्षेपों को सुनकर कभी कुछ विचार आता ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है, इन चीजों को मेरे हृदय में कोई स्थान नहीं मिलता और न कुछ आदर-सत्कार ही। फलस्वरूप एक क्षण के लिये जो कुछ विचार आता है वह टिकता नहीं। दूसरे क्षण में ही वह अपने आप विलीन हो जाता है। रात भर मैं इसी उधेड़-बुन में रहा। जो प्रत्यक्ष हैं या जो परोक्ष हैं उन सबको मैंने हृदय से क्षमा दी और ली। "मित्तीमे सव्वभूएसु वेरं मज्झ, न केणई" यह तो जीवन का मूलमन्त्र है ही। मगर इतना कह देने मात्र से कि ८४ लाख जीवा-योनि के साथ मेरा किसी से विरोध नहीं है, काम नहीं चल सकता। जिनको व्यक्तिगत रूप से आवश्यकतावश कुछ अधिक कहने-सुनने का काम पड़ा उनसे विशेष रूप से क्षमत-क्षामणा किया। जो हरदम मेरे साथ रहते हैं उनको कर्त्तव्य के नाते कड़े शब्दों में ताड़ना भी देनी पड़ती है, मगर कुछ क्षणों के बाद

मेरा हृदय उनके प्रति गद्‌गद् हो उठता है—आखिर ये हैं कौन, मेरे ही तो हाथ-पैर हैं, मैं जिन परिस्थितियों में जकड़ा हुआ हूँ उनके कारण इनके बिना न तो मैं बैठ ही सकता हूँ और न एक कदम चल ही सकता हूँ। इस प्रकार साध्वियों को भी आगे बढ़ाने के लिए मुझे यदा-कदा कुछ कहना पड़ता है। इसके साथ लाखों श्रावक-श्राविका भी मेरे सम्पर्क में आते रहते हैं। यद्यपि मैं उनको पहचानता अवश्य हूँ मगर किसी-किसी के नाम सम्भवतः नहीं जानता। सम्भवतः ध्यान न जाने पर किसी की वन्दना भी स्वीकार न की गई हो, किसी को तीव्र शब्दों में उपालम्भ भी दिया गया हो। रात को मैंने उन सब के साथ अन्तःकरण से क्षमत-क्षामणा किया। इसी प्रकार विरोधियों के साथ यद्यपि मेरा सारा विरोध को विनोद समझना है, उनके साथ मेरे हृदय में कोई शिकायत नहीं, तथा उन जैनेतरों के साथ जिनके साथ अनेक प्रकार की तात्त्विक चर्चाएँ चलती रहती हैं, सबके साथ रात को क्षमत-क्षामणा किया।

आखिर मैं सब से यही कहूँगा, लोग इस महान् पर्व को ढर्रे के रूपमें न मानकर वास्तविक रूप में मनायें।

जोधपुर,
१३ सितम्बर, '५३

११५ : क्षमत-क्षामना

विश्वबंधुत्व की भावना को फैलाने के लिए यह जरूरी है कि हम किसी पर व्यक्तिगत आक्षेपात्मक नीति को अख्तियार न करें। ऐसे पैम्फलेटों द्वारा या किसी भी तरह ऐसा प्रचार न करें जिससे किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप होता हो। दूसरे शब्दों में यों कहें कि हमारी नीति मण्डनात्मक रहनी चाहिए। यदि इस पर अमल किया गया तो हमारा यह क्षमत-क्षामना सिर्फ शाब्दिक ही न रहकर सार्थक होगा। हमारी तरफ से हमेशा व्यक्तिगत खण्डन न करने का ख्याल रखा गया है व आगे भी रखा जायेगा।

साधु वही है जो किसी भी अवस्था में अपने आचार व अपने परित्यागों से विचलित नहीं होता। उसके लिए अपने आचार के सामने प्राणों का कोई मूल्य नहीं। वह उन्हें तुच्छ समझता है। आज हमारे पूर्वाचार्य हमारे बीच में नहीं हैं लेकिन उनकी वह दृढ़ता, वह आत्मबल हमें आज भी एक सजीव प्रेरणा देते हैं। यह शरीर नश्वर है, यों ही चला जानेवाला है फिर क्यों न हम अपने आचार, त्याग और संयम पर दृढ़ रहें।

जोधपुर,
१४ सितम्बर, '५३

११६ : दासता से मुक्ति

"दासता बुरी है, पर इससे भी बढ़कर इन्द्रियों की दासता बहुत बुरी है। दूसरों की परतंत्रता से मुक्त होना सहज है, पर अपनी इन्द्रियों की दासता से मुक्त होना जरा टेढ़ी खीर है। बड़े-बड़े व्यक्ति जो अपने आप को स्वतंत्र मानते हैं; अपनी इन्द्रियों के दास देखे जाते हैं। इन्द्रियों की दासता वास्तविक दासता है और इस दासता से मुक्त होना ही वास्तविक स्वतंत्रता है।"

तृषा अनन्त है, संसार की वस्तुएँ सीमित हैं, परिमित हैं। अनन्त तृषा परिमित वस्तुओं से तृप्त नहीं हो सकती। भगवान् महावीर ने उस अनन्त तृषा को शान्त करने के लिए अपरिग्रह महाव्रत बतलाया और उसीका छोटा रूप अपरिग्रह अणुव्रत है, जिससे सर्वसाधारण उसे अपना सकें। यहां प्रश्न उठता है कि व्रत को यथाशक्ति अपनाना क्या व्रत में शिथिलता लाना नहीं? वास्तव में सही रूप से देखा जाय तो वह शिथिलता नहीं वरन् व्रत को व्यावहारिक बनाना है।

सज्जनो और देवियो! समय रहते चेतो। अपरिग्रह अणुव्रत को जीवन में उतारो। देखो, सत्ताधारियों की सत्ता गई, राजाओं का राज गया, जागीरदारों की जागीरें चली गईं। अतः आप यह मत सोचें कि आपकी पूंजी स्थिर रहनेवाली है। नहीं यह अस्थिर है और समय के थपेड़ों से चली जानेवाली है। यदि समय रहते नहीं चेता गया तो उस खरगोश की सी हालत होगी जो अपने लम्बे कानों से आँखें ढक लेता है और सोचता है उसे कोई नहीं देखता है। पर तथ्य विपरीत होता है। उसे ही कुछ नहीं दीखता। अतः आप भी इस तरह न बनकर समय रहते चेतिये।

जोधपुर,
१५ सितम्बर, '५१

११७ : प्रतिष्ठा का मानदन्ड

आज जीवन के ऊँचेपन तथा प्रतिष्ठा का मानदण्ड बदल गया है। जहां त्याग, सेवा, संयम व साधना ऊँचेपन का मानदण्ड था; आज वहाँ अधिक से अधिक अर्थ-संग्रह कर लेना ही ऊँचेपन की कसौटी है। फलतः विद्यार्जन जिसका लक्ष्य, आत्म-संयम व चारित्र विकास होना चाहिए उसे आजीविका के लिए किया जाता है। यह हीन मनोवृत्ति का परिचायक है। विद्यार्थियों को यह वृत्ति छोड़नी होगी। वे विद्या के सही लक्ष्य को समझें। आजीविका ही एकमात्र उनका ध्येय नहीं होना चाहिए।

आज श्रद्धा और आत्मविश्वास की छात्रों में कमी दिखाई देती है। आस्तिक-भावना दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है। नास्तिकता को बढ़ावा मिल रहा है।

आत्मा के अस्तित्व में निष्ठा कम होती जा रही है। पर ध्यान रहे! बाहर से दीखनेवाला यह जीवन ही जीवन नहीं है। इसकी परिधि इससे भी विशाल है। जैसे वृद्धावस्था से पूर्व यौवन, यौवन से पूर्व बचपन है उसी तरह बचपन व जन्म से पूर्व भी एक ऐसी स्थिति है जिसके संस्कार हमें एक ही साथ पैदा हुए विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार आत्मवाद के स्वरूप को विद्यार्थियों को हृदयंगम करना है जिसके लिए श्रद्धा की महती आवश्यकता है। श्रद्धापूर्ण तर्क श्रेयस् का हेतु है जब कि शुष्क तर्क केवल वाक्‌विलास व दिमागी व्यायाम है।

विद्यार्थी चारित्र, सदाचार, ब्रह्मचर्य आदि गुणों को अपनाकर अपने अमूल्य जीवन को सही माने में सफल बनायें।

जोधपुर,
१५ सितम्बर, '५३

११८ : जीवन को निर्मल करें

हमारा जहाँ कहीं भी जाना है जीवन उत्थान करने के लिए है। जीवन-उत्थान के लिए आचार-विचार की विशुद्धता अत्यन्त आवश्यक है। जैसा आचार होगा, साधारणतया वैसा ही विचार होगा। इससे यह प्रकट है कि विचार से कहीं अधिक महत्त्व आचार का है। अस्तु, आचारी बनो, जीवन निर्मल करो।

जोधपुर,
१६ सितम्बर, '५३

११९ : पट्टोत्सव

वक्ताओं ने मेरे परिचय में बहुत सारी बातें कहीं और मेरी स्तवना की। पर मुझे इसमें कोई प्रसन्नता नहीं। मेरे लिए आज अपने लेखे-जोखे, सिंहावलोकन तथा भावी नीति के उद्‌घोषण का समय है। वर्ष भर की घटनाएँ आज मेरे समक्ष मानो सजीव होकर नाच रही हैं। मैंने आत्म-निरीक्षण किया और वर्ष भर का सिंहावलोकन किया। अपनी नीति के सम्बन्ध में भी आपलोगों के समक्ष दो शब्द कह दूँ। हमारी नीति मण्डनात्मक—समन्वयात्मक रही है और आगे भी रहेगी। हमारे द्वारा किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप न होना चाहिए। पर इसका मतलब यह नहीं कि हम शिथिलाचार को देखकर भी कुछ नहीं कहेंगे। हमें चोर पर आक्रमण नहीं करना है, चोरी को खत्म करना है। लोग प्रगति के नाम पर भटकें नहीं। प्रगति का वास्तविक अर्थ है—आत्मशोधन में सजग रहते हुए जनता को आत्मचेतना व व्यवहार-शुद्धि में अग्रसर करना। सही माने में यही धर्माराधना है। धर्म आत्म-शुद्धि का प्रतीक है। वहाँ

संकीर्णता व अनुदारता कैसी ? क्या महाजन और क्या हरिजन धर्म सुनने, उसपर चलने का सबको अधिकार है। धर्म जैसी निर्बन्ध-बेलाग व सार्वजनिक वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष, किसी जाति विशेष और समाज विशेष का अधिकार कैसे हो सकता है ? अस्तु ; इस विशाल भावनामूल नीति के लिए मेरा प्रयत्न है कि जन-जन में धर्मभावना, सत्वृत्ति, सचाई व न्याय की प्रतिष्ठा हो, जिससे मानव-समाज आज के नारकीय जीवन से छुटकारा पा दैवी जीवन में प्रवेश पा सके।

जोधपुर,
१७ सितम्बर, '५३

१२० : सिंहावलोकन की बेला

अभी-अभी मेरा अभिनन्दन किया गया। बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनाई गयीं, अनेक याचनाएँ और मंगल-कामनाएँ की गयीं। बड़े-बड़े उपहार भेंट किये गये। मेरे परिचय में बहुत सी बातें कही गयीं और मेरी स्तवना की गई। लोगों की दृष्टि में आज के दिन का विशेष महत्त्व है किन्तु उस दृष्टि से मेरे लिए आज के दिन का कोई विशेष महत्त्व नहीं। मेरे लिए तो आज का दिन भार का दिन है। लेखे-जोखे, वार्षिक सिंहावलोकन, आत्म-निरीक्षण और भावी नीति के उद्घोषण का दिन है। इस दृष्टि से अवश्य मैं इस दिन की महत्ता स्वीकार कर सकता हूं। यों यह दिन लोगों का है, मेरा नहीं।

इस महान् उत्तरदायित्वको सम्भाले आज मुझे १७ वर्ष पूरे हो गये और आज १८वां वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। कल जैसी बात है—वह हरा-भरा मेवाड़, वह गंगापुर, वह रंगभवन, वे महामहिम अष्टमाचार्य श्री कालुगणी, वह विशाल मानव मेदिनी, ये सारे के सारे दृश्य आज भी चलचित्र की नाईं मेरी आँखों के सामने साकार से नाच रहे हैं। कल की सी बात लगने पर भी यह कटु सत्य है कि आज उन दृश्यों को देखे १७ वर्षों की एक दीर्घकालीन काल-शृंखला बीत गई है।

गत वर्ष यह पुनीत तिथि सरदार शहर में मंत्री मुनि के पास मनाई गयी थी। मैंने उस अवसर पर वार्षिक सिंहावलोकन, आत्म-निरीक्षण और भावी नीति का निर्धारण किया था। आज भी मुझे वही करना है। इस वर्ष संघ में अनेक प्रगति के उल्लेखनीय कार्य हुए हैं। दीक्षाएँ संघ-प्रगति की एक प्रमुख अंग हैं। इस वर्ष जो दीक्षाएँ हुईं वे उल्लेखनीय हैं। पूर्व संस्कार और वैराग्य से प्रेरित होकर आत्म-शुद्धि के लिए जो १० भाई और २० बहनें दीक्षित हुई हैं वे सब आपके सामने ही हैं। दीक्षा के साथ-साथ संघ में जो शिक्षा का क्रम चालू रहा वह भी प्रगति लिए हुए है। तपस्या संघ के शुभ का भावी संकेत है। मैं देखता हूँ इस वर्ष संघ चतुष्टय में बड़ी-

बड़ी भीषण तपस्याएँ हुई हैं। मैं मानता हूँ कि तपस्या आत्म-शुद्धि के साथ-साथ संघ-शुद्धि के महान् यज्ञ को सफल करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस वर्ष एक तपस्वी ने घोर तपस्या करते हुए हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। शास्त्रों में लघुसिंह नाम की एक घोरतम तपस्या का उल्लेख आता है, उसमें एक दिन की तपस्या से लेकर ९ दिन की घोर तपस्या तक आरोह-अवरोह का एक विचित्र क्रम रहता है। इस महान् तप को करते हुए संघ के एक साधु ने अपने जीवन की बाजी लगा दी। संघ के लिए यह एक महान् देन है। इसी तरह संघ की एक साध्वी को एक काले सर्प ने काट खाया, मगर उसने किसी प्रकार की औषधि का सेवन न करते हुए आजीवन अनशन कर वीरवृत्तिपूर्वक अपने प्राण छोड़ दिये। इसके साथ-साथ संघ में आजीवन अनशन तप भी अनेक हुए, जिनमें कई श्राविकाओं के अनशन तो बड़े ही रोमांचकारी हुए जो विशेष उल्लेखनीय हैं। अनेक साधु-साध्वी दिवंगत हुए तो कुछ संघ बहिष्कृत भी हुए या कर दिये गये। आगमन-गमन तो होता ही रहता है। इसके लिए न तो मुझे कोई खेद है और न कोई प्रसन्नता। इस वर्ष यात्रा भी काफी लम्बी हुई। थली में रहकर अनेक नये अनुभव प्राप्त किये। इधर बीकानेर से यहाँ तक के मध्यवर्ती ग्रामों व नगरों में अनेक प्रकार के कटु व मधुर अनुभव मिले। कहीं-कहीं विरोध का भी सामना करना पड़ा। किन्तु अपनी कट्टर व मजबूत शान्ति-नीति के सामने विरोध के अपने आप घुटने टिक गये। विद्या, शिक्षा, अध्ययन, तत्त्वज्ञान और सामूहिक स्वाध्याय की भी आवश्यकतानुसार उत्साहपूर्वक प्रगति हुई है और इन सब बातों के बाद इस वर्ष नवान्हिक पर्यूषण पर्व का कार्यक्रम तो अत्यन्त ही प्रगतिपूर्वक सफल और आकर्षण का केन्द्र रहा। इसमें अनुभव हुआ कि यह कार्यक्रम वास्तव में ही सजीवता, चेतनता और स्फूर्तिदायक था। सब जगह इसको बड़ा पसन्द किया गया। लोगों की भावना सुनने में आ रही है कि ऐसा सुन्दर कार्यक्रम प्रति वर्ष पर्यूषण पर्व पर अवश्य रहना चाहिए। विरोध पीछे भी आये और आज भी आते रहते हैं। उनकी संघ या मेरे पर किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं है। जब विरोध को विनोद समझना ही हमारा नारा है तब उसका क्या प्रभाव और क्या असर हो सकता है? मैं समझता हूँ— विरोध एक चेतावनी है, प्रेरणा है। विरोध को सुनकर हमें आत्म-चिन्तन और मनन करना चाहिए। जागरूक हो जाना चाहिए। यदि हममें किसी प्रकार की कमी है तो उसको तुरन्त निकाल फेंकना चाहिए और नहीं है तो फिर उस विरोध को अरण्यरुदन की तरह बिलकुल निरर्थक समझना चाहिए, घबराने और झुँझलाने की कोई आवश्यकता नहीं।

मुझे इस बात की अत्यन्त प्रसन्नता है कि संघ अत्यन्त चारित्रवान, विकासोन्मुख और मजबूत है।

वार्षिक सिंहावलोकन के बाद आत्म-निरीक्षण करते हुए मुझे यह कहना है कि मुझे अत्यन्त लोभ है। यद्यपि लोगों को मैं लोभ से दूर रहने के लिए प्रबल प्रेरणा देता रहता हूँ, मगर फिर भी आश्चर्य! मुझे सन्तोष नहीं। मैं चाहता हूँ कि कार्यक्रम में और कार्य-क्षेत्र में जो अपूर्णता है, वह शीघ्रातिशीघ्र समाप्त हो जाय। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी सनातन सत्य है कि हमारा जो कार्यक्रम है वह कभी सम्पूर्ण होनेवाला नहीं है। वह दिन-प्रतिदिन बढ़े और हम उसमें अटल विश्वास और दृढ़ता के साथ जुटे रहें, इसीमें भविष्य की प्रगति का शुभ संकेत जुड़ा हुआ है।

कुछ लोगों की विचारधारा है कि 'करने या मरने' का सिद्धान्त लेकर तथा मर्यादा और नियमों को तोड़ना पड़े तो उन्हें तोड़कर भी संसार की उन्नति और निर्माण के लिए जी-जान से जुट जाना चाहिये। मैं यह स्पष्ट कह दूं कि मेरी ऐसी विचारधारा नहीं है। मेरी दृष्टि में आचार को छोड़ कुछ करना खुद की दुर्गति करना है। खुद पथभ्रष्ट होकर औरों के हित साधन की बात का मैं कभी समर्थन नहीं कर सकता। इसलिए मैं सचमुच एक-एक कदम सम्हल-सम्हल कर आगे बढ़ता हूँ। रातको नींद से जग जाने पर मैं यही चिन्तन करता हूं कि कहीं कोई ऐसा कदम तो नहीं बढ़ाया है जो प्रगतिमूलक होने पर भी जीवन को और कहीं ले जानेवाला है। १०-२० मिनट चिन्तन के बाद जब पूर्ण सन्तोष हो जाता है तब जाकर शान्ति मिलती है।

मैं अपने सहयोगी कार्यकर्त्ता साधु-साध्वियों से कहना चाहूंगा कि वे इस बात का प्रतिक्षण ध्यान रखें कि सांसारिक कार्यकर्त्ताओं से हमारा प्रगति-पथ कुछ भिन्न और दूसरा है। दुनियावी कार्यकर्त्ता प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, प्रदर्शन और विज्ञापन चाहते हैं जबकि हमें इन चीजों से सर्वथा दूर और अस्पृश्य रहकर आगे बढ़ना है। यह दूसरी बात है कि जो काम करता है उसकी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा अपने आप बढ़ती है। किन्तु उसकी ओर हमारी लालसा तथा ध्यान कभी नहीं होनी चाहिए। यश, नाम, प्रतिष्ठा आदि क्षणिक हैं, उनके लिए काम करना शोभास्पद और उचित नहीं। मैं समझता हूँ कि हमारा संघ इन तुच्छ बातों की स्वप्न में भी लालसा नहीं रखता है और न रखेगा।

कुछ लोग कहते हैं—आप अभी तक यहीं बैठे हैं। आपको तो रोरोप्लेन के द्वारा समग्र संसार की यात्रा करनी चाहिये। मेरी समझ में नहीं आता, ऐसा कहनेवाले लोगों ने मुझे क्या समझ लिया है? मैं एक जैन साधु हूँ; धार्मिक जगत् का उपासक और साधक हूँ। मेरे लिए जहाँ जाना शक्य है, वहांतक ही मैं पहुंच सकता हूं। प्लेन, ट्रेन, कार आदि का उपयोग मेरे लिए किसी भी हालत में सर्वथा वर्जनीय है। मुझे कदम-कदम पर अपनी आत्मा की सम्भाल रखते हुए आगे बढ़ना है।

अव मुझे भविष्य की नीति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहने हैं। व्यापक दृष्टिकोण से जन-जीवन का सुधार करना हमारी नीति रही और भविष्य में भी रहेगी। इसके साथ-साथ हमें खण्डनात्मक नीति से दूर रहते हुए मण्डनात्मक नीति को साथ लेकर चलना है। मण्डनात्मक नीति हमारे पूर्वजों की देन है, जिसे हमें विरोध के दलदल से दूर रहकर और अधिक विकसित करना है। मण्डनात्मक नीति का यह मतलब नहीं कि हम शिथिलाचार का भी खण्डन न करें। हमें मण्डनात्मक नीति पर स्थिर रहकर भी शिथिलाचार पर क्रूर प्रहार और क्रूर चोट करनी है। हाँ, यह ध्यान देनेकी वात है कि जिस प्रकार चोर पर प्रहार न कर चोरी पर प्रहार करने की हमारी मान्यता है ठीक उसी प्रकार हम किसी व्यक्ति विशेष पर प्रहार न कर शिथिलाचार पर डटकर प्रहार करें, इसमें मुझे न तो तनिक भय ही है और न कोई संकोच ही। यद्यपि यह कहा जाता है और ठीक भी है कि आज का युग खण्डन का नहीं है। किन्तु मेरा यह दृढ़ मन्तव्य है कि जहाँ दुराचार, अनाचार और शिथिलाचार मिले वहाँ वज्रादपि कठोर वनकर उनपर प्रहार करना ही चाहिए। शिथिलाचार का खण्डन भी यदि आज के युग की ओट लेकर रोका जायगा तो क्या शिथिलाचार को प्रोत्साहन और प्रश्रय नहीं मिलेगा?

लोग मुझे संगठन-प्रिय वताते हैं और कहते हैं—आप चाहें तो संगठन को वड़ा वल मिल सकता है। लोगों का यह कहना अच्छा है। वास्तव में मुझे संगठन से बहुत प्रेम है। जहाँ आचार-विचार का सामंजस्य है वहाँ संगठन होने में बाधा नहीं, किन्तु जहाँ आचार-विचार का सामंजस्य नहीं, वहाँ संगठन से क्या वनना है? आज की यह आवाज जरूर है किन्तु अपनी मूल पूँजी आचार-विचार की ओर ध्यान जाते ही मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि संगठन आचारवान व विचारवान व्यक्तियों का ही होना चाहिए। चाहे अकेला रहना पड़े तो जीवन को जगाना मंजूर है, आचार पर प्राणों की वलि चढ़ा देना स्वीकार्य है, किन्तु आचारहीनों का संगठन मुझे कभी अभीष्ट और स्वीकार्य नहीं। हाँ, यदि आचारी व्यक्तियों के संगठन का काम पड़े तो मैं उन्हें अपनाने के लिए प्राणपण से तैयार हूँ। आचार्य भिक्षु स्वामी का इस विषय में मुझे पथ-प्रदर्शन प्राप्त है। आचार्य भिक्षु ने एक प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट कहा था—"यदि आचारी साधु मिले तो मैं उन्हें अपनाने के लिए आधी रात को तैयार हूँ। यदि वे मुझ से दीक्षा में बड़े होंगे तो मैं उनके पैरों में गिर पड़ूँगा, और यदि वे मुझ से दीक्षा में छोटे होंगे तो मैं उनको अपने पैरों में गिरा लूँगा।" यदि आचारी नहीं तो स्वामीजी ने साफ़ लिखा है:

"कहो साधु किसका सगाजी, तड़के तोड़ै नेह।
आचारी स्यूं हिलै मिलै जी, अनाचारी सुं छेह॥"

इसलिए जो आचारी हैं उनके साथ हमें बिना किसी संकोच के दूध में पानी की तरह हिल मिल जाना है और जो आचारी नहीं, उनसे हमारा क्या सम्बन्ध है? अतः हमारी यही नीति रही और यही रहेगी कि संगठन प्रेमी होते हुए भी हमें संगठन आचारयुक्तों का करना है न कि आचरण हीनों का।

हमारा दृष्टिकोण व्यापक रहे। संकीर्णता से दूर हटकर विशुद्ध धर्म-भावना का बिना किसी भेदभाव के प्रचार करें। लोग मुझे कहते हैं आप अजैनों को जैन बनाइये। इसमें आप बड़े सफल होंगे। लाखों अजैन जैन बनेंगे। मुझे यह बात भाती नहीं। जैसे किसी अन्य जैन सम्प्रदायानुयायी के तेरापन्थी बनने पर उनको अपनी कमी देख कर दुःख होता है, क्या उसी प्रकार अजैनों के जैन बनने पर अजैनों को दुःख नहीं होगा? क्या उनमें कमी नहीं होगी? मगर मेरा ऐसा दृष्टिकोण नहीं, संख्या बढ़ाकर क्या करना है? मेरा तो एक ही काम और एक ही दृष्टिकोण है, वह है—अपनी विचारधारा बिखेरना, जैन या अजैन का उसमें कोई सवाल नहीं। सब में मुझे उसको बिखेरना है। उस विचार धारा से कोई प्रभावित हो तो उस पर मोहर लगा देना है। मोहर से और कुछ मतलब नहीं, उससे सिर्फ यही मतलब है कि विचारधारा की मोहर उसके हृदय में प्रतिबिम्बित कर देना है। इस दृष्टि से जो अणुव्रती या तेरापन्थी बनते हैं उससे किसी को अप्रसन्न या नाराज होने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं फिर उसी बात को दोहरा देता हूँ—मेरी ओर से कोई भय न रखे। सबको मेरा अभयदान है। न तो मेरा किसी को संख्या वृद्धि की दृष्टि से तेरापंथी बनाने का दृष्टिकोण ही है और न मैं बनाता ही हूँ। मैं तो सिर्फ अपनी विचारधारा का प्रसार करता हूँ और भविष्य में भी निर्विवाद करता रहूँगा। भय खानेवालों से भी मैं यही कहूँगा कि वे अपनी कमजोरियों को मिटायें। भय कमजोरी का है कमजोरी मिटने पर भय का कोई सवाल ही नहीं रहेगा।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'क्या आपके विचारों को सारा संसार ग्रहण कर लेगा?' वे असंदिग्ध रूपसे समझें कि भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध जैसे महात्मा भी ऐसा नहीं कर पाये थे, उनको ऐसी आशा भी नहीं थी, तो मैं क्यों कर ऐसी आशा करूँगा?

हाँ, तो मैं व्यापक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कह रहा था। हमें आत्म-साधना से सजग रहते हुए जनता को आत्म-चेतना व आत्म-शुद्धिमें अग्रसर करना है। धर्म आत्म शुद्धि का प्रतीक है। वहाँ संकीर्णता और अनुदारता कैसी? क्या महाजन और क्या हरिजन, धर्म जैसी निर्बन्ध, बेलाग व सार्वजनिक वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष, किसी जाति विशेष व किसी समाज विशेष का अधिकार कैसे हो सकता है? इसलिये हमें हरिजन

या महाजन, स्पृश्य या अस्पृश्य, बिना किसी भेदभाव के सबको धर्म सुनाना है। सब अपने-अपने काम करते हैं। किसी काम के करनेसे ही कोई ऊँचा या नीचा नहीं बन जाता। हमें समभाव से सबको जीवन-शुद्धि और जीवन-निर्माण की प्रेरणा और पथ प्रदर्शन देना है।

अभी एक वक्ता (भिक्षु रङ्ग विजयसी) ने अपने विचार व्यक्त करते हुए अणुव्रती संघको 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त का प्रवर्तक बताया। इस बात में थोड़ा अन्तर है।

अगर जीने का यह अर्थ किया जाता है कि खाओ, पीयो, ऐश आराम करो और ऐश आराम पहुँचाओ तो निस्सन्देह अणुव्रती संघ के पीछे यह विशेषण नहीं जोड़ा जा सकता। मेरी दृष्टि में इसका अर्थ यों दिया जाना चाहिये कि संयमपूर्वक जीओ और सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, जीना सबको प्रिय है अतः किसीको कष्ट न दो, किसीको न मारो, किसीका वध बन्धनादि न करो, किसी के प्रति मिथ्या कलङ्क आदि न लगाओ, किसी के धन का अपहरण न करो, किसी के साथ दुर्व्यवहार न करो, आदि। इस दृष्टि से अणुव्रती संघ अवश्य ही 'जीओ और जीने दो' का पोषक और प्रतिपादक है। आध्यात्म-जगत में असंयमपूर्वक जीने और असंयम पूर्वक जीने में सहयोग देने का कोई महत्व नहीं। हाँ तो संयम पूर्वक जीने तथा अपनी ओर से किसी के जीने में बाधा न पहुँचाने का ही महत्व है। इसी व्यापक भावना को लेकर अणुव्रती संघका जन-जन में प्रचार करना है।

श्रावक-समाज को भी मैं चेतावनी देते हुए कहूँगा कि वे युग की ओर युगान्तर-कारी तीर्थंकरों की आवाज को समझें। वे व्यापक दृष्टिकोण को अपनाकर निरवद्य-धार्मिक प्रचार में अपना सहयोग प्रदान करें।

केवल बड़ी-बड़ी बातें बनाना और बड़ी-बड़ी योजनायें बनाकर रजिष्टरों में रख देना सहयोग नहीं है। सहयोग तो वह होता है जिसमें अपना जीवन और समय खपाया जाता है। अपने घर में, पड़ोस में और समाज में जो कुरीतियाँ, जो बुराइयाँ और जो त्रुटियाँ घर कर गई हैं, उनको मिटाने के लिये आज एक व्यवस्थित, मजबूत और सक्रिय उपक्रम की नितान्त आवश्यकता है। श्रावक समाज से मैं यही सहयोग चाहता हूँ कि वे अपने आपको इसके लिये पूर्ण तैयार कर ऐसे महत्वपूर्ण और आवश्यक उपक्रम में अपना समय और अपना जीवन समर्पित करें। सुधार, विकास और उन्नयन केवल बातों या स्कीमों से साकार व सफल नहीं हुआ करते। इसके लिये अपना जीवन झोंकना पड़ता है, अपना सर्वस्व बलिदान करना पड़ता है तब कहीं जाकर अपना अपने पड़ोस का और अपने समाज का जीवन विकसित और उन्नत होता है।

मैं उनसे कहूँगा वे पहले अपने आपका निर्माण करें। प्रचार के प्रयास में वे कहीं खुद को न भूल जायें। खुद को बनाकर यदि वे व्यापक धर्म भावना का प्रसार करेंगे तो उन्हें अवश्य सफलता मिलेगी।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि हम अपनी सफल नीति पर सदा दृढ़तापूर्वक डटे रहेंगे। अहिंसा, विश्व-मैत्री और विश्व-बन्धुता के पावन पुनीत न्यायमार्ग से हम कभी एक इंच भी पीछे नहीं हटेंगे।

"निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः"

इसलिये हम व्यापक नीति को लिये जन-जन में धर्म भावना, सद्वृत्ति, सच्चाई व न्याय की प्रतिष्ठा फैलायें, जिससे मानव समाज आज के नारकीय जीवन से छुटकारा पा दैवी जीवन में प्रवेश पा सके। इन्हीं शब्दों के साथ वार्षिक सिंहावलोकन, आत्म निरीक्षण और भावी नीति-निर्धारण के साथ-साथ मैं आज का वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

जोधपुर,
१७ सितम्बर '५३

१२१ : आत्म-दमन

आज हरएक व्यक्ति चाहता है कि मैं दूसरों पर हुकूमत करूँ, दूसरे मेरे नियंत्रण में रहें, मेरा शासन हरएक व्यक्ति पर चले। इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि मानव अपने को भूल बैठा। मानव ने अपने अन्तरतम की परख छोड़कर बहिर्जगत् में नजर दौड़ाई और उसीमें वह बढ़ता चला गया। उसे यह ज्ञान भी नहीं रहा कि उसके जीवन की धारा किधर जा रही है। जिसके फलस्वरूप उन्नत होने के बजाय मानव अवनत बन गया। मैं कहूँगा कि यदि मानव को सही रूप से सुख और शान्ति की प्यास है, तो वह आत्म-द्रष्टा बने ; पर-द्रष्टा नहीं।

आत्म-दमन अथवा आत्म-नियंत्रण ही आत्म-विकास का सही सोपान है। भारतीय संस्कृति ने सदा ही आत्म-नियंत्रण पर जोर दिया है। दूसरों का दमन करना छोड़ अपने आप का दमन करो। इससे जीवन में एक नई चेतना और स्फूर्ति जागेगी।

बुराइयों का परिहार होगा। मानव प्रमादी न बने। प्रमाद भय है, दोष है और वर्जनीय है। प्रमाद चारित्र को नीचे गिराता है। आत्मा का भयानक शत्रु है। अतः मानव अप्रमाद का सहारा लेकर प्रमाद को जीते। जिससे उसमें निर्भयता आयेगी और उसका आत्मबल जाग उठेगा।

जोधपुर,

१९ सितम्बर, '५३

१२२ : संस्कृति और युग

संसार में हरएक प्राणी चाहते हैं कि उनका जीवन विकासोन्मुख हो। उन्हें सच्ची शान्ति मिले, पर क्या उन्होंने कभी सोचा—शान्ति का सही रास्ता क्या है? वे दिन दहाड़े खुल्लम-खुल्ला अशान्ति और दुःख के साधन जुटाते रहते हैं और कल्पना करते हैं सुख तथा शान्ति की। दुःख के साधनों से सुख मिल जाय—यह कैसे सम्भव है? उन्हें अपने मन में यह ठान लेना होगा कि संसार के भोगों और विषय-वासनाओं में सुख लेशमात्र भी नहीं है। वह तो सुखाभास है, जिसका परिणाम है दुःख, क्लेश और अशान्ति। सच्चा सुख संयम, सदाचार, सन्तोष और सादगी में है।

आज लोग आजाद हैं और उन्हें बाह्य सुख-सुविधाएँ भी अधिक से अधिक प्राप्त हो रही हैं। मगर मुझे ऐसा लगता है कि आज उनकी आत्मिक शक्ति दिन प्रतिदिन पतनोन्मुख होती जा रही है। पुराने जमाने की कल्पना कीजिए जब बाह्य सुख सुविधाओं का इतना विकाश नहीं था फिर भी लोग अपने को सन्तुष्ट महसूस करते थे। अशिक्षित कहकर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में आत्मिक-शक्ति पर उनका अधिकार था। बाह्य दुःखों से वे घबराते नहीं थे। आज वे कहने के लिए आजाद हैं; किन्तु मुझे कहने दीजिये आज वे अधिक परतंत्र हैं और यदि कड़े शब्दों में कहूँ तो आज वे गुलाम हैं। अन्तःस्थित तत्त्वों को भूल कर बाह्य तत्त्वों में लुभाना दूसरे शब्दों में कहूँ तो 'स्व' को भुलाकर 'पर' के अधीन होना क्या गुलामी नहीं? यह सब भारतीय मौलिक परम्परा को भुला देने का ही दुष्परिणाम है।

भारतीय ऋषियों ने बताया है कि जो पदार्थज यानी बाह्य पदार्थों के संयोग से सुख-दुःख मिलता है वह क्षणिक और विनश्वर होता है। यहाँ जो 'स्व' और 'पर' का संयोग होता है उसे आशक्ति कहा जाता है आशक्ति को शास्त्रीय शब्दों में आर्तध्यान कहा गया है। आर्तध्यान का अर्थ है कि इष्ट विषयों का वियोग होनेपर उनके संयोग के लिए और अनिष्ट वस्तुओं के संयोग होने पर उनके वियोग के लिए जो

आतुरता होती है—एकाग्र चिन्ता होती है, उसे आर्तध्यान कहा जाता है। आर्तध्यान एक महान् आन्तरिक रोग है। इसके सद्भाव में अन्तरात्मा का स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है और विविध प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। जो आत्मद्रष्टा होते हैं वे सर्वप्रथम इस आन्तरिक रोग का मूलोच्छेद करते हैं। ऐसा होते ही वे समस्त दोषों से मुक्त होकर पूर्ण स्वस्थ और सच्चिदानन्द में लीन हो जाते हैं।

मुझे सखेद कहना पड़ता है कि लोक आन्तरिक रोगों को भूलकर बाह्य रोगों में उलझ गया। किसी का शारीरिक रोग मिटा देना, किसी को भोजन खिला देना, और किसी को पानी पिला देना, आदि-आदि लौकिक कर्तव्य पालन में ही महान् पुण्य की इतिश्री मान बैठा—यह अनुचित हुआ है। दया और दान के नाम पर समाज के एक अंग के अपकर्ष और हीनता का समर्थन आज सहा नहीं जा सकता। सामाजिक भाइयों के प्रति सामाजिक दृष्टि से सहयोग या सहायता की उनकी अपेक्षा भले ही रहे मगर दया और दान के नाम पर उनके साथ अन्याय नहीं किया जा सकता। जैन-दर्शन में उसे वास्तविक पारमार्थिक दया बतायी गयी है जो पापमय आचरणों से अपनी या दूसरे की आत्मा को बचाये। दोषों और आन्तरिक रोगों में गड़ी हुई आत्मा को मुक्त कर उसको सुधार कर देना, इसका नाम है दया, अहिंसा। भारत की जनता की कुछ ऐसी ही स्थिति और मनोवृत्ति रही है कि यहाँ पर प्रत्येक कार्य के नाम पर धर्म का जामा पहना दिया जाता है। यदि संस्था का चन्दा करना है और चन्दा नहीं देते तो कह देते हैं कि बड़ा धर्म होगा। बस फिर क्या? पैसे की कोई कमी नहीं रहती। यह क्या? धर्म को यों छोटी-छोटी बातों में क्यों उलझा दिया जाता है? धन का संचय किया जाता है तो उसका किसी न किसी प्रकार व्यय भी किया जाता है। धन के संचय में जब धर्म का सवाल नहीं तो उसके व्यय में धर्म का सवाल वहाँ किस प्रकार से उठ जायगा? सामाजिक दया, दान, सामाजिक कर्तव्य और सामाजिक धर्म के व्यय में फिर भी कहला सकते हैं। किन्तु उनसे आध्यात्मिक धर्म की कल्पना और स्थापना करना मौलिक धर्म के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आन्तरिक दोष और रोग क्या है? इसपर शास्त्रीय शब्दों में कहें तो कहा गया है :

> कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थ अज्झत्थदोसा
> एयाणि वंता अरहा महेसी, न कुव्वइ पावं न कारवेइ।

अंतरङ्ग दोष चार हैं—क्रोध, अभिमान, दम्भचर्य और लालच। मन के कुछ प्रतिकूल होते ही गर्मी का पारा अपनी चरम सीमा पर जा टकराता है। एक संस्था के आदमी और उसका काम अच्छा क्यों नहीं कि वह संस्था हमारी नहीं है, उसके

कार्यकर्त्ता, सर्वेसर्वा और प्रतिनिधि हम नहीं हैं और उनका काम हमारे हाथ में नहीं है। इसलिए मुझे कहने दीजिये यह सब कुछ कुर्सी की लालसा के वरदान हैं। एक व्यक्ति गुणसम्पन्न और कुशल कार्यकर्त्ता होने पर भी वह अच्छा इसलिए नहीं माना जाता है कि वह कुर्सी पर है। कुर्सी पर आते ही मानो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास खत्म सा हो जाता है। स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि न होने पर उसे कोसने और निन्दित करने की कोशिश करने लगते हैं। पदासीन व्यक्ति कुशल व विवेकी होने पर भी यह कम संभव है कि वह सबको संतुष्ट और सबके स्वार्थ साध सके। पाँच उससे संतुष्ट होंगे तो पाँच असन्तुष्ट होकर उसकी अपकीर्ति करनेवाले भी असम्भव नहीं। इसलिए यह गुस्सा और यह जलन एक महान् अन्तरङ्ग दोष है जिसको आत्मा से निकालना नितान्त आवश्यक है। ये अन्तरात्मा के महान् दोष हैं। इनके निर्मूलन करने पर ही वास्तविक रोगों से मुक्ति पाना संभव है। इन आध्यात्मिक दोषों के खत्म होने पर मनुष्य की आत्मा फिर कोई पाप नहीं करेगी, समस्त पापों से निर्लिप्त रहती हुई वह शीघ्र ही अपने लक्ष्य को आत्मसात् के लिए अग्रसर होगी।

पूर्वोक्त दोषों के सद्भाव में चारित्र का ऊँचा होना असंभव है और चारित्र को न समझने और न अपनाने का ही यह परिणाम है कि आज हर व्यक्ति आत्मदमन और आत्म-नियन्त्रण के पाठ को भूल सा गया है। आज किसी को पूछा जाय तो औरों पर हुकूमत करने के लिए सब तैयार हैं मगर औरों की हुकूमत में चलने के लिए कोई नहीं। मुझे इसपर एक छोटा सा किस्सा स्मरण हो आया है। एक बाबाजी के पास एक चौधरी गया। बाबाजी ने पूछा—"बच्चे! क्या चाहते हो?" चौधरी ने कहा—"बाबाजी! सुखी होना चाहता हूँ।" बाबाजी ने तपाक से कहा—"तो फिर क्या सोचते हो? सुखी होना चाहते हो तो चेला बन जाओ।" चौधरी ने साश्चर्य पूछा—"बाबाजी! चेला किसे कहते हैं?" बाबाजी ने व्याख्या करते हुए कहा—"बच्चे एक तो गुरु होता है और एक चेला। जो हुकूमत करता है उसे गुरु कहते हैं और जो हुकूमत में चलता है उसे चेला।" दो क्षण तक सोचकर चौधरी ने उत्तर दिया—"बाबाजी! अगर गुरु बनाओ तो मैं तैयार हूँ। चेला तो मैं नहीं बन सकता।" यही हालत आज के लोगों की है। हर व्यक्ति आज यही चाहने लगा है कि मैं दूसरों पर रोब गाठूँ। दूसरे मेरे नियंत्रण में रहें। मेरा शासन सब पर चले। इस मनोवृत्ति का ही यह परिणाम हुआ है कि मानव आज अपने आपको भुला बैठा है। अपने अन्तरतम की परख छोड़ बहिर्जगत में वह फँसा जा रहा है। जीवन की धारा किधर जा रही है उसे यह भान तक नहीं है। फलतः उन्नत होने के बदले आज वह अवनत होता जा रहा है। वास्तव में यदि मानव कल्याण और सुख की कामना रखता है तो मैं कहूँगा कि वह परद्रष्टा न बनकर आत्मद्रष्टा बने।

शास्त्रों में आत्मदमन और उसके फलपर प्रकाश डालते हुए कहा गया है :

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो
अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य।

हे मनुष्य ! यदि वास्तव में तुझे दुःख और शान्ति की प्यास है तो सर्वप्रथम तू अपनी आत्मा का ही दमन कर। आत्मा ही दुर्जय और दुर्दम है। आत्मदमन करने पर ही तू क्या इहलोक और क्या परलोक—सर्वत्र सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकेगा।

यही बात भगवद्गीता में इस तरह दुहराई गई है :

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः॥

अर्थात् आत्मा ही इस आत्मा का बड़ा से बड़ा मित्र और बड़ा से बड़ा दुश्मन है। इसलिए हे भद्र ! इस आत्मा से ही इस आत्मा का उद्धार कर। इस आत्मा को दुःखी मत कर।

दोनों पद्यों में कितना समन्वय है। वास्तव में आत्मदमन तथा आत्मनियंत्रण ही आत्मविकास का सही सोपान है। भारतीय संस्कृति में सदा इस बातपर जोर दिया जाता रहा है कि दूसरों का दमन करना छोड़ अपने आपका दमन करो, इससे जीवन में एक नई चेतना और स्फूर्ति जगेगी, बुराइयों का परिहार होगा और जीवन भलाइयों की ओर उन्मुख बनेगा। अपना दमन न कर पर-दमन करना प्रमाद है और प्रमाद, भय तथा दोष वर्जित हैं। वह चारित्र को नीचे गिराता है तथा आत्मा का भयंकर शत्रु है। इसलिए अप्रमाद का सहारा लेकर मानव प्रमाद को जीते, जिससे उसमें निर्भयता आये और उसका आत्मबल जाग उठे।

जैन-दर्शन ईश्वर का अस्तित्व न मानते हुए भी आत्म-पुरुषार्थ पर ही बल देता है। कर्ता-हर्ता के स्थान पर वह आत्मा को ही कर्ता-हर्ता स्वीकार करता है। यदि हम ईश्वर को ही कर्ता-हर्ता मानकर चलें तो सारा पुरुषार्थवाद को मानने में एक मनुष्य यह निःसंकोचतया सोच सकता है कि मुझमें वह शक्ति है जिससे मैं समस्त मुसीबतों, बाधाओं और कठिनाइयों को चीरकर अपनी अभीष्ट मंजिल तय कर सकता हूँ। मैं चाहूँ तो अपनी कठोर साधना के द्वारा अपने अन्तिम लक्ष्य परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता हूँ। आखिर यह निश्चित समझें कि आप ही अपने को बिगाड़नेवाले और आप ही अपने को सुधारनेवाले हैं। गुरुजन या भगवान् सिर्फ आपके प्रेरक हो सकते हैं, मगर अपना उद्धार तो आखिर आपको स्वयं ही करना होगा।

जैनशास्त्रों में नमिराजर्षि का उदाहरण आता है। वह उदाहरण उपनिषदों में जनकजी के नाम से प्रसिद्ध है। वे बहुत बड़े राजा थे। किसी समय उनके शरीर में भयंकर दाहज्वर का रोग उत्पन्न हो गया, जिसके कारण शरीर में असह्य जलन हो गई। वैद्यों ने शरीर में गोशीर्ष चन्दन का लेप करने की सलाह दी। रानियों का झुण्ड तत्काल चन्दन घिसने लगा। घिसते समय रानियों के हाथों के कंकण परस्पर टकराने से कोलाहल पैदा करते थे। आकुलता होने के कारण महाराज को वह कोलाहल बड़ा अरुचिकर और कष्टदायक प्रतीत हो रहा था। महाराज के मनोभावों को समझकर मंत्रियों ने रानियों का एक-एक कंकण रखकर शेष कंकण उतार लिये। कोलाहल होना बन्द हो गया। महाराज ने साश्चर्य पूछा—"कोलाहल बंद कैसे हो गया?" मंत्रियों ने कहा—"महाराज, अब रानियों के हाथ में एक-एक ही कंकण है, अब कोलाहल कैसे होगा?" महाराज के हृदय में एक क्रान्ति की लहर दौड़ गई। उन्होंने सबको आश्चर्यचकित करते हुए कहा—"बस। अब मैं समझ गया। जो तत्त्व आज तक समझ में नहीं आ रहा था, वह आज समझ में आ गया। ये जितने झंझट, झगड़े, मुसीबतें और समस्याएँ हैं वे सब दो के मिलने के कारण ही हैं। वास्तव में जीवन—आत्मा तो एकाकी ही सुखी है। आत्मा के साथ शरीर और आत्मा का जो सम्बन्ध है उसको मैं तोड़कर विदेह और निष्कर्माणु बनूँगा। द्वित्व सम्बन्ध ही आत्मा को भटकानेवाला है। इसको अब मैं छोड़ूँगा। इस तरह नमि राजर्षि एक क्षण में ही जो श्रेय था उसको समझ गये और तत्काल राज्य की समस्त विभूतियों को ठुकरा कर वैराग्यपूर्वक जंगल की ओर एकाकी चल पड़े। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने पुरुषार्थ के द्वारा मनुष्य जो आत्म-भिन्न तत्त्व का आत्मा के साथ सम्पर्क कर बैठे हैं उनको मिटाकर परम विजय प्राप्त कर सकता है। यह तभी होगा जब आत्म-अन्वेषण, आत्म-दमन और आत्म-नियंत्रण होगा।

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तदेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वंमप्पे जिए जियं॥

इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा का दमन और आत्मा को जीतना सबसे अधिक कठिन है। क्योंकि एक आत्मा को जीत लेने पर अन्य सब जीते हुए ही हैं। जब आत्मा अपने आपको समझकर सँभल जाएगी उस अवस्था में इन्द्रियजन्य और मनोविकार तथा मान, माया, लोभ ये आत्मा में ठहर नहीं सकेंगे। तब आत्मा निर्मल सच्चिदानन्द स्वरूप में लीन होकर परमात्म-पद के सर्वोच्च शिखर को सुशोभित करेगी।

जैन-दर्शन जीवन की या यों कहूँ विश्व भर की गुत्थियाँ सुलझाने के लिये दो दृष्टियों का निरूपण करता है—एक आचार और दूसरा विचार। आचार और विचार

का गहरा सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। आचार के सम्बन्ध में जैन-दर्शन अहिंसा सत्य और अपरिग्रह ये तीन महत्त्वपूर्ण सूझ देता है। अहिंसा का मतलब इतना ही नहीं कि मानव की हिंसा न की जाय। यह संकुचित सिद्धान्त है। अहिंसा का मतलब है प्राणिमात्र के साथ प्रेम करना—दूसरे शब्दों में कहें तो विश्वमैत्री या विश्वबन्धुता। जैन-दर्शन बताता है कि यदि मनुष्य अहिंसा के पूर्ण आदेशों को न निभा सके तो कम से कम किसी के साथ अनर्थ बैर और अनर्थ विरोध तो न करे। किसी निरापराध को मारकर स्वयं अपराधी तो न बने। इसी प्रकार सत्य और अपरिग्रह के बारे में भी बताया गया है। लोग कहते हैं आज साम्यवाद का खतरा है। मैं मानता हूँ यह लोगों के संस्कृति को न समझने का परिणाम है। यदि लोग अपरिग्रहवाद को अपनायें तो साम्यवाद का खतरा अपने आप समाप्त हो जाय। यदि आर्थिक समानता हो भी गई तो उससे क्या होना जाना है? वास्तविक समस्याएँ उससे मिटने की नहीं। जब तक अथ से इति तक समानता की लहरें नहीं पहुँचेगी तब तक सिर्फ आर्थिक समानता मूलभूत रोग को नहीं काट सकेगी। इस स्थिति में जैन दर्शन का अपरिग्रहवाद बहुत विशाल है। वह मानव मात्र तो क्या, प्राणिमात्र में समानता का स्वर फूंकने की ताकत रखता है। आज जो जैनी कहलाने वाले शोषण और अनैतिक प्रवृत्तियों से अर्थोपार्जन और अर्थ संग्रह में जुटे हुए हैं, मेरी दृष्टि में वे जैन धर्म और जैन धर्म के अपरिग्रहवाद से अभी तक अनभिज्ञ हैं।

जैन-दर्शन ने जो दूसरी दृष्टि दी है वह है विचार। विचार के लिये जैन-दर्शन अनेकान्तवाद जैसे महत्त्वपूर्ण और अनुपम सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। विचारों के बड़े बड़े संघर्ष होते हैं, आगे भी हुए हैं और आज भी होते हैं। जबकि सब अपने अपने विचारों को औरों पर थोपने की चेष्टा करते हैं, उस हालत में जैन-दर्शन कहता है—प्रत्येक वस्तु की अवस्थाओं पर अनेकान्त दृष्टिकोण से विचार करो। एक वस्तु को एक दृष्टि से न देखो, उसके लिए अनेक दृष्टियों का प्रयोग करो। एक वस्तु के अनेक पहलू हो सकते हैं। एक वस्तु के विषय में एक व्यक्ति एक दृष्टिकोण से विचार करता है, दूसरा दूसरे दृष्टिकोण से और तीसरा तीसरे दृष्टिकोण से। अनेकान्त के दृष्टिकोण से तीनों सच हैं। चूँकि तीनों व्यक्तियों का विचार-माध्यम एक ही वस्तु है। जैन-धर्म की मान्यतानुसार प्रत्येक वस्तु, चाहे वह रजकण हो चाहे हिमालय, अनन्त धर्मों और अनन्त अवस्थाओं से जुटी हुई है। इसलिये यदि आग्रह बुद्धि को छोड़कर एक वस्तु के विषय में भिन्न व्यक्तियों के द्वारा भिन्न-भिन्न तरीकों से विचार किया जाता है तो, अनेकान्तवाद के विशाल और उदार दृष्टिकोण से वह सब सत्य और यथार्थ की शृंखला को छूने वाला है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर

देखना या कहना। एक ही शब्द में अनेकान्तवाद को कहना चाहे तो उसे 'अपेक्षावाद' भी कह सकते हैं। शब्दान्तरों से 'कथंचिद्वाद' और 'स्याद्वाद' भी कह सकते हैं।

अनेकान्त के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु 'है भी' और 'नहीं भी'। जैसे एक मनुष्य वक्ता है, लेखक नहीं। वक्तृत्व की दृष्टि से वह है किन्तु लेखकत्व की दृष्टि से नहीं। अर्थात् स्व-गुण की अपेक्षा से वह है और पर-गुण की अपेक्षा से नहीं। इसी तरह प्रत्येक वस्तु समान भी है और असमान भी। असमान तो ऐसे कि मनुष्यों में कोई बच्चा है, कोई जवान है और कोई बुड्ढा। इसलिए इस दृष्टि से मनुष्य आपस में समान है। प्राणित्व की दृष्टि से सब प्राणियों में आत्मा एक ही स्वरूप वाली है, अतः समान है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु एक भी है और अनेक भी है। जाति की अपेक्षा एक है और व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न-भिन्न होने के कारण अनेक। इस तरह यह नियम संसार के प्रत्येक पदार्थ पर लागू होता है।

स्याद्वाद जैन-दर्शन का या यों कहूँ कि दार्शनिक-जगत का एक सजीव सिद्धान्त है। आज की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक उलझनों को सुलझाकर वह आपसी वैर, विरोध, कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता, और संकीर्णता तो जड़-मूल से उखाड़ सकता है। अटल विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि सुख और शान्ति का स्वप्न स्याद्वाद के द्वारा ही साकार बनाया जा सकता है।

इसके अलावा जैन-दर्शन में कर्मवाद को प्रधानता दी गई है। जैन-दर्शन जाति से किसी को ऊँच या नीच नहीं मानता। उसकी दृष्टि में ऊँचता नीचता की चाबी उसके गुणावगुण हैं। जैन-दर्शन ने जातिवाद को अतात्विक कहकर उसे हेय ठहराया। भगवान् महावीर की वाणी में :—

कम्मुणा बम्भणो होइ।
कम्मुणा होइ खत्तियो॥
वइसो कम्मुणा होइ।
सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब अपने कर्म के अनुसार यानी आचरण के अनुसार होते हैं।

जैन-धर्म त्याग और तपस्या की नींव पर टिका हुआ है।

अणुव्रती संघ की योजना आपके सामने है। औरों के सुधार की बातों को छोड़कर मनुष्य को पहले स्वयं का सुधार करना चाहिये। स्व-सुधार को भूलकर पर-सुधार का प्रयास करना अपने आप के साथ खिलवाड़, धोखा तथा विश्वासघात करना है। लोग कहते हैं कि यह आज के समय में आवश्यक है किन्तु कड़ा बहुत है। मैं समझ

नहीं पाता, जब मनुष्य बुराइयों और समस्याओं को बढ़ाने के लिये तैयार रहता है तब फिर उनको मिटाने और सुलझाने के लिये तैयार क्यों नहीं रहता ? कट्टरपन का सवाल उठाकर बुराइयों से आँख मिचौनी नहीं की जा सकती। बुराइयों पर क्रूर प्रहार करना हमारा लक्ष्य है और वह सदा अटल और अचल रहेगा। मैं विश्वास करता हूँ आप लोग इस आत्म-सुधार की योजना को सहयोग पहुँचाकर नैतिकता के पुनर्निर्माणात्मक कार्य में बहुत बड़ा हाथ बटायेंगे।

फिर मैं एक बार आपको उसी बात का स्मरण करा दूं कि आज के संसार की विषम समस्याएँ युद्धों और संघर्षों से सुलझनेवाली नहीं है। उनको सुधारने का एक ही मार्ग है और वह है आत्मदमन यानी अहिंसक क्रान्ति और नैतिक क्रान्ति। इन्हीं सूत्रों के उदर से विश्व-मैत्री और विश्वबन्धुत्व का स्रोत निकलेगा। ये ही सूत्र विश्व शान्ति के मूल बीज हैं। इन्हीं से आत्मा में और दुनिया में शान्ति का साम्राज्य लाया जा सकता है। निश्चित समझिये—भारतीय आध्यात्मिक मूल संस्कृति में अपरिवर्तनीय सुख और शान्ति का खजाना भरा है।

जोधपुर, (रोटरी क्लब)
१९ सितम्बर, '५३

१२३ : विश्वशान्ति और अध्यात्मवाद

आजका विचारणीय विषय है—'विश्वशान्ति और अध्यात्मवाद'। इसपर विभिन्न विचारकों ने अपने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये। विश्व-शान्ति को लेकर किसी में दो मत नहीं। क्या अध्यात्मवादी और क्या भौतिकवादी, सभी एक स्वर से विश्व-शान्ति का सुनहरा स्वप्न देखने को लालायित हैं। मगर सवाल यह है कि विश्व-शान्ति हो कैसे ? आज विश्वकी समस्त विचारधाराओं को निचोड़ करके देखें तो विश्व-शान्ति के मुख्यतः दो पहलू सामने आते हैं—(१) हिंसात्मक और (२) अहिंसात्मक। इसीको यों कह सकते हैं कि पहली धारा जैसे-तैसे लक्ष्य तक पहुँचना है और दूसरी, अहिंसा पर निर्भर रहकर लक्ष्य प्राप्ति करना है। मैं यह नहीं मानता कि कम्युनिस्टों के साधन हिंसात्मक ही हैं। उनकी मान्यता है कि जब-जब अहिंसात्मक साधन कामयाब न हों, विषमता न मिट सके, स्थिति सम न बनाई जा सके, तब तब हमारे सामने लक्ष्य-प्राप्ति के लिये हिंसात्मक साधन ही ऐसा रह जाता है जिसका उपयोग कर हमें जैसे तैसे लक्ष्य तक पहुँचना होता है। हम कम्युनिस्टों से घृणा क्यों करें ? अच्छी चीज किसी से भी लेने में हमें दिक्कत नहीं है। उनमें भी जो अच्छाई है उसको

भी हमें बिना किसी संकोच के सही ढंग से ले लेनी चाहिये। घृणास्पद गलत तरीके हो सकते हैं मगर किसी विचारधारा वाले व्यक्ति नहीं। अपने-अपने तरीके हैं, अपने-अपने साधन हैं, इनको लेकर हमें कहीं उलझने की जरूरत नहीं। गत पाँच वर्षों में मुझसे अनेक हिंसावादी कहे जानेवाले कम्युनिस्ट मिलते रहे हैं। उनसे विचार-विनिमय भी हुआ है और विचार टकराते भी रहे हैं। मैं समझता हूँ—हमारी विचार-धारा बहुत दूर तक अनेक विचारक्षेत्रों में उनसे मिलती-जुलती रही है और मैं यह भी मानता हूँ कि कुछ विचार-क्षेत्रों में उनसे विचार-भेद भी हैं। विचार-भेद होना कोई बड़ी और असम्भव बात नहीं। अहिंसात्मक शक्तियों में भी परस्पर बड़े-बड़े विचार-भेद हैं। एक जैन-धर्म को ही लीजिये, उसकी शाखायें भी विचार-भेद से परे नहीं। विचार-भेद होने मात्र से घबराने और भय खाने जैसी कोई बात नहीं। विचार-भेद को लेकर यदि हम असहिष्णु और असहनशील बन गये तो वह हमारी कमजोरी और कायरता होगी। हमें तो इस ओर सचेष्ट रहना चाहिये कि अगर विचार-भेद है तो वह रहे मगर उसके साथ-साथ मनोमालिन्य, मनोभेद और वैमनस्य न होने पाये। यदि ऐसा हुआ तो मैं समझता हूँ, हिंसात्मक और अहिंसात्मक जैसी शक्तियों के बीच की खाई एक न एक दिन पट ही जायगी।

ऊपर मैंने विश्व-शान्ति के दो पहलुओं का उल्लेख किया। उनको हम यों भी कह सकते हैं कि एक तो वह तरीका जो शुद्ध साध्य के लिये शुद्ध साधनों को ही ग्राह्य समझता है और दूसरा वह तरीका, जो शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिये शुद्ध या अशुद्ध सभी तरह के साधनों को ग्राह्य व उपादेय मानता है। आप पूछेंगे, आप किस तरीके को उचित, ग्राह्य और उपादेय समझते हैं और आप के विचारानुसार विश्व-शान्ति के लिये किस तरीके को काम में लेना चाहिये?

आप अच्छी तरह जानते हैं कि मैं अहिंसा में पूर्ण विश्वास रखनेवाला एक कट्टर अहिंसावादी हूँ। मैं जब स्वप्न में भी हिंसात्मक तरीके को काम में लेने की नहीं सोच सकता, तब मैं आपसे हिंसात्मक तरीके को काम में लेने की बात कह ही कैसे सकता हूँ? आज तक का इतिहास बताता है कि शान्ति को लाने के लिये बड़े-बड़े युद्ध लड़े गये, वैज्ञानिक साधनों द्वारा तबाही मचाई गई। पर शान्ति आई नहीं। अतः यह आशा करना कि हिंसक क्रान्ति से शान्ति ला सकेंगे, दुराशामात्र है। यदि हिंसात्मक साधनों से शान्ति और समता आ भी जाय फिर भी वह शान्ति और समता नाममात्र की है, जिसकी तह में वह अशान्ति और वैषम्य की ज्वाला धधकती रहती है, जो समय पाकर फूटे बिना नहीं रहती।

आप पूछेंगे—क्या अहिंसात्मक तरीके से दुनियाँ की समस्त समस्याएँ हल हो सकेंगी? इससे भी मैं सहमत नहीं। मैं नहीं मानता कि समस्त संसार के अहिंसक

बने बिना अहिंसा द्वारा संसार की समस्त समस्याएँ हल हो जायँ। इसका कोई यह अर्थ न समझे कि अहिंसा में ताकत नहीं या वह कमजोर है। आप निश्चित समझें, अहिंसा में ताकत है, उनमें वीरता की लहरें लहरा रही हैं। मगर उसके प्रयोग के लिये उचित व उपयुक्त भूमिका तो चाहिये। जैनशास्त्रों में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जहाँ भगवान् महावीर ने कहा है—अहिंसा का प्रचार और प्रयोग करने के लिए सबसे पहले उचित क्षेत्र ढूँढ़ो। अपनी बुद्धि से यह तोलो कि जहाँ हम अहिंसा का प्रयोग और प्रचार करना चाहते हैं वहाँ का क्षेत्र अहिंसा को समझने, मानने और अनुशीलन करने के लिए प्रस्तुत व उपयुक्त है या नहीं। जहाँ उपयुक्त क्षेत्र न मिले तो वहाँ व्यर्थ में अपना वचन-प्रयोग मत करो, मौन रखो, वहाँ लड़े मत रहो, आगे चल पड़ो। कोई इसे भय का सवाल न समझे, परन्तु कीचड़ में पत्थर उछालने से क्या लाभ? कोई अहिंसा को न माने तो क्या हम उससे लड़ें? क्या घात-प्रतिघात करें? क्या जबरदस्ती उसपर थोपें? अहिंसा का यह तरीका नहीं और न अहिंसक ऐसा कर ही सकता है। बंजर भूमि पर बीज बोनेवाले किसान को क्या बेवकूफ नहीं कहा जायगा? क्या गोबर की भित्ति पर चित्रकार की कुशल तूलिका अपनी कला अंकित कर सकेगी? इसलिए जबतक सारा संसार अहिंसक न बन जाय और अहिंसा के प्रति श्रद्धा, विश्वास और आदर न करने लगे तबतक संभव नहीं कि अहिंसात्मक तरीका सम्पूर्णतया सफल और सिद्ध हो सके। इतिहास की लम्बी शृङ्खला में ऐसा युग कहीं देखने में नहीं आया जब कि समूची दुनियाँ में अखण्ड शान्ति का साम्राज्य छाया रहा हो। ऐसा भी कभी सुनने या देखने में नहीं आया जब कि युद्ध न हुए हों और सेना का संगठन न किया गया हो। दुनियाँ में जबतक काम, क्रोध, मद, लोभ आदि का अस्तित्व रहेगा, वीतरागता और निर्विकारता की प्राप्ति नहीं होगी, तबतक अहिंसा के द्वारा सम्पूर्ण समस्याएँ हल हो जायँ, यह कब सम्भव है?

ऐसी स्थिति में कार्यक्रम यह होना चाहिए कि अहिंसा का व्यापक प्रसार करने के लिए उपयुक्त क्षेत्र तैयार किया जाय। उसकी भावना फैलाई जाय। संसार में दो तत्त्व फैले हुए हैं—एक अच्छाई और दूसरी बुराई। अहिंसा का इस प्रकार प्रयोग किया जाय, जिससे बुराई अच्छाई पर हावी न होने पाये और न बुराई का पलड़ा भारी होने पाए, बल्कि अच्छाई से बुराई दबी रहे और उसके समान बुराई अपने आपको तुच्छ और अकिंचित् महसूस करे और अच्छाई का पलड़ा सदा भारी रहे। ऐसा होने पर समूची हिंसा न मिटने पर भी वह अहिंसा से नियन्त्रित रहेगी और जिसका परिणाम 'स्व' और 'पर' के लिए, दूसरे शब्दों में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए, सुखद होगा। समूची दुनियाँ अहिंसा को अपना नहीं सकती, इससे हमें निराश और पीछे हटने की आवश्यकता नहीं। ऐसा दावा भी हम कब करते हैं कि दुनियाँ की सारी हिंसा को

हम खत्म ही कर देंगे। हमें तो इसी भावना से अहिंसा को लेकर चलना है कि कहीं हिंसा बलवान्, स्वच्छन्द और अनियंत्रित न बन जाय।

आज लोग यह भी आक्षेप कर सकते हैं कि यहाँपर इतने ऋषि-महर्षि हुए, इतने वीतराग और युग-प्रवर्त्तक हुए परन्तु उन्होंने किया क्या जबकि हिंसा और संघर्ष आज भी ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। ऐसा कहनेवाले लोग समझें कि उन्होंने कभी ऐसा दावा ही नहीं किया था कि हम समस्त हिंसा और संघर्ष को खत्म ही कर देंगे। उन्होंने तो केवल ऐसा ही प्रयास किया कि जिससे हिंसा और संघर्ष निर्बल और नियंत्रित बने रहें। मैं जोरदार शब्दों में इसका समर्थन करते हुए कहूँगा कि वे नितान्त निर्विवाद रूप से इस उद्देश्य में सफल हुए हैं।

सोचने की बात है, क्रूर से क्रूर हिंसात्मक शक्तियाँ भी आज तक संसार में शान्ति नहीं फैला सकीं, जब कि उनके हाथ में अणुबम और उद्जन बम जैसे विश्व को विध्वंस की पराकाष्ठा पर पहुँचानेवाले हथियार मौजूद हैं। अनेकानेक वैज्ञानिक साधन उनके अधिकार में सुरक्षित हैं। प्लेटफार्म और प्रेस उनके इङ्गित पर नाचनेवाले हैं तथा प्रचार की सारी सुविधाएँ और विचित्र सामग्रियाँ उनके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत हैं। ऐसी स्थिति में जब वे भी शान्ति फैलाने में सफल नहीं हो सके हैं, तो बताइए, बिचारी अहिंसात्मक शक्तियों के हाथ में कौनसी राजसत्ता, कौनसी भौतिक शक्ति और कौनसे पार्थिव साधन विद्यमान हैं जिनसे वे संसार में शान्ति का साम्राज्य फैला सकें? उनके हाथ में तो केवल अपने सन्देश, अपने विचार और अपनी वाणी है। इसपर भी उन्होंने शान्ति-प्रसार के लिए जो कुछ किया है वह कम नहीं है।

शान्ति कैसे हो? इसपर अब मैं यदि थोड़े शब्दों में कहूँ तो वह यही है कि 'आरोपवाद' के मिटाने से वास्तविक शान्ति और सुख सम्भव है। आरोपवाद का अर्थ है—बाह्य पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना करना, या यों कहिये कि काल्पनिक सुख-दुःख ही आरोपवाद है। मेरी दृष्टि में आरोपवाद ही सुख-दुःख का कारण है। अन्यथा क्या कारण है कि एक निर्धन, गरीब, अकिंचन, बाह्य सुख-सुविधाओं व उपकरणों के अत्यन्त अभाव होने पर भी आत्मा में सुख व शान्ति का अनुभव करता है और एक कोट्यधीश, पूँजीपति, बाह्य सुख-सुविधाओं तथा उपकरणों की बहुलता होने पर भी आत्मा में दुःख और अशान्ति का अनुभव करता है। इससे यह मालूम पड़ता है कि सुख-दुःख और शान्ति-अशान्ति की सारी कल्पना आरोपवाद से ही आविर्भूत होती है।

बाहरी उपकरणों में सुख-दुःख एवं शान्ति-अशान्ति का आरोप करने का ही यह परिणाम है कि आज पूंजी-संग्रह संघर्ष का केन्द्रबिन्दु बना हुआ है। पूंजी की प्रतिष्ठा है इसलिए सब इस ओर भागते हैं। मगर जिस तरह पूंजी का वैयक्तिक केन्द्रीकरण,

बन्धन, परिग्रह और संघर्ष एवं विषमता का कारण है उसी तरह राष्ट्रगत केन्द्रीकरण भी बन्धन, परिग्रह तथा संघर्ष एवं विषमता के कारणों से परे नहीं। दूसरे राष्ट्रों के लिए वह ईर्ष्या का कारण बन सकता है। अन्य राष्ट्र, क्या एक राष्ट्र को अधिक पूंजी-सम्पन्न देखकर उससे जलेंगे नहीं? क्या वे उससे सम्पत्ति छीनकर उसको अपने में समाहित करने के लिए अपनी ताकत बढ़ाने की दौड़-धूप नहीं करेंगे? तब तो वही बात हुई। जो सवाल और समस्या व्यक्तिगत सम्पत्ति में अन्तर्हित है वही सवाल और वही की वही समस्या सम्पत्ति के राष्ट्रगत केन्द्रीकरण में भी ज्यों की त्यों विद्यमान है। इसलिए व्यक्तिगत पूँजी के स्थान पर पूँजी को राष्ट्र में प्रतिष्ठित करने पर भी समस्याओं का स्थायी और शाश्वत हल निकल नहीं सकता। इसीलिए मैं बहुधा कहा करता हूँ कि साम्यवाद समस्याओं का स्थायी एवं व्यापक हल नहीं है; बल्कि वह तो एक सामयिक पूर्ति है। स्थायी हल तो तभी निकल सकेगा जबकि व्यष्टि एवं समष्टि में पूंजी के प्रति प्रतिष्ठाभाव न रहेगा और यदि प्रतिष्ठाभाव होगा तो त्याग, चारित्र और संयम के प्रति होगा। इसलिए वास्तविक सुख, शान्ति और समता तक पहुँचने के लिए आरोप को मिटायें। जिस प्रकार खुजली होने पर मनुष्य को खुजलाने में बड़ा आनन्द आता है और इसी प्रकार सर्पदंश से कड़वा होने पर भी नीम मीठा मिश्री जैसा लगता है इसी प्रकार अर्थ और पूँजी का आकर्षण वास्तव में दुःख और अशान्ति का कारण होते हुए भी मनुष्य ने उसमें सुख और शान्ति का आरोप कर रखा है। वास्तव में यही महान् भूल है। इसको सुधारे बिना वास्तविक समस्याओं का हल होना असम्भव है।

वास्तव में शान्ति तब होगी, जब 'शम' होगा। शम का अर्थ है बुझाना अर्थात् जलती हुई अंतर्वृत्तियाँ जब बुझ जायगी, तब शम होगा। जहाँ 'शम' होगा वहाँ सभी अपने आप खिंचा हुआ चला आयेगा। सम का अर्थ है समता। जिसको दूसरे शब्दों में साम्यवाद भी कह सकते हैं। जहाँ अंतर्वृत्तियाँ बुझकर समता आ जायेगी वहां शान्ति की समस्या समस्या न रहेगी और शान्ति की कल्पना कल्पना न रहकर साकार हो उठेगी। केवल आर्थिक साम्यवाद से शान्ति का सूत्र नहीं पकड़ा जा सकता बल्कि सब तरह से, यों कहूँ —'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का मार्ग प्रशस्त होने पर अंतरात्मा से जो साम्यवाद आयेगा उसीसे वास्तविक शान्ति और विश्व-शान्ति का सूत्र ग्राह्य हो सकेगा। केवल आर्थिक समानता को ही मैं समानता नहीं समझता। समानता होनी चाहिए— आत्म-धरातल से लेकर समस्त विश्व के कण-कण के साथ में। ऐसी समानता होने पर ही विश्व-शान्ति का स्वप्न स्वप्न न रहकर सफल, सार्थक और साकार बन सकेगा।

जोधपुर,
२० सितम्बर, '५१

१२४ : जिज्ञासा या एषणा

जिज्ञासा या एषणा मानवीय चेतना की सहज वृत्ति है। विश्व क्या है? जीवन क्या है? जीवन का लक्ष्य क्या है? ये ऐसे प्रश्न हैं जो प्रत्येक चेतनाशील मानव के मस्तिष्क में सदा से उठते आए हैं। विवेकी मानव ने सतत् साधना, अनुशीलन और अनुभूति द्वारा उनका समाधान ढूँढ़ने में अपने को खो-सा दिया। इसी चिन्तन के प्रतिफल में दर्शन निकला। दर्शन और कुछ नहीं, जीवन की व्याख्या है, विश्लेषण है, सत्य की खोज है। समस्त दर्शनों का मूल बीज है—दुःख के अभिघात और सुख के लाभ की आकांक्षा। इस मौलिक धारणा की दृष्टि से विभिन्न दर्शनों के उद्गम में अन्तर नहीं, वह एक है। ध्यान रहे—दर्शन केवल विद्वानों तथा विचारकों के दिमागी व्यायाम का विषय नहीं, यह तो व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन से एक आवश्यक और व्यावहारिक पहलू है।

भारतीय दार्शनिकों ने जहाँ जीवन के वाह्य पक्ष को बारीकी से समझा, अन्तर-पक्ष के पर्यवेक्षण व अन्वेषण में भी कोई कसर न छोड़ी। भारतीय विचारधारा की त्रिवेणी—जैन, वैदिक और बौद्ध इन तीन प्रवाहों में बही। समन्वय की दृष्टि से देखा जाय तो इन तीनों में हम अभेद पाते हैं। जहाँ वैदिक ऋषि विद्या और अविद्या की विवेचना कर अविद्या को हेय और विद्या को उपादेय बताते हुए ब्रह्म स्वरूप की राह दिखाते हैं, जैन-तीर्थंकर आश्रव और संवर अर्थात् कर्म बन्ध और कर्म निरोध के माध्यम से आत्म-शुद्धि की प्रेरणा देते हुए निर्वाण की व्याख्या करते हैं। दूसरी ओर बौद्ध आचार्य दुःख समुदाय, मार्ग आदि आर्य सत्य को प्रस्तुत कर जन्म-मरण के संस्कारों से छूटने की बात कहते हैं। संक्षेप में कहा जाय तो सभी ने आसक्ति लालसा, द्वेष और लोभ जैसी वृत्तियों को बन्धन कहा है। उनसे मुक्त होने की प्रेरणा दी है। इस तरह सूक्ष्म-दृष्टि से निष्पक्षतया सोचनेवालों के लिए इनमें कोई भेद-रेखा नहीं रहती, प्रत्युत् गहरा समन्वय, सामंजस्य और एकता की पुट मिलती है। आज दार्शनिक जगत के लिए यह आवश्यक है, कि वह इसी समन्वयमूल मनोवृत्ति के सहारे सोचे। दर्शन जो जीवन-शुद्धि और आत्म-सुख का विधान है, को आपसी संघर्ष का हेतु न बनायें। मुझे स्मरण करते खेद होता है—अतीत में एक बुरा समय अभिशाप बनकर देश में आया। दर्शन के आधार पर यहाँ रक्त-पात हुआ। संघर्ष हुआ। भाई-भाई के बीच वैमनस्य की भेद-रेखा ने आ उन्हें अलग किया, यह भूल भरा विचार था। आगे इसकी पुनरावृत्ति नहीं करनी है।

दर्शन आग्रह, हठ व पकड़ नहीं सिखलाता। वह तत्त्व का साक्षात्कार कराता है। अपेक्षा-भेद से तत्त्व के अनेक रूप हैं पर उन सबका आग्रहपूर्ण प्रतिपादन सही नहीं।

जैन-दार्शनिकों की अनूठी सूझ सापेक्षवाद ने इस समस्या को बड़े अच्छे ढंग से सुलझाया है। उन्होंने बताया—एक ही वस्तु का दृष्टि-भेद या अपेक्षा-भेद से अनेक तरह से प्रतिपादन किया जा सकता है। अपनी-अपनी अपेक्षा के सहारे वह सब तथ्यपूर्ण है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिये—एक ही व्यक्ति पुत्र भी है, पिता भी है, भाई भी है, पति भी है। अपने पिता की अपेक्षा से वह पुत्र है, अपने पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है, अपने भाई की अपेक्षा से वह भाई है और पत्नी की अपेक्षा से पति। भिन्न अपेक्षाओं से उसमें पुत्रत्व, भ्रातृत्व और पतित्व आदि अपेक्षा-धर्म है। यहाँ पर यह आग्रह अनपेक्षित है कि वह जब पुत्र है तब पिता कैसा ? दूसरा उदाहरण लीजिए—एक व्यक्ति छोटा भी है और बड़ा भी। बड़ापन व छोटापन दोनों परस्पर विपरीत धर्म हैं। पर अपेक्षा-भेद से व्यक्ति में दोनों घटित हैं। अपने से बड़े की अपेक्षा वह छोटा है और छोटे की अपेक्षा बड़ा। इस प्रकार सापेक्षवाद का सिद्धान्त जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाता है। आपसी भेद-रेखा को मिटाकर उसकी जगह अभेद, ऐक्य, समन्वय तथा सामंजस्य को बल देता है। इसी का दूसरा नाम है—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। विश्व के महान् वैज्ञानिक आइन्सटीन की 'थ्योरी ऑफ रिलेटिवीटी का लक्ष्य बिन्दु भी यही है जैसा कि जानने में आया है। अस्तु। मेरा दर्शन के प्राध्यापकों, विचारकों एवं छात्रों से यही कहना है कि भारतीय ऋषि सदा से कहते आए हैं—वे प्रेयस् को छोड़कर श्रेयस् को पाने का प्रयत्न करें। दूसरों को उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। उनके दार्शनिक अनुशीलन व मनन की इसी में सफलता है।

जोधपुर,
२६ सितम्बर, '५३

१२५ : उत्कृष्ट मंगल

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह आत्म-शुद्धि का मार्ग है। जन-निर्माण का साधन है। आज हमें सोचना है कि वह राष्ट्र-निर्माण में कहाँ तक सहायक हो सकता है जैसा कि आज मानव समझने लगा है। राष्ट्र-निर्माण का अर्थ है—एक राष्ट्र अपनी सीमा को बढ़ाता हुआ उन्हें असीम बनालें। अन्यान्य शक्तियों और राष्ट्रों को कुचलकर उनपर अपना सिक्का जमाले, उन्हें अपने अधिकृत कर ले। नये-नये विध्वंसक शस्त्रों द्वारा दुनिया में अशांति और तबाही मचा दे। पर मैं कहूँगा—यह राष्ट्र-निर्माण नहीं, विध्वंस है, विनाश है। इसमें धर्म कभी भी सहायक हो नहीं सकता। धर्म राष्ट्र के बाह्य कलेवर का नहीं, वरन् आत्मा का परिशोधक है। राष्ट्र में फैली हुई बुराइयों को

जन-जनसे हृदय परिवर्तन के सहारे मिटाता है। धर्म से मेरा मकसद किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए न होकर *अहिंसा, सत्य, शुद्ध आचार* जैसे शाश्वत सिद्धांतों से है, जिनके द्वारा जन-जन का जीवन-पथ प्रस्फुटित होता है।

धर्म और राजनीति एक नहीं है। जहाँ इन दोनों को एक कर दिया जाता है, वहाँ धर्म, धर्म नहीं रहकर, स्वार्थ-सिद्धि का एक जरिया बन जाता है। जहाँ धर्म का राज-नीति से गठबंधन कर लोगों पर थोपा गया, वहाँ रक्तपात और हिंसा ने समूचे राष्ट्र में तबाही मचा दी। क्या लोग भूल जाते हैं—इस्लाम खतरे में है—जैसे नारों से क्या-क्या परिणाम हुआ? ध्यान रहे धर्म कभी खतरे में हो ही नहीं सकता। धर्म को खतरे में बतानेवाले भूलते हैं कि ऐसा करके वे कितना पाप और अन्याय करते हैं? धर्म और राजनीति दोनों *अलग-अलग* हैं, वे घुल-मिल नहीं सकते। हाँ, इतना अवश्य है कि राजनीति अपने विशुद्धिकरण के लिए धर्म से प्रेरणा लेती रहे। फिर उसमें अन्याय, शोषण, ज्यादती, बेईमानी और धोखेबाजी जैसे दानवीय गुण नहीं रहेंगे और वह संसार को शांति की ओर बढ़ानेवाली हो जायेगी।

भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। कई लोग इसपर बड़ी आलोचना करते हैं और धर्म निरपेक्ष का अर्थ अधार्मिक लगाते हैं। परन्तु जैसा कि मैंने विधानविदों से सुना इसका अर्थ अधार्मिक नहीं वरन् इसका अभिप्राय है किसी भी धर्म विशेष को कोई विशेष अधिकार नहीं होकर सब धर्मों को समानाधिकार है। भारत जैसे विशाल और सैकड़ों धर्मवाले देश के लिये किसी धर्म विशेष की राष्ट्र पर छाप हो यह कभी उचित नहीं। अस्तु। अन्त में मेरा यही कहना है कि किसी भी राष्ट्र के अन्दर रहनेवाले नागरिक धर्म के व्यापक सिद्धान्तों को अपना कर जीवन निर्माण के पथ पर आगे बढ़ें। ये व्यापक सिद्धान्त व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को सुधार कर एक बहुत बड़ी देन देते हैं।

जोधपुर,
२७ सितम्बर, '५३

१२६ : सबसे बड़ी शक्ति

हमारे प्राचीन ऋषियों, महात्माओं, सन्तों और सभी प्रकार के धर्मों के प्रवर्तकों से अहिंसा का स्रोत मिला है, जो जीवन, समाज और राष्ट्र की सभी समस्याओं को सुलझाने में शक्तिशाली समर्थक है। भारत की सभ्यता, संस्कृति और धर्म सभी अहिंसा के आदर्श और पावन मूल-मंत्र से ओत-प्रोत है।

मनुष्य का सबसे बड़ा दोष दूसरों पर अपराध मढ़ना है। वह अपना दोष स्वयं नहीं टटोलता। यह आरोपवाद ही विश्वशान्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। हिंसा से स्वयं का ही पतन होता है।

हिंसा तो हिंसा ही रहेगी परन्तु अन्याय के प्रतिकार में हुई हिंसा की प्रतिक्रिया से साधारण समाज बच नहीं सकता। पर उस हिंसा में भी नीति और धर्म के साथ मानवीय मर्यादाओं का पालन होता है, जैसे कि राम-रावण और पाण्डव-कौरव के युद्ध में होता था।

अमेरिका और रूस दो बड़ी शक्तियाँ नहीं, अपितु अहिंसा सबसे बड़ी शक्ति है। साम्राज्यवाद और समाजवाद का प्रचार-प्रसार, भय, आतंक या शक्ति के बल पर करना सपना मात्र है क्योंकि इसमें स्थायित्व नहीं आ सकता। अहिंसा के द्वारा हृदय को जीत जाकर समस्या का उचित हल हो जाता है।

जोधपुर,
२ अक्टूबर, '५१

१२७ : संस्कृत-सम्मेलन

संस्कृत का केवल इसलिए महत्त्व नहीं कि वह हमारे देशकी प्राचीन भाषा है, वरन् उसका महत्त्व इसलिए है कि वह भारत के सांस्कृतिक जीवन का एक जीवित प्रतीक है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है। जिस राष्ट्र ने अपनी संस्कृति को भुला दिया है, वह राष्ट्र वास्तविक रूप से एक जीवित और जागृत राष्ट्र नहीं है। भारतीय संस्कृति आज भी जिस किसी अवस्था में जीवित है, उसका बहुत कुछ श्रेय संस्कृत वाङ्मय को है। तपस्वी साहित्यकारों ने अपनी लम्बी कठोर साधना व दीर्घ तपस्या के सहारे जिन सत्यों का साक्षात्कार किया, वे संस्कृत वाङ्मय में आज भी रमणीय रत्नों के रूप में सुरक्षित हैं। संस्कृत वाङ्मय, जो अपनी मौलिकता, भाव गाम्भीर्य, पद-सौकुमार्य, गति लावण्य, व्यंजना, सहज अलंकारिता प्रभृति गुणों से विभूषित है, विश्व-इतिहास में अपना अनुपम स्थान रखता है।

संस्कृत संस्कारवान् भाषा है। संस्कारवान् मानव के लिए यह संस्कारिकता की प्रेरक है। संस्कारिता का भारतीय दृष्टि में सदा से महत्व रहा है। यहाँ प्रागैतिहासिक काल से सदा त्यागी और संयमी मनुष्य ही पूजे जाते रहे हैं, भोगी और समृद्धिशाली नहीं। क्योंकि संयमी संस्कारवान् होता है और भोगी संस्कारहीन। विश्व ने महात्मा गाँधी को इसलिए माना कि वे एक संस्कारवान् और दिव्य पुरुष

थे। उनका जीवन सत्संस्कारों से सजा हुआ था। वे संयम और त्याग को बल देने वाले एक सुचेता थे। संस्कृत असत् संस्कारों से सत् संस्कारों की ओर ले जानेवाली भाषा है।

हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जबकि देश में प्राचीन काल की तरह सभी मानव, सभी वर्ग वाले संस्कृत को मातृभाषा की तरह अपना कर सब संस्कृत में ही बोलने लगेंगे।

जोधपुर,
२ अक्टूबर, '५३

१२८ : आत्म-निर्माण

तत्त्व ग्रहण करने के लिये हर व्यक्ति विद्यार्थी है। वृद्ध और जवान का इसमें कोई प्रश्न नहीं। हर अवस्था में हर व्यक्ति को तत्त्व पाने के लिए विद्यार्थी रहना चाहिये। बहुत सी पुस्तकें पढ़ना ही विद्यार्थी का अर्थ नहीं है। विनोबाजी ने एक जगह कहा है—"अधिक पढ़ना एक व्यसन है, यदि उसपर मनन और आचरण न किया जाय।" वास्तव में बात ऐसी ही है। मनन व आचरणशून्य अध्ययन किसी काम का नहीं। वह तो फिर एक आदत मात्र है। उसमें न तो जीवन को समझा जा सकता है और न जीवन संस्कारित ही हो पाता है। संस्कृत भाषा की यह उक्ति यहाँ कितनी सुन्दर लगती है :

> "शास्त्रावगाह-परिघट्टन-तत्परोपि, नैवाबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम्।
> नाना प्रकार रसभाव गतोपिदर्वी, स्वादं रसस्य सुतरामपि नैव वेत्ति।"

अर्थात्—शास्त्रों के गहरे अध्ययन से भी अज्ञानी जीव वस्तुतत्त्व को नहीं जान पाता। स्वादिष्ट खाद्य वस्तु पहले चम्मच पर आती है। यदि उससे पूछा जाय कि अमुक वस्तु का स्वाद कैसा होता है? उत्तर होगा नहीं। क्योंकि चम्मच को उसका ज्ञान नहीं है। वह जड़ है। इसी प्रकार सहस्रों पुस्तकों का पठन वास्तविक शिक्षण के अभाव में पठन मात्र है। जीवन में उसका कोई महत्व और उपयोग नहीं। विद्यार्थी सही माने में आत्मार्थी है। वह अपने आपको खोजे, समझे और बुराइयों से अपने को मुक्त बनायें। उसका कर्तव्य है कि वह प्रतिपल यह गवेषणा करता रहे कि उसे क्या बनाना है। जीवन में जो बातें समझने और उतारने की है, उनका अधिक पढ़ने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कम पढ़कर भी मनुष्य गहराई व निष्ठापूर्वक खोजने पर उनको पा सकता है। संक्षेप में मैं आज जीवन के उन्हीं पहलुओं पर प्रकाश डालना

चाहता हूँ जो कि हर जीवन के लिए विशेषतः विद्यार्थी-जीवन के लिए तो अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी है।

सबसे पहले विद्यार्थियों में वाणी और क्रिया का समन्वय होना चाहिये। आज न जाने यह कोई डिप्लोमेसी या सभ्यता बन गई है कि मनुष्य कहने के लिए बड़ी गहरी-गहरी बातें कह डालता है परन्तु स्वयं के करने में कुछ नहीं। आज विद्यार्थी यह सोचें कि उनके जीवन में वाणी और क्रिया का समन्वय है या नहीं। अगर नहीं है तो कुछ नहीं है और यदि है तो सब कुछ है। आज का मनुष्य कहता बहुत है और करता कम। वह औरों को सिखाने तथा सुनाने लिए जितना उत्सुक रहता है उतना सीखने तथा सुनने लिए नहीं। जो स्वयं अपने कहे हुए मार्ग को ग्रहण न करें उन्हें क्या अधिकार है कि वे औरों को शिक्षा देने की हिम्मत करें? शिक्षा देने का अधिकार उन्हें ही है जिन्होंने जीवन का मन्थन किया है। साधना का जीवन बिताकर सार-तत्त्वों को हस्तगत किया है। विद्यार्थियों को अधिक कहने की मनोवृत्ति से परे रहकर अधिक सीखना व सुनना चाहिये। प्रकृति ने संभवतः इसलिए दो कान दिये हैं और जीभ एक कि सुनो अधिक और बोलो कम। अगर हर समय आप अपनेको टटोलते रहेंगे तो यह कहनी व करनी की समानता अपने आप आ जाएगी।

विद्यार्थियों का खान-पान व चरित्र शुद्ध होना आवश्यक है। मुझे सखेद कहना पड़ता है कि आज के विद्यार्थियों ने अपना खान-पान बहुत बिगाड़ दिया है। मांस और मदिरा जैसी असभ्य और अपेय वस्तु क्या खाने-पीने योग्य हैं? ऐसे विद्यार्थी आज कम मिलेंगे जिनका खान-पान शुद्ध हो। अज्ञानतावश शुरू-शुरू में स्वाद चखने के लिए इनका जो उपयोग किया जाता है वही आगे चल कर ऐसी आदत बन जाती है कि उनसे फिर पिण्ड छुड़ाना जीवन में दुष्कर-सा हो जाता है। मेरी दृष्टि में खान-पान बिगड़ने का मूल कारण कुसंगति है। इसी तरह चारित्र जीवन की बुनियाद है। अगर यह बुनियाद मजबूत है तो कोई कारण नहीं कि उसपर आधारित जीवन की मंजिल लड़खड़ा सके। महात्मा गाँधी जब बैरिस्टरी पास करने के लिए इंग्लैण्ड जाने तो लगे उस समय एक जैन-साधु के समक्ष उनकी माता ने उन्हें विदेश में अशुद्ध खान-पान से बचने तथा चरित्र को न बिगाड़ने की प्रतिज्ञाएँ करवाई थीं। वे प्रतिज्ञाएँ उनके जीवन में सदा के लिए एक अमिट रेखाएँ बन गईं। आगे चलकर उनका जीवन कितना सात्विक रहा, यह आज किसी से भी छिपा नहीं है। अस्तु। विद्यार्थी अपने जीवन को टटोलें, अगर उनमें चारित्र का पतन और खान-पान का बिगाड़ है तो वह उनके लिए कतई हितकर और शोभास्पद नहीं। विद्यार्थीगण

इन बुराइयों को जीवन के लिए अभिशाप समझकर इनसे बचें। उन्हें दृढ़प्रतिज्ञ रहना चाहिए कि वे अपने खान-पान तथा चारित्र को कभी नहीं गिराएँगे।

आज विद्यार्थियों पर जो सबसे बड़ा आरोप है वह है अनुशासनहीनता का। यह दोष केवल विद्यार्थियों का ही है ऐसा मैं नहीं मानता। आज की शिक्षा-प्रणाली का इसमें बहुत बड़ा हाथ है। शिक्षा-प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन करने की आज जगह-जगह आवाज लगाई जा रही है। इस आवाज का क्या परिणाम निकलेगा यह सोचना तो आगे की बात है। वास्तव में मैं विद्यार्थियों से यही कहूँगा कि अगर उन्हें विद्याग्रहण की पिपासा है तो वे अधिक से अधिक नम्र और अनुशासित बनें। यह समय नम्र और अनुशासित रहने का है। अगर इस समय ही आप ऐसे न रह सकेंगे तो आगे चलकर आप जीवन में क्या सफलता प्राप्त करेंगे? अच्छी चीज ग्रहण करने के लिये अच्छे अनुशासन में रहना कोई दोष नहीं है। उच्छृङ्खलता, उद्दण्डता और अनुशासनहीनता ये विद्यार्थियों के लिए भारी कलंक हैं, और इन्हें मिटाने के लिये उनको एक व्यवस्थित व संगठित प्रयास करना होगा। कोई अशिक्षित उच्छृंखल हो भी सकता है किन्तु यदि शिक्षित उच्छृंखल व उद्दण्ड कहकर पुकारा जाय तो यह उसके लिए बड़े शर्म की बात है।

जिज्ञासा हो सकती है कि विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता आने का क्या कारण है। मैं कहूँगा कि इसका प्रमुख कारण है—आध्यात्मिकता से पराङ्मुख होना और भौतिकता का अन्धभक्त बनना। भौतिकवाद ने आज विश्व का सारा दृष्टिकोण ही बदल डाला है। उसमें अन्तरात्मा को छूनेवाले तत्त्व नहीं होते सिर्फ बाहरी दिखावा रहता है। आध्यात्मवाद अन्तःशोधन करने में विश्वास रखता है। आज विद्यार्थियों में न आत्मा, परमात्मा पर श्रद्धा है, न धर्म पर। धर्म का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं। वे धर्म को एक रूढ़िवादिता समझते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म कोई मुख्य तत्त्व ही नहीं। मैं मानता हूँ यह सिर्फ विद्यार्थियों का ही दोष नहीं। वास्तव में स्वार्थियों ने धर्म को जो विद्रूप बना दिया है, उसका यह परिणाम है। मैं विद्यार्थियों से कहूँगा कि वे धर्म के असली स्वरूप को समझें। वास्तव में धर्म जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका पैसे से कोई सम्बन्ध नहीं। जो पैसे से धर्मोपार्जन की बात कहते हैं वे धर्म के सही स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। धर्म आत्म-शुद्धि व आत्म-परिमार्जन का मार्ग है। चारित्र-सुधार धर्म का मौलिक नारा है। उसमें साम्प्रदायिकता की गंध तक नहीं। वह हिंसा और घृणा से सर्वथा दूर है। विश्वमैत्री का वह अमोघसूत्र है। यदि वास्तविक धर्म विद्यार्थियों में होता तो कोई कारण नहीं था कि उनमें अनुशासनहीनता का समावेश होता। धर्म मनुष्य को सिखाता है—वह अपना दमन करे, अपना नियंत्रण करे और अपने को मुट्ठी में बाँध कर रखे। आज के भावुक विद्यार्थियों के दिमाग में बहुधा एक

बात चक्कर काटती रहती है कि वे समाज का आमूल चूल परिवर्तन कर दें। वे नहीं चाहते कि समाज में कुरीतियाँ, कुरूढ़ियां, अन्धश्रद्धा और ढकोसलेबाजी रहे, मगर वे इसके लिये करते क्या हैं? जब स्वयं भी वे अपने विचारों के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति नहीं करते तो दूसरों से वे क्या आशा रख सकते हैं। वे पहले अपना निरीक्षण करें। जो बुराइयाँ उनमें घुसी हुई हैं, जबतक उनसे पिण्ड नहीं छुड़ाया जायेगा तबतक समाज-सुधार की उनकी आवाजें कोई तथ्य नहीं रखतीं। मेरी समझ में यही उनकी दुर्बलता है कि वे कुछ भी करने में समर्थ और सफल नहीं हो सकते। सन्तों की आवाज से गृहस्थी व्यक्ति प्रभावित होते हैं। और जीवन की शुद्धि की प्रतिक्रिया का अनुसरण करते हैं। इसका यही रहस्य है कि सन्तों की शिक्षा जबानी या कागजी शिक्षा न होकर सक्रिय शिक्षा होती है, इसलिये मैं विद्यार्थियों से कह रहा हूँ कि वे पहले आत्म-दमन के तत्त्व को पहिचानें और उसका अनुशीलन करें।

जोधपुर, (कंवल भवन)
४ अक्तूबर, '५३

१२९ : अहिंसा और दया

'अहिंसा' भारतवासियों के लिये नई नहीं। यहाँ के जन-जन में अहिंसा के संस्कार परंपरा से चलते आ रहे हैं। पश्चिमी राष्ट्रों तथा भौतिकवादी संस्कृतियों के लिये अहिंसा का विशेष महत्त्व हो सकता है। मगर जहाँ का बच्चा-बच्चा अहिंसा को समझता व मानता आया है वहाँ यदि वह हो तो उसका क्या विशेष महत्त्व? यहाँ तो अहिंसा को आत्मसात् या रक्तसात् बनी हुई कहें तो भी कोई अत्युक्ति नहीं।

अहिंसा और दया एक दृष्टि से अभिन्न हैं और एक दृष्टि से उनमें पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर भी है। पहले हम अहिंसा को ही लें। 'अहिंसा परमोधर्मः' व 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' सिद्धान्त यहाँ के समस्त धार्मिक संप्रदायों से सर्व-सम्मत होते हुए भी अहिंसा की परिभाषा सबने अलग-अलग की है। एक जगह अनभिद्रोह को अर्थात् किसी भी समय, किसी भी जगह और किसी परिस्थिति में किसी भी परिस्थिति में किसी प्राणी का हनन न करना अहिंसा माना गया है तो एक जगह "नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" अर्थात् आततायी (हिंस्र, हत्यारे, अपराधी) को मार डालने में मारनेवाले को कोई हिंसाजन्य दोष नहीं होता। एक जगह अनावश्यक हिंसा को हिंसा माना गया है मगर आवश्यकता की पूर्ति के लिये जो अनिवार्य हिंसा होती है वह हिंसा नहीं, अहिंसा की कोटि में ही है। इसी तरह एक जगह यह माना गया है कि देव, गुरु और धर्म की रक्षा के लिये जो हत्याएँ की जाती हैं, वे हिंसा नहीं अहिंसा

ही हैं। इसी तरह अहिंसा की अनेक प्रचलित परिभाषाओं को देखकर साधारण मनुष्य तो क्या विद्वान् भी गहरी उलझन में पड़ जाता है। उसकी समझ में नहीं आता कि वह किस परिभाषा को सत्य माने और किसे असत्य? ऐसी स्थिति में आज का विषय अवश्य ही कुछ गम्भीर है। जैन-धर्म के शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर आज मुझे इस विषय पर प्रकाश डालना है।

जैन शास्त्रों में अहिंसा की परिभाषा करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है :

"अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो"

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति अपनी जो संयत वृत्तियाँ हैं, संयम है, समता है, मैत्री है, उसका नाम ही अहिंसा है। अहिंसा अपने परिवार, कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र तक ही सीमित नहीं रहती। उसकी परिधि विशाल है। उसकी गोद में प्राणिमात्र सुख की साँस लेने का अधिकारी है। व्युत्पत्ति अर्थ में 'न हिंसा' को अहिंसा माना गया है, जिसका तात्पर्य है कि "सब जीवों को अपने जीवन से प्यार है। सब जीव जीना चाहते हैं; मरना कोई नहीं चाहता। दुःख किसी को भी प्रिय नहीं। इसलिये किसी प्राणी की हत्या मत करो, किसी पर हुकूमत मत करो, किसी को दास की तरह ग्रहण मत करो तथा किसी पर बलात्कार व बल प्रयोग मत करो।" यह अहिंसा का पूर्ण निषेधात्मक रूप है। प्रश्न होगा—क्या अहिंसा का विधानात्मक रूप नहीं है? वह भी है। जितना बलवान् निषेधात्मक रूप है, उससे कमजोर विधात्मक रूप भी नहीं है। जैसे—प्राणी के साथ मैत्री, बन्धुता व भाईचारे का बर्ताव और समानता का व्यवहार रखना। ये हैं—अहिंसा के विधानात्मक रूप। अहिंसा के निषेधात्मक व विधानात्मक रूपों में शब्द-भेद के अलावा और कोई मूल अन्तर नहीं है। 'किसी को मत मारो' और 'सबके साथ मैत्री रखो'—दोनों ही वाक्यों का तात्पर्य एक ही है। उसमें तत्वतः कोई भिन्नता नहीं। इस परिभाषा के अनुसार किसी को भी अपनी वृत्तियों द्वारा दुःख, सन्ताप और उत्पीड़न पहुँचाना मात्र हिंसा है। चाहे वह हिंसा आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही क्यों न हो, चाहे वह आततायी के वध के लिये ही क्यों न हो और चाहे वह धर्म, देश, राष्ट्र, संस्कृति, जान-माल आदि की रक्षा के लिये भी क्यों न हो—हिंसा आखिर हिंसा है उसके पीछे किसी प्रकार का विशेषण जोड़कर उसे अहिंसा की कोटि में समाहित नहीं किया जा सकता। यहाँ आकर लोगों में बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। वे सोचते हैं कि क्या अहिंसा हमें यही सिखाती है कि अनिवार्य हिंसा मत करो, आततायियों व आक्रमणकारियों के सामने घुटने टेक दो? क्या इस तरह हम जिन्दा रह सकेंगे? क्या धर्म, राष्ट्र और संस्कृति का अस्तित्व रह सकेगा? क्या इससे हिंसा अनैतिकता और गुण्डागर्दी जगह-जगह न फैल जायगी? क्या दयावान् और धार्मिक

समाप्त न हो जायेंगे ? मैं जहाँ तक शास्त्रों का अध्ययन कर पाया हूँ और समझ पाया हूँ वहाँ तक मेरी दृष्टि में यह उलझन बिल्कुल निरर्थक और निकम्मी है। हम अपनी दुर्बलता और कमजोरी को लेकर तत्त्व के पूर्ण विवेचन से मुँह मोड़ें। यह न तो शोभास्पद है और न उपादेय ही। अनेक परिस्थितियों से जकड़ा सामाजिक प्राणी पूर्ण अहिंसक न बन सके तो इसका यह तो मतलब नहीं कि वह अपने स्वार्थ तथा सामाजिक कर्तव्य के नाते होनेवाली हिंसा को हिंसा भी न माने। अहिंसा का जो पूर्ण आदर्श रूप है इसको समझना, मानना एक बात है और उस आदर्श को अपनी शक्ति की न्यूनता के कारण जीवन में चरितार्थ न कर सकना दूसरी बात। परन्तु यह तो उचित नहीं कि यदि कोई पूर्ण आदर्श तक न पहुँच सके तो वह उसको नीचे खिसका ले। अपनी दुर्बलता के कारण कोई पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं बन सकता तो क्या उसका यह कर्तव्य है कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य को अव्यावहारिक बतलाकर स्वदार-सन्तोष और परदार-सेवन-परित्याग को ही पूर्ण ब्रह्मचर्य कहे ? वह स्वयं नहीं पाल सकता इसका यह मतलब नहीं हो सकता कि वह किसी के द्वारा भी पालाजाना अशक्य है। आगे भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया गया है और आज भी किया जाता है। प्रश्न यह होगा कि आम जनता ऐसा नहीं कर सकती। तो मैं कहूँगा यही तो आदर्श है। वह आदर्श नहीं जहाँतक आम जनता पहुँच सके। आदर्श एक लक्ष्य, एक केन्द्र-बिन्दु हुआ करता है जहाँतक पहुँचने की सबकी कोशिश होनी चाहिये। यह दूसरी बात है कि वहाँ तक सब नहीं पहुँच पाते कुछ दृढ़ मनोबली व अटूट आत्मशक्तिवाले ही पहुँच पाते हैं। ऐसी स्थिति में जो चरम कोटि की अहिंसा का आदर्श—'सर्व भूतेषु संयमः' है वह असंदिग्धरूप से माना जाना चाहिये। वहाँ तक पहुँचनेवाले कम होते हैं। यह शिकायत तत्त्व का पूर्ण रूप समझने और उसका विवेचन निरूपण करने में बाधक नहीं बन सकती।

तत्त्वदर्शी ऋषियों ने यह अनुभव किया कि चरम कोटि की अहिंसा तक साधारण व्यक्ति नहीं पहुँच सकते। ऐसी स्थिति में उन्होंने हिंसा को दो भागों में विभक्त किया—एक अर्थ हिंसा और दूसरा अनर्थ हिंसा। दूसरे शब्दों में कहें तो एक अनिवार्य हिंसा और एक साधारण हिंसा। जीवन का लक्ष्य तो यही होना चाहिये कि हिंसा में कमी होती चली जाय और एक दिन ऐसा आये जब वह बिल्कुल मिट जाय। हालांकि अनर्थ और अनावश्यक हिंसा से बचना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है मगर जीवन चलाने के लिये समाज तथा राष्ट्र की सुरक्षा के लिये आवश्यक व अनिवार्य हिंसा से साधारण व्यक्ति बच नहीं सकता ; उसे वह करनी ही पड़ती है इसलिये उस हिंसा को अर्थ तथा अनिवार्य हिंसा की कोटि में रक्खी गयी है। यह एक प्रकार से साधारण व्यक्ति के लिये अपरिहार्य है फिर भी यह है हिंसा ही। अनिवार्य और अपरिहार्य होनेसे हिंसा अहिंसा नहीं बन सकती। अहिंसा का पालन न होना यह एक बात है किन्तु

हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा समझना यह सबसे पहले आवश्यक है। हिंसा से न बचना यह तो एक ही दोष है मगर हिंसा को अहिंसा समझना, उससे हिंसा का दोष तो है ही, गलत दृष्टिकोण का दोष और पैदा हो जाता है। मैं समझता हूँ यदि दृष्टिकोण सही रहे तो कोई उलझन नहीं। जैन-धर्म में दृष्टिकोण को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। वहाँ बताया गया है कि मनुष्य चाहे तत्त्व को यथाशक्ति ही अपनाये किन्तु उसे समझे सही रूप से। हिंसा को यदि हिंसा नहीं समझी जाएगी तो वह छूटेगी क्योंकर? जब हिंसा को हिंसा समझी जाएगी तो अपने आप उसको कम करने या सम्पूर्ण छोड़ देने की कोशिश होती रहेगी। संक्षेप में जैन-धर्म का यही कहना है कि अगर सामाजिक प्राणी, चूंकि वह पूरा अहिंसक नहीं है, अनिवार्य हिंसा को न छोड़ सके तो कम से कम उसे हिंसा तो अवश्य समझे।

यदि आप पूछें—'नाततायि वधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इसके विषय में आपके क्या विचार हैं? भला जो हिंसा, लूटपाट और हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करनेवाली है, उसे मार डालनेमें मारनेवाले को क्यों कर दोष लगेगा? मैं पहले ही कह चुका हूँ—हिंसा आखिर हिंसा है वह किसी की भी हो, कैसी भी हो; उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता। राजनीति की दृष्टि में यह पद्य ठीक माना जा सकता है। वहाँ दुष्टों व अपराधियों को फाँसी पर चढ़ा देना भी दोष नहीं माना जाता। राजनीति की दृष्टि से फाँसी का आदेश देनेवाले न्यायाधीश को इसका कोई दोष नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से यहाँ पर देखा जाय तो न्यायाधीश को कोई अधिकार नहीं कि वह किसी को फाँसी की सजा दे। पापी अपने किये हुए पापों का अपने आप फल भुगत लेगा। अगर नियम भंग करनेवाला मेरे पास आये और कहे कि मैं प्रायश्चित्त नहीं करूँगा तो मेरा कोई अधिकार नहीं कि मैं जबरदस्ती उसे प्रायश्चित्त दूँ। शिक्षा देना मेरा कर्तव्य है उसके द्वारा हृदय-परिवर्तन करने की चेष्टा मैं कर सकता हूँ मगर बलात् मैं उसपर प्रायश्चित्त नहीं थोप सकता। इसलिए मैं समझता हूँ कि उपरोक्त पद्य राजनीति का विधान है। राजनीति में दण्डविधान का समर्थन रहता है। यही कारण है यहाँ पर आततायी की हिंसा का समर्थन किया गया है। यह ध्यान देने की बात है कि राजनीतिक उद्देश्य समाज की रक्षा करना है और इसके लिए उसे आततायी की हिंसा का समर्थन भी करना पड़ता है। इससे धर्मनीति का मार्ग सर्वथा पृथक् है। वह किसी भी परिस्थिति में हिंसा का विधान नहीं कर सकती। उसकी दृष्टि में हिंसा, हिंसा ही है और उसे हिंसा का समर्थन हर स्थिति में अस्वीकार्य है।

भारतीय दर्शनों ने राजनीति और धर्मनीति का सम्मिश्रण नहीं किया। धर्म-नीति का प्रभाव राजनीति पर अवश्य रहे, किन्तु वह उसमें घुले-मिले नहीं। जब धर्मनीति अपनी इस मर्यादा को लाँघकर राजनीति में घुल-मिल जाती है तब उसका

दुरुपयोग होने लगता है फलतः धर्मनीति और राजनीति दोनों ही घातक और खतरनाक बन जाती हैं। दोनों का मार्ग अलग-अलग है। राजनीति में बल प्रयोग अवश्यम्भावी है। धर्मनीति में जबरदस्ती व बल-प्रयोग को कोई स्थान नहीं। वहाँ बल व प्रलोभनपूर्वक कोई प्रवृत्ति नहीं कराई जा सकती। उपदेश, शिक्षा द्वारा आत्म शुद्धि व हृदय-परिवर्तन ही उसको अभीष्ट है। इस प्रकार धर्मनीति और राजनीति में स्पष्ट अन्तर है। अतएव इन दोनों का किसी भी हालत में सम्मिश्रण नहीं किया जाना चाहिये।

क्या निर्बल और क्या बलवान, क्या निर्धन और क्या धनवान ; धर्मनीति में सबको समान स्थान दिया गया है। धर्मनीति में जितना एक बली व धनिक का महत्त्व है उतना ही एक निर्बल व निर्धन का है। धर्मनीति सिखलाती है कि किसी को उत्पीड़ित मत करो, सबके साथ मैत्री, बन्धुता व सौजन्य का सम्बन्ध रखो। आप कहेंगे कि टिड्डी, हरिण, बन्दर, गीदड़ आदि जानवर, जो कि हमारी खड़ी धान की फसलों को नष्ट कर देते हैं उन्हें अगर नहीं मारा जायगा तो मानव-समाज भूखों मर जायगा। अगर ध्यान से देखें तो इसी सवाल से यह भी सवाल उठता है कि क्या मानव स्वार्थ-प्रधान है? हाँ ! उसकी नीति स्वार्थ-प्रधान है। उसके सामने हिंसा-अहिंसा का प्रश्न मुख्य नहीं, प्रश्न अपनी रक्षा और अपने बचाव का है। इसीलिये राजनीति में मानव-समाज की रक्षा के लिये औरों को मारने का विधान चलता रहता धर्मनीति इस तरह के स्वर में स्वर नहीं मिला सकती। उसकी दृष्टि में सृष्टि पर जितना अधिकार मानव समाज का है उतना ही अधिकार पशु-समाज का भी है। मनुष्य में दिमाग और बुद्धि है इसलिये वह पशु से उसका अधिकार छीन सकता है। मगर यदि उसमें भी बुद्धि और दिमाग होता तो वह भी मनुष्य का कबका ही खात्मा कर दिया होता। यहां पर तो यही उक्ति चरितार्थ होती है कि—"जिसकी लाठी उसकी भैंस" यह सदा से होता चला आया है कि बड़े मच्छर छोटे मच्छरों को खा जाते हैं। प्रसन्नता का विषय है कि आजकल कहीं-कहीं पर दण्ड-विभाग में अपराधियों का शिक्षा द्वारा हृदय बदलने के प्रयोग किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि धार्मिक लोग मानव-समाज के स्वार्थ के लिये होनेवाली हिंसा को अहिंसा कहते हैं तो यह तो वही बात हुई जैसे—"गंगा उल्टी, बहने लगी" और "उल्टा नमक सांभर जाने लगा।"

मेरी दृष्टि में अहिंसा और दया में कोई अन्तर नहीं। जो अहिंसा है वही दया है और जो दया है वही अहिंसा। जैनसूत्र "प्रश्न व्याकरण" में अहिंसा के साठ नाम बताये गये हैं। जिनमें दया, रक्षा, अनुकम्पा, करुणा आदि नामों का भी उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से चाहे अहिंसा कहिये, दया कहिये, अनुकम्पा कहिये, करुणा कहिये सब एक ही हैं। प्रश्न होगा फिर दया और अहिंसा में अन्तर क्या है?

लोक-दृष्टि से जो थोड़ा अन्तर है उसका ही आज मुझे स्पष्टीकरण करना है। अहिंसा का जहाँ सवाल है वह सर्व-सम्मत है। उसको लेकर कोई दो मत नहीं। मगर दया एक ऐसा तत्त्व है जिसके हमें दो भेद करने पड़ते हैं—एक लौकिक दया और एक लोकोत्तर दया। दूसरे शब्दों में कहें तो एक व्यावहारिक दया और एक पारमार्थिक दया। देखिये—एक तम्बाकू पीनेवाला किसी से अग्नि माँगता है और जब उसे अग्नि दे दी जाती है तो वह देनेवाले को बड़ा दयालु और कृपालु कहकर पुकारता है। इसी तरह किसी प्यासे को जल पिलाने पर वह उसे दयालु और कृपालु कहकर उसको बड़ी-बड़ी दुहाइयाँ देता है। सोचने की बात यहाँ इतनी ही है कि उस लौकिक दया को सब दया कहेंगे मगर अहिंसा कोई नहीं बतायेगा। ऐसी स्थिति में दया और अहिंसा का एकत्व होते हुए भी कहीं-कहीं पर दया के दो रूप बनाकर अहिंसा के साथ में उसका अन्तर दिखाना अनिवार्य हो जाता है। जहाँ अहिंसा एक मात्र आध्यात्मिक व आत्मशुद्धि का पथ-प्रदर्शन करती है वहाँ दया लौकिक व लोकोत्तर, व्यावहारिक व पारमार्थिक दोनों का पथ-प्रदर्शन करती है। मतभेद, संघर्ष और झंझट यही है। वास्तव में अब मुझे दया के इन दो रूपों पर ही जैन-सूत्रों के आधार पर से सविस्तार कुछ प्रकाश डालना है।

जैन-सूत्रों में ऐसे कई प्रसंग आये हैं जहाँ परस्पर विरुद्ध अर्थों में दया का प्रयोग किया गया है। दया शब्द से एक ओर जहाँ मोहात्मक भावना व्यक्त होती है तो दूसरी ओर उसी दया शब्द से निर्मोहात्मक भावना। दया के इन दो रूपों के आधार पर सहज ही लौकिक दया और लोकोत्तर दया का स्वरूप अवगत किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ महारानी धारिणी ने गर्भ की अनुकम्पावश उसकी रक्षा के लिये हितकर पथ्य भोजन किया। ज्ञातासूत्र प्रथम अध्ययन में इसके लिये आए हुए 'तस्स गब्भस्स अणुकम्पणट्ठाए' इस पाठ से यह सहज सिद्ध हो जाता है कि यह मोहासक्त अनुकम्पा दया लौकिक है।

इसी तरह उसी ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन में कहा गया है: "माता के असामयिक मेघ वर्षा के 'डोहले' को पूर्ण करने के लिये अभयकुमार पर अनुकम्पा कर पूर्व भव के मित्र देवता ने जल बरसाया।" वहाँ पर आए 'अभयकुमार अनुकम्पमाणो' इस पाठ को देखकर कोई भी तत्त्वज्ञ यह विचार कर सकता है कि यह अनुकम्पा मोह है या नहीं? मोह है तो फिर लौकिक दया कहलाने में अत्युक्ति ही क्या है?

उसी ज्ञातासूत्र के नवमें अध्ययन में जिनऋष, जिनपाल और रयणा देवी का प्रसंग आता है। व्यभिचारिणी व क्रूर-कर्मा रयणा देवी ने यक्ष की पीठ पर चढ़कर जाते हुए दोनों बन्धुओं को देखकर उन्हें संत्रस्त करने के लिये अनेक उपाय किये।

जब वे संत्रस्त न हुए तब उसने करुणा पैदा करनेवाले अत्यन्त दीनता भरे शब्दों द्वारा उनको विचलित करना चाहा। उस हालत में जिनपाल ने तो अपने मन पर पूरा काबू रखा मगर जिनऋष से न रहा गया। देवी की विलाप भरे चीत्कारों से उसका हृदय पसीज गया। उसकी आँखें एक बार देवी को निहारने के लिए अत्यन्त आतुर हो उठीं। सूत्र पाठ में बताया गया है कि "तत्थेव जिणरक्खिए समुप्पण्ण कलुणभावं" उस समय जिनऋषि ने रयणा देवी पर करुणा, अनुकम्पा कर उसकी ओर दृष्टि डाली। मोह-कर्म के उदय से रयणा देवी पर हुई जिनऋष की इस अनुकम्पा को पारमार्थिक व शुद्ध दया या अहिंसा कोई सच्चा विचारक नहीं कह सकता। मोह-जन्य होनेके कारण यह अनुकम्पा भी लौकिक दया के भेद में ही समाविष्ट है।

उपरोक्त तीनों उदाहरणों में जिस अनुकम्पा का प्रतिपादन किया गया है वह अनुकम्पा स्पष्ट ही मोह निष्पन्न है। अतएव वह लौकिक व व्यावहारिक दया कहलाती है। उसे पारमार्थिक दया कहना कतई असंगत है। लौकिक दया का मुख्य आधार समाज व्यवस्था एवं दुःखित व्यक्तियों का अनुग्रह है। उसमें हिंसा अहिंसा का विचार नहीं किया जाता। इसलिये वह लोकोत्तर दया से दूसरे शब्दों में अहिंसा से पृथक् है।

इसके विपरीत शास्त्रों में अनेक जगह ऐसी दया का वर्णन आया है जो लक्षणों व स्वरूप से पूर्वोक्त दया से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। वास्तव में वही पारमार्थिक दया है। लोकोत्तर दया दूसरे शब्दों में कहूँ तो आध्यात्मिक दया और अहिंसा दोनों एक हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं। जैनागमों में इन दोनों की अभिन्नता का निरूपण जगह-जगह पर किया गया है। दशवैकालिक सूत्र का यह पद्य 'दयाहीगारि भूएसु आस चिट्ठ सएहिवा' इसी तथ्य को पुष्ट करता है इसका मतलब है साधु प्राणिमात्र पर दया करता हुआ बैठा रहे और सोवे। इससे दया की लोकोत्तरता और अहिंसात्म-कता स्वयं सिद्ध हो जाती है। लोक-दृष्टि में प्राणरक्षा, परानुग्रह और उसके साधनों को भी दया कहा जाता है। मगर उनमें आत्मशुद्धि का तत्त्व न होने के कारण वह मोक्ष का हेतु नहीं बनती। लोकदया को आत्मसाधन न मानने का यही कारण है कि वह मोह की परिणति है, असंयम की पोषिका है तथा उसमें बल का प्रयोग होता है। इसलिए वह तत्त्व दृष्टि में अहिंसा नहीं है। अतएव वह धर्म और पुण्य की हेतु भी नहीं है।

लोकोत्तर दया के आगमों में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में अरिष्टनेमि का किस्सा आता है। अरिष्टनेमि विवाह करने के लिये रथ पर बैठ कर जब आगे अग्रसर हुए तो उन्होंने अनेक पशु-पक्षियों को पिंजरों में बँधे हुए देखा। सारथी से उन्होंने प्रश्न किया—"सारथे! ये सब पशु-पक्षी पिंजरे में क्यों बँधे हुए हैं? सारथी ने उत्तर देते हुए कहा—राजकुमार इन सबको आपके विवाहोपलक्ष में काटकर

लोगों को भोजन कराया जायेगा।" यह सुनकर अरिष्टनेमि 'साणुक्कोसे' करुणार्द्र हृदय होकर सोचने लगे :

"जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई॥"

यदि ये पशु-पक्षी मेरे कारण मारे जाते हैं तो मेरे लिए यह परलोक में कल्याणप्रद नहीं होगा"—यह विचार कर अरिष्टनेमि दीक्षित होनेके लिये वहीं से वापस मुड़ गये।

इसी प्रकार ज्ञातासूत्र में मेघकुमार का प्रसंग आता है। मेघकुमार के पूर्व भव का वर्णन करते हुए वहाँ लिखा गया है कि "मेघकुमार पूर्वभव में हाथी था। एक समय जब जंगल में भीषण दावानल लगा तो जंगल के सारे जानवर एक निस्तृण स्थान में इकट्ठे हुए। हाथी ने ज्योंही शरीर को खुजलाने के लिए अपना पैर ऊँचा उठाया त्योंही रिक्त स्थान देखकर एक खरगोश आ बैठा। हाथी ने पैर नीचे धरने के लिए विचार किया तब अकस्मात् उसकी दृष्टि एक खरगोश पर पड़ी। उसने विचार किया अगर मैं नीचे पैर धरूँगा तो यह खरगोश कुचल जायेगा और मैं इस पाप का भागी बनूँगा। यह विचार कर हाथी ने दावानल के शान्त होने तक तथा उस खरगोश को वहाँ से हटने तक अपना एक पैर आकाश में अधर रखा। घटनोपरान्त पैर धरती पर रखनेका प्रयास किया तब पैर अकड़ जाने के कारण वह निःसहाय होकर धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। नीचे गिरते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। यहाँ जो हाथी ने अपनी प्रवृत्ति से खरगोश की हत्या न कर अपना बलिदान कर दिया, वास्तव में यही दया सही शुद्ध पारमार्थिक है। अपनी ओर से किसी को न मारना, न सताना, यही दया का मौलिक रूप है

अब प्रश्न यह उठता है कि लौकिक और लोकोत्तर दया सावद्य है या निरवद्य? लोकोत्तर दया निरवद्य है इसको लेकर तो किसी में किसी प्रकार का मतभेद है ही नहीं। अब बात रही लौकिक दया की। लौकिक दया को लेकर कुछ विभिन्न धारणाएँ हैं। लौकिक दया में मोह का सम्मिश्रण असंयम का पोषण तथा बलात्कारिता होने के कारण जैनागमों में उसकी निरवद्यता व शुद्धता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती। लोकोत्तर दया निरवद्य होने के कारण साधुओं के लिए भी वह उपादेय है; पर लौकिक दया में साधुओं को भाग लेना चाहिए या उसका अनुमोदन करना चाहिए ऐसा सूत्रों में कहीं नहीं आता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि लौकिक दया शुद्ध व निरवद्य नहीं है।

उदाहरणतः उत्तराध्ययन सूत्र में नमिराजर्षि का किस्सा आता है। उसका वह किस्सा वैदिक साहित्य में जनकजी के नाम से प्रसिद्ध है। वैराग्य की परीक्षा के लिए समागत ब्राह्मण रूप में इन्द्र ने जंगल में स्थित नमिराजर्षि से कहा—"भगवन् आपकी

मिथिला नगरी अग्निसात् हो रही है। आपकी प्रजा, आपके सम्बन्धी जन और अंतःपुर अग्नि की भयंकर लपटों से भस्मसात् हो रहे हैं। आप उस ओर क्यों नहीं देख रहे हैं? एक बार देखिए तो सही, आपके देखने मात्र से अग्नि शान्त हो जायगी और यह जो भीषण नर-संहार हो रहा है वह भी रुक जायेगा।" देवेन्द्र की यह करुणा जनक वाणी सुनकर नमिराजर्षि ने अपने निर्मोहात्मक स्वरूप का परिचय देते हुए कहा—देवेन्द्र! मैं सुख से रह रहा हूँ, सुख से जीवन बिता रहा हूँ। उस मिथिला नगरी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो यही समझता हूँ कि उस मिथिला नगरी के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है। आगे नमिराजर्षि ने कहा हैं— पुत्र, मित्र, कलत्र और सब प्रकार के सांसारिक व्यापार से विरक्त साधुओं के लिये संसार से राग और द्वेष अकरणीय हैं, वर्जनीय हैं। अतएव, उनके लिये न तो कुछ प्रिय है और न कुछ अप्रिय ही।" इन आगमिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि लौकिक दया निरवद्य नहीं। अतएव वह साधुओं के लिए अनुपादेय है। यदि लौकिक दया निरवद्य होती तो नमिराजर्षि भीषण नर संहार से नगरी की रक्षा के लिए नगरी की ओर क्यों नहीं देखते? ऐसा क्यों कहते हैं कि साधुओं के लिये प्रिय और अप्रिय कोई नहीं। यह उदाहरण जब गांधीजी के सामने रखा गया और उनसे यह पूछा गया कि यहाँ नमिराजर्षि को क्या कहना चाहिए? उस समय गांधीजी ने यह स्पष्ट कहा था कि 'नमिराजर्षि निर्दय नहीं अपितु निर्मोह थे। इससे यह और स्पष्ट हो गया कि निर्मोह व्यक्ति के लिए मोह स्वरूपात्मक लौकिक दया ग्राह्य नहीं, इसका यह मतलब नहीं कि वह मोहासक्त लौकिक प्राणियों के लिए तो शुद्ध और निरवद्य ही है। यह निश्चित नियम है कि निरवद्यता का कोई अलग विभाग नहीं है। जो निरवद्य है वह फिर मोहासक्त और निर्मोह सबके लिए निरवद्य शुद्ध और उपादेय है। इसी तरह जो सावद्य और अशुद्ध है वह सबके लिए सावद्य और अशुद्ध ही है। यह कोई नियम नहीं कि मोहोत्पत्ति सम्बन्धियों, तथा परिचितों से ही सापेक्ष है। तथारूप सामग्री और साधनों के संयोग मिलने पर मोह कहीं पर भी पैदा हो सकता है। जिन व्यक्तियों को जीवन भर में कभी देखा नहीं जिनसे कोई सम्बन्ध और परिचय नहीं फिर भी सिनेमा में उन्हें रोते देखकर मनुष्य रोने लगता है। उन्हें हँसते देखकर हँसने लगता है और अप्रत्यक्ष रूप में उनके साथ आकर्षण व सहानुभूति के भाव पैदा हो जाते हैं। इसलिये मोहोत्पत्ति के लिये यह कोई प्रतिबन्ध नहीं कि वह सम्बन्धियों या परिचितों की ही अपेक्षा रखती है। इस मोह को चाहे करुणा कहा जाये, चाहे अनुकम्पा, आखिर है यह लौकिक दया का ही रूप।

साधु के लिए लौकिक दया का आचरण सूत्रों में स्पष्ट वर्जनीय है। निशीथ सूत्र में लौकिक अनुकम्पा करने पर साधु को प्रायश्चित्त बताया गया है। वहाँ कहा गया

हैं कि "यदि कोई साधु-साध्वी त्रस प्राणियों पर अनुकम्पा कर उन्हें रज्जु आदि खोल कर आजाद करे तो उसे चौमासिक प्रायश्चित आता है।" यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर लौकिक अनुकम्पा सावद्य और मोहयुक्त न होती तो साधु को प्रायश्चित्त किस बात का बताया जाता ? यहाँ कोई यह तर्क करे कि लौकिक अनुकम्पा साधु के लिये वर्जनीय है मगर गृहस्थ के लिये तो नहीं ? उन्हें तो इसमें मोक्ष साधक रूप धर्म ही होता है ? तो यह तर्क बिलकुल निरर्थक है। जिस काम के करने से साधु को प्रायश्चित्त लगे उसी काम के करने से गृहस्थ की आत्मशुद्धि हो यह कभी सम्भव नहीं। आध्यात्मिक धर्म क्या साधु और क्या गृहस्थ, सब के लिए एक समान हैं। जो साधु के लिए आत्मशुद्धि का कारण नहीं वह गृहस्थ के लिए भी आत्मशुद्धि का कारण नहीं बन सकता।

अब लीजिए भगवान् महावीर का उदाहरण। जिसे लेकर कुछ लोग कहा करते हैं कि भगवान् महावीर ने गोशालक पर अनुकम्पा कर उसे बचाया। इसीलिए यह अनुकम्पा धर्म है। अतएव मोक्ष का मार्ग है। इसके साथ साथ उनका हमारे तेरापन्थ पर यह भी आरोप रहता है कि तेरापन्थी लोग भगवान् महावीर से भी नहीं टले, उन्हें भी चूके बताते हैं। अब मुझे इसपर कुछ प्रकाश डालना है।

भगवान् महावीर सर्वज्ञ होने के बाद चूके, ऐसा हमारा कथन नहीं है। छद्मस्थ काल में किसी का चूक जाना कोई असम्भव घटना नहीं। तीर्थंकरों के लिए यह आगमिक आम प्रथा है कि वे बोधि प्राप्त करने के पूर्व न किसी से बोलते हैं, न किसी को उपदेश देते हैं, न किसी को दीक्षा देते है और न चर्चा वार्ता ही करते हैं। ऐसी स्थिति में बोधि प्राप्त होने तक मौन साधना ही छद्मस्थ अवस्था में इस मर्यादा का प्रायः पालन किया है। मगर उस अवस्था में उनसे गोशालक का प्रसंग होना यह एक ऐसी घटना है जो तीर्थंकरों की छद्मावस्था की पूर्वोक्त मर्यादा का उलंघन करती हुई प्रतीत होती है। गोशालक भगवान के पीछे पड़ गया। भगवान ने उसे टालना चाहा किन्तु आखिर बार-बार प्रार्थना करने पर भगवान को उसे स्वीकार करना ही पड़ा। ऐसे अयोग्य को दीक्षित करने के कारणों पर स्पष्टता पूर्वक प्रकाश डालते हुए भगवती सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने लिखा है :

एतस्य अयोग्यस्यापि अभ्युपगमनं भगवतः तद् अक्षीण रागतया, परिचयेन, इषद् स्नेह गर्भानुकम्पा-सद्भावात् छद्मस्थतया अनागतदोषअनवगमात्, अवश्यं भावित्वाच्च इति भावनीयम्। श० १५ : ३, १

अर्थात् ऐसे अयोग्य को जब भगवान ने स्वीकार किया उस समय भगवान अक्षीण रागी थे। उनमें स्नेहात्मक मोहात्मक अनुकम्पा का सद्भाव था। छद्मस्थ होने के

कारण वे भविष्य में होने वाले दोषों से अनभिज्ञ थे या होनहार ही ऐसा था। स्पष्ट ही भगवान् महावीर का गोशालक को दीक्षा देना तीर्थङ्करों की छद्मावस्था की रीति से आगे का काम था। आगे चलकर यही गोशालक बड़ा अविनीत निकला। उसने भगवान् महावीर को झूठा साबित करने के लिए अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ की। इस के सहवास में भगवान् महावीर को भी अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ा। एक समय गोशालक ने एक बाल तपस्वी को देखा। उसका नाम वैशम्यायण था। उसने मैले-कुचैले वस्त्र पहिन रखे थे। सिर पर जटा बँधी हुई थी। अस्तव्यस्त जटा में जुओं का ढेर लगा हुआ था। गोशालक ने उसे देखकर उसकी भर्त्सना करते हुए बड़े कड़े शब्दों में उससे कहा—ऐ दरिद्री! जुओं के सेज्यातर! कौन हो तुम? साधु हो या केवल वेशधारी हो? वैसियायण ने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया। वह बिलकुल खामोश रहा। गोशालक उसे मौन देखकर, दो बार, तीन बार इस तरह बोलता ही गया। आखिर वैसियायण अकारण ही इन दुर्वचनों को सुनकर गोशालक पर कुपित हो उठा। उसने गोशालक को भस्म करने के लिये तेजोलब्धि नामक प्रचण्ड शक्ति का प्रयोग किया। भगवान महावीर ने देखा कि गोशालक तो जला। यह विचार कर तत्काल उन्होंने गोशालक पर अनुकम्पा कर उसे बचाने के लिये वैसियायण की शक्ति के विरुद्ध शीतल तेजोलब्धि नामक शक्ति का उपयोग किया। शक्ति से शक्ति की टक्कर हुई। आखिर भगवान् की शक्ति के सामने वैसियायण की शक्ति टिक नहीं सकी। वह वहीं पर नष्ट हो गई। प्रथम तो यहाँ सोचने की बात यह है कि जिनका अहिंसा द्वारा हृदय-परिवर्तन करना ही एक मात्र सिद्धान्त था; बल प्रयोग को जिन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। बल प्रयोग को जिन्होंने हिंसा बतलाकर उसे अहिंसकों के लिये अप्रयुज्य बताया; उन्हीं भगवान् महावीर ने गोशालक को बचाने के लिये बल के विरुद्ध बल का प्रयोग किया, यह उनके लिये कहाँतक उपयुक्त था? शक्ति से शक्ति का मुकाबला करना कभी धर्म नहीं कहला सकता। दूसरे में शक्ति-स्फोरण साधुओं के कल्प के बाहर की चीज है। सूत्रों में लब्धि का फोड़ना दोष बताया गया है और उसके लिये प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। अतएव भगवान् महावीर का छद्मस्थ काल में लब्धि का फोड़ना कभी धर्म कार्य नहीं कहला सकता। यहां लब्धि फोड़कर गोशालक के संरक्षण करने के विषय में प्रकाश डालते हुए टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने लिखा है: इह चेद् गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वात् भगवतः यत्र सुनक्षत्र-सर्वानुभूति मुनि पुंगवयोर्नकरिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वात् अवश्यं भावित्वात् वा इत्यत्रसेयमिति।"

यहाँ जो भगवान ने लब्धि फोड़कर गोशालक का संरक्षण किया है उसका कारण भगवान की सरागी अवस्था है और केवलज्ञान होने के बाद सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्र

मुनि का लब्धि फोड़कर संरक्षण नहीं करेंगे इसका कारण भगवान् की बात रागावस्था की होगी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोशालक को बचाना सरागत्व यानी मोह था, न कि धर्म, मोह जैसे—अशुद्ध कार्य में धर्म का होना कभी संभव नहीं। कोई यह पूछे कि, 'चार ज्ञान वाले (मति, श्रुति, अवधि, मनपर्यव) भी कभी भूल कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि जब छद्मस्थ हैं, असर्वज्ञ हैं, साधक हैं, केवल ज्ञान पैदा नहीं हुआ है तब तक भूल होना कोई बड़ी बात नहीं। स्वयं चार ज्ञान के धारक गणधर गौतमस्वामी ने आनन्द श्रावक को पैदा हुए विशिष्ट अवधि ज्ञान पर अविश्वास प्रगट किया। भगवान् महावीर ने इसमें गौतमस्वामी की भूल बताते हुए उन्हें उसी समय आनन्द श्रावक से अपनी भूल के लिये क्षमा-याचना करने के लिये वापिस भेजा। इससे यह आगम सिद्ध है कि असर्वज्ञावस्था में ज्ञान होने पर भी भूल होना असंभव नहीं।

कुछ लोग प्रश्न व्याकरण सूत्र के "सव्वजगजीवरक्खणदयाट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं" इस पाठ को लेकर यह तर्क किया करते हैं कि जब सिद्धान्तों में यह कहा गया है कि संसार के सभी जीवों की रक्षारूप दया के लिये भगवान् अपना प्रवचन किया करते हैं, तब आप जीवों के बचावरूप दया को आत्म-साधक क्यों नहीं मानते? इसके जवाब में मुझे यह कहना है कि इस पाठ को कुछ गम्भीरता से देखा जाय। यहाँ जो रक्षा का विधान किया गया है उसका सम्बन्ध आत्मा से है, न कि शरीर या प्राणों से। आत्मरक्षा का मतलब है—बुरी वृत्तियों से आत्मा की रक्षा करना। ऐसी स्थिति में यदि यही आग्रह किया जाय कि यहाँ प्रयुक्त रक्षा शब्द का अर्थ मरते हुए जीवों को बचाने से है न कि आत्मरक्षा से। तो देखिए इसी प्रश्न व्याकरण सूत्र में कुछ आगे चलकर—इमं च अलिलयपिसुनफरुसकडुअचवल वयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं' यह पाठ आया है। जिसका अर्थ है—असत्य, पिशुन, परुष, कटुक और चपल वचनों की परिरक्षा के लिए भगवान् ने अपना प्रवचन किया। यहाँ पर भी अगर शाब्दिक आग्रह को लेकर यही माना जाय कि असत्य पिशुन आदि वचनों से आत्मा की रक्षा के लिये भगवान ने अपना प्रवचन किया, इस तरह ये दो पाठ ही नहीं, बल्कि अनेक ऐसे एक समान पाठ मिलते हैं जिनसे आत्म-रक्षा के लिये अतिरिक्त दूसरा विकल्प उठाया ही नहीं जा सकता।

विचार कर देखा जाय तो केवल दया के दो भेद नहीं अपितु ध्यान और सेवा आदि के भी दो-दो भेद उपलब्ध होते हैं। ध्यान अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का होता है। इसी तरह सेवा भी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशी मुनि का प्रसंग आता है। वहाँ बताया गया है कि—'जब विप्र मुनि को सताने लगे तो उनकी सेवा में रहनेवाले यक्ष ने मुनि के शरीर में प्रवेश कर विप्रों को

मार-मार कर औंधेमुँह गिरा दिया। वास्तव में यह सेवा सेवा नहीं थी, यक्ष की गलती थी। यह सेवा शुद्ध और सात्त्विक नहीं कहला सकती। इसी तरह गृहस्थ द्वारा की गई पगचम्पी या अन्य शारीरिक सेवा का अनुमोदन करनेवाला साधु दोषी तथा नियम भंग करने का दोषी होता है। शास्त्रों में ऐसा प्रसंग आया है कि—यदि कोई गृहस्थ मूर्च्छा अवस्था में किसी साधु की मसे को काट दे, उसका अगर साधु अनुमोदन करे तो साधु को प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह जब ध्यान सेवा इत्यादि दो प्रकार के हो सकते हैं तब दया के दो प्रकार के होने में कौन-सी बड़ी बात है। पंचप्रतिक्रमण के वंदितु पाठ में आई हुई एक गाथा यह स्पष्ट सूचित करती है कि अनुकम्पा दो प्रकार की है। वह गाथा इस प्रकार है :

सुहिएसु च दुहिएसु च जो मे,
असंजमेसु अनुकम्पा।
रागेण च दोषेण च,
तं निन्देतं च गरिहामि ॥

अर्थात् सुखी या दुःखी प्राणी जो कि असंयत हैं उस पर राग या द्वेषवश मेरी अनुकम्पा हुई तो उसकी मैं निन्दा व गर्हा करता हूँ। अगर अनुकम्पा का कोई दूसरा भेद ही न हो तो यहाँ यह विचारणीय विषय बन जाता है कि जब अनुकम्पा सिर्फ धार्मिक व शुद्ध ही है तो यहाँ अनुकम्पा के लिये निंदा और गर्हा शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? इससे यह स्पष्ट साबित होता है कि अनुकम्पा एक प्रकार की नहीं है। पूर्वोक्त गाथा में आये हुए रागद्वेष शब्दों से तो यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ मोहात्मक अनुकम्पा का वर्णन किया गया है। और यह कहा गया है कि अगर मेरी ओर से किसी पर मोहात्मक अनुकम्पा हो गई हो तो उसकी मैं निन्दा और गर्हा करता हूँ।

यदि शरीर रक्षारूप लौकिक अनुकम्पा आत्मशुद्धि का हेतु होती तो आचारांग सूत्र में उसका निषेध क्यों किया जाता? आचारांग सूत्र में लिखा है कि—नौका में जल आ रहा है और उससे अनेक मनुष्यों के डूबने की संभावना है। यह जानते हुए भी साधु को न तो नाविक को बताने का ही मन में विचार करना चाहिये और न वचन के ही द्वारा ही उसे कहना चाहिये[1]। यदि जीवों को मरने से बचाने में धर्म होता तो यहाँ इसके लिये निषेध कर धर्म के द्वार क्यों बन्द किये जाते?

---

१ "से भिक्खू वा भिक्खूणिवा नावाए उत्तिंगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरिं-णावंकजलावेमाणिं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बूआ आउसन्तो गाहावइ एयन्ते णावाए उदयं उत्तिगेणं आसवति उवरुवरिं वा नावाकजलावेति एतप्पगारमणंवावायं वा णो पुरवो कटटु विहरेज्जा अप्पुस्सुए अवहिल्लेस्से एगंति गयेणं अप्पाणं विउसेज्ज समाहिए। तओ संजयामेव णावासंतारिमे उदए आहारियंरियेज्जा।"

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि 'जब आपने लब्धि फोड़ना कल्प विरुद्ध और सदोष बतलाया तो क्या कहीं सूत्रों में ऐसा प्रसंग मिलता है जिससे यह सिद्ध हो कि भगवान् महावीर ने दोष का परिमार्जन करने के लिये अमुक प्रायश्चित्त लिया।' इस विषय में मेरा यही कहना है कि सूत्रों में भगवान् महावीर के पूर्ण जीवन-चारित्र का उल्लेख नहीं किया है। यदि समूचे जीवन-चर्या का उल्लेख होता तो संभवतः वह प्रसंग भी अछूता नहीं रहता।

इतने विवेचन का सारांश यही है कि भगवान् महावीर का छद्मस्थ काल में गोशाले पर अनुकम्पा कर उसे बचाने के लिये लब्धि का फोड़ना उनके नियमों के अनुकूल नहीं था, और न वह अनुकम्पा मोहमिश्रित होने के कारण शुद्ध पारमार्थिक दया थी। इस उदाहरण को लेकर प्राण व शरीर रक्षा रूप अनुकम्पा को निरवद्य व मोक्ष साधक सिद्ध नहीं किया जा सकता यदि यह अनुकम्पा शुद्ध होती तो केवल ज्ञान प्राप्त होनेके बाद भगवान् महावीर गोशालक द्वारा प्रयुक्त तेजोलब्धि द्वारा भस्म होते हुए अपने दो साधुओं को क्यों नहीं बचाते? यहाँ यदि यह तर्क किया जाय कि भगवान ने इसलिये उन्हें नहीं बचाया कि भगवान महावीर के अतिरिक्त अन्य भी तो अनेक लब्धिधर गौतमादि साधु उपस्थित थे। उन्हें तो यह पता नहीं था कि यह भवितव्यता ऐसी ही है। यदि बचाना धर्म है तो उन्होंने उन साधुओं को क्यों नहीं बचाया? इसलिये 'न बचाना' ही यहाँ स्पष्ट करता है कि प्राण और शरीर रक्षा, मोहात्मक अनुकम्पा है, जो लौकिक है। मोक्ष-धर्म के अनुकूल नहीं, इसलिये गौतमादि मुनियों ने बचाने की शक्ति होते हुए भी उन साधुओं को नहीं बचाया।

अन्त में मैं लोगों से यही कहूँगा कि वे दया और अहिंसा विषय पर प्रगट किये गये विचारों पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन और मनन करें। अहिंसा एक निषेधात्मक पहलू है, उसको लेकर कोई मत भेद नहीं। मगर जहाँ दया का सवाल आता है वहाँ अनेक प्रकार की उलझनें पैदा होती हैं। इन्हीं उलझनों को सुलझाने के लिये आज का विशेष सार्वजनिक प्रवचन रखा गया है। कहने का मतलब इतना ही है कि व्यक्ति की आत्मा को उन्नत और उज्ज्वल बनाना ही विशुद्ध दया का सही लक्ष्य है। औरों का उपकार और बचाव तो इसके साथ प्रासंगिक रूप से अपने आप हो ही जाता है। विशुद्ध दया की दृष्टि में आत्मा की प्रमुखता रहती है न कि प्राणों की। प्राणों का मोह भी आखिर मोह ही है। विशुद्ध दया की भूमिका सर्वथा निर्मोह ही है। यही कारण है कुछ विरोधी सज्जन इस मौलिक सिद्धान्त को तोड़ मरोड़ कर जनता के सामने रखने का असफल प्रयास करते रहते हैं। उनकी ओर से हम पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये जीवों को बचाने का निषेध करते हैं। यह सर्वथा

मिथ्या और अनुचित है। यदि कोई किसी को बचा रहा हो, दूसरा कोई मना करे, तो उसे हम हिंसक और निर्दय मानते हैं। वस्तुतः अहिंसा धर्म बल-प्रयोग से नहीं पनपता उसके लिये हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है। विशुद्ध अहिंसा है—दुष्प्रवृत्तियों से बचना और बचाना। बचाना या न बचना मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर है। हमें सिर्फ समझाने का अधिकार है, ताड़ने का नहीं। आशा है लोग शास्त्रीय, यौक्तिक व धार्मिक आधारों से प्रस्तुत विषय पर किये गये विवेचन पर निष्पक्ष हृदय होकर सिद्धान्त की गहराई तक पहुँचेंगे।

जोधपुर,
४ अक्तूबर, '५३

१३० : विद्यार्थी बनाम आत्मार्थी

विद्या-उपार्जन का मकसद केवल साक्षरता या बड़ी-बड़ी पदवियाँ धारण कर लेना ही नहीं है। विद्या-ग्रहण करने का सही लक्ष्य है—जीवन को समझना। उसे संस्कारित बनाना। विनोबा जी ने एक जगह लिखा है—अधिक पढ़ना एक व्यसन है, यदि उसपर मनन और आचरण न किया जाए। वास्तव में बात ऐसी ही है। जिस शिक्षा ने अन्तरतम को स्पर्श नहीं किया, जागृत नहीं किया, वह शिक्षा कैसी शिक्षा है? विद्यार्थी सही माने में आत्मार्थी हैं। वे अपनी आत्मा को टटोलें, अपनी बुराइयों को देखें और उनसे अपने को मुक्त बनायें। फलतः जीवन में संस्कार और सात्त्विकता आयेगी।

विद्यार्थी-जीवन तपस्यापूर्ण जीवन है, साधना-काल है और भावी जीवन की सर्जन बेला है। तपस्वी की तरह विद्यार्थी अपने को संयत और साधनाशील बनाता हुआ इस महत्त्वपूर्ण बेला को सुफल बनायें। विद्यार्थी फैशनपरस्ती, दिखावा, आडम्बर और भौतिकता में न फँसकर जीवन में सादगी और सरलता को प्रश्रय दें। उनका खान-पान न बिगड़े। उनका चरित्र शुद्ध हो, मन संयत हो। इससे सचमुच में वे एक नई चेतना और जागृति का अनुभव करेंगे। चरित्र जीवन की बुनियाद है। जीवन की बड़ी-बड़ी मंजिलें इसीपर आधारित हैं। बुनियाद मजबूत होनी चाहिए। महात्मा गाँधी जब बैरिस्टरी पास करने के लिए इंग्लैण्ड जाने लगे तो एक जैन साधु के समक्ष उनकी माता ने उनको अशुद्ध खान-पान से बचने तथा चरित्र न गिराने की प्रतिज्ञा दिलाई। वह प्रतिज्ञा उनके जीवन में एक अमिट छाप बन गई। आगे चलकर उनका जीवन कितना सात्त्विक रहा यह किसी से छिपा नहीं है। अस्तु। विद्यार्थियों को दृढ़-प्रतिज्ञ रहना चाहिए और उन्हें अपने जीवन में, आचार में कोई दोष न आने देना चाहिए।

इस युग में मानव कहता बहुत है पर करता है बहुत कम। वह दूसरों को सिखाने और सुनाने के लिए जितना उत्सुक रहता है उतना सुनने और सीखने के लिए नहीं। पर विद्यार्थियों को इससे परे रहना है। उनको सीखना और सुनना अधिक है; कहना कम। प्रकृति ने भी शायद इसीलिए दो कान दिए हैं और एक जिह्वा, जिसका अभिप्राय है सुनो अधिक और बोलो कम। अस्तु। विद्यार्थी चारित्रगठन और नैतिकता के आदर्शों पर चलते हुए अपने जीवन का निर्माण करें।

जोधपुर,
४ अक्तूबर, '५३

१३१ : आत्मधर्म और लोकधर्म

भारतीय साहित्य में धर्म शब्द का बहुत तरह से प्रयोग हुआ है। इसकी बहुत-सी व्याख्याएँ हमें मिलती हैं जो इसके भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करती हैं। जहाँ एक जगह आत्म-शुद्धि के साधन या मोक्षोपाय के रूप में इसका प्रयोग हुआ है दूसरी जगह लोक-मर्यादा, समाज-व्यवस्था, सामाजिक-नीति, नागरिक-कर्तव्य, सैनिक-कर्तव्य, राजदण्ड प्रभृत्ति अर्थों से यह आया है। आत्म-शुद्धि का साधन और लोक-व्यवस्था के ये कार्य सर्वथा एक नहीं हो सकते। ये जीवन के भिन्न पहलू हैं। अतः केवल धर्म शब्द के प्रयोगमात्र से ही कोई एक विशेष धारणा बना ले, यह उचित नहीं। यह बारीकी से समझने का विषय है। धर्म शब्द के अबतक के इतिहास और प्रयोग को देखते हुए, उसे हम स्थूल रूप में दो भागों में बाँट सकते हैं—'आत्मधर्म और लोक-धर्म।' सामाजिक या नागरिक के जो भी कर्तव्य हैं, जैसे व्यवसाय करना, परिवार का लालन-पालन करना, राष्ट्र-रक्षा के लिए युद्ध में भाग लेना, वंश-परिचालन के लिए धन का संग्रह करना, ये सब लोकधर्म के अन्तर्गत हैं। आत्मधर्म या मोक्ष का मार्ग इनसे भिन्न है। उसमें धन-संचय का स्थान नहीं, अपरिग्रह का महत्त्व है। वंश-परिचालन के बदले ब्रह्मचर्य और तपस्या का विधान है। परिवार के लालन-पालन के स्थान पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को अपनाकर विश्व में समता, मैत्री व भाईचारे के प्रसार का लक्ष्य है। गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार श्री लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य में इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लोकधर्म और आत्मधर्म का स्पष्ट अन्तर स्वीकार किया है। उन्होंने बताया है, पारमार्थिक धर्म मोक्षधर्म है, बाकी के सारे कार्य जो लोकधर्म के अन्तर्गत आते हैं वे सामाजिक-कर्तव्य हैं, नीति हैं।

बहुत से व्यक्ति धर्म शब्द में उलझ जाते हैं। उदाहरणार्थ एक छोटासा सामाजिक कार्य किया यानी एक सामाजिक भाई को एक गिलास पानी पिला दिया, भूखे को रोटी

का टुकड़ा दे दिया और समझने लगे कि मैंने बड़ा भारी धर्म कमा लिया। वे यह नहीं समझते कि एक सामाजिक भाई के नाते वह व्यक्ति उनके दान या धर्म का पात्र नहीं, वह तो भाग का अधिकारी है। सामाजिक-कर्तव्य लौकिक या नागरिक उत्तरदायित्व के नाते यदि इतना सा सहयोग एक भाई का कर दिया तो कौन-सा बड़ा कार्य किया। अपना कर्तव्य निभाया।

आत्मधर्म और लोकधर्म में मुख्य अन्तर है—आत्मधर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। वह अहिंसा और सत्य के माध्यम से चलता है जबकि लोकधर्म में अनिवार्य आवश्यकता के प्रसंग में अहिंसा और सत्य के विरुद्ध भी आचरण होता है। आत्मधर्म शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है। उसका मूल स्वरूप कभी बदलता नहीं पर लोकधर्म देश, काल आदि के अनुसार सदा बदलता रहता है। आत्मधर्म मानवमात्र के लिए है। प्राणिमात्र के लिए समान है जबकि लोकधर्म के भिन्न स्तर हैं। अपने-अपने कार्य क्षेत्र के अनुसार उसकी भिन्न-भिन्न रूप-रेखाएँ हैं। इस प्रकार दोनों में मौलिक अन्तर है। संक्षेप में आत्मधर्म आत्म-साधना का प्रतीक है। मुक्ति का साधन है। लोकधर्म लोक-मर्यादा का निर्वाहक है। लोक में रहनेवालों के लिए वह आवश्यक माना जाता है। अस्तु। अन्त में मैं कहूँगा—मेरे विचारों व सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई व्यक्ति जानकारी करना चाहे, विचार-विमर्श करना चाहे तथा विचारों का आदान-प्रदान करना चाहे तो मैं इसके लिए हर समय तैयार हूँ। अपने खाने और सोने तक का समय दे सकता हूँ।

जोधपुर,
७ अक्तूबर, '५३

१३२ : धर्म के दो पक्ष

आज का विषय अत्यन्त गंभीर, सुन्दर और माननीय है। यह संभव नहीं कि वर्षों से जमे हुए विचारों की किन्हीं नये विचारों के सुनने पर उससे टक्कर न हो। यह भी कम संभव है कि अकस्मात् नये विचार जम जायँ। सुननेवालों का यह कर्तव्य है कि वे तुलनात्मक दृष्टि से प्रत्येक विचार-धारा पर चिन्तन-मनन करें। किसी विचार-धारा के ठीक लगने पर प्रत्येक मनुष्य का यह फर्ज हो जाता है कि फिर वह तटस्थ और निष्पक्ष होकर सही विचार-धारा का समर्थन, अनुशीलन और अनुमोदन करे।

आज का विषय है आत्मधर्म और लोकधर्म। शब्दान्तरों से इन्हें ही व्यावहारिक धर्म और अध्यात्म-धर्म, लौकिक-धर्म और लोकोत्तर-धर्म, ऐहिक-धर्म और परमार्थिक धर्म, संसार-धर्म और मोक्ष-धर्म कहा जाता है। शब्द भेद है, किन्तु भावार्थ में कोई

अन्तर नहीं। सबसे पहले कुछ लोगों के दिमाग में यह प्रश्न टकराता है "ये शब्द आप कहाँ से ले आए"। आगे उनका ही कहना है कि "तेरापन्थ के आचार्य समयानुसार व लोकभय की सुविधा और लोकरंजन के लिए ऐसे नये-नये शब्द गढ़ते रहते हैं जिनसे लोग कुछ भी समझ न पाएँ और उनका काम भी बन जाए।"

मैं इस कथन को सर्वथा प्रतिकूल नहीं मानता। समयानुसार यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार, लोकरंजन या लोकभय की नीति से नहीं; मगर लोग अपनी भाषा में सरलतापूर्वक समझ सकें, इस दृष्टि से मैं मानता हूँ कि मौलिक तत्त्व को अक्षुण्ण रखते हुए नये शब्दों का विकास और निर्माण होना कोई अनुचित या अनुपयुक्त नहीं है। भगवान् महावीर ने, सबलोग सरलतापूर्वक समझ सकें, इस दृष्टि से तात्कालिक-परिचित, जनभाषा (अर्द्धमागधी) में ही अपने प्रवचन करना शुरू किया। परमाराध्य आचार्य भिक्षुस्वामी ने इसी दृष्टिकोण से अपना समूचा साहित्य राजस्थानी भाषा में लिखा। अतएव जनभाषा में विचार रखना अयुक्त नहीं। हाँ, यदि इसकी भीत्ति में स्वयं को लोकप्रिय बनने व जनरंजन की भावना हो तो निःसंदेह वह दम्भचर्या है। मगर लोगों को सुलभ तत्त्व समझाने की भावना हो तो फिर कोई अनुचित नहीं।

चालू प्रकरण में मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यद्यपि मैं पूर्व निर्दिष्ट कारणानुसार शब्दों का घड़ना उचित नहीं मानता फिर भी "लोकधर्म और "मोक्ष धर्म" शब्द मेरे घड़े हुए नहीं हैं। लोग पूछेंगे—यदि आपके घड़े हुए नहीं हैं तो क्या कहीं शास्त्रों में दो प्रकार का उल्लेख मिलता है? मैं कहूँगा—हाँ, जबकि स्थानकवासी संवेगी, तेरापन्थी आदि सम्प्रदायों का जन्म भी नहीं हुआ था उससे पहले की कई शताब्दियों पूर्व रचित आगम वाक्यों में इन शब्दों का उल्लेख मिलता है। आप सम्भवतः इसका प्रमाण चाहते हैं। प्रमाण तो मुझे इसका देना ही है। इससे पूर्व मैं यह स्पष्ट किये देता हूँ कि मूल आगमों के अलावा हमें और कोई आगमबाह्य-ग्रन्थ आगमों तरह मान्य नहीं हैं। वर्तमान में उपलब्ध टीका, चूर्णी, अवचूर्णी, निर्युक्ति आदि कोई स्वतः प्रमाण नहीं माने जाते, मगर आगमों के अनुकूल जो-जो बातें हैं वे ही हमें मान्य हैं। जहाँ-जहाँ मूल से टीका में विरोध है वहाँ हमें वे मान्य नहीं अतः विषय-विवेचन में हमारे मूल आधार और प्रमाण आगम ही रहेंगे। इसके उपरान्त आगमों के अनुकूल अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों का भी प्रयोग किया जायेगा।

सर्वप्रथम मुझे यह बताना है कि आगमों में 'लोकधर्म' और 'मोक्षधर्म' का प्रसंग कहाँ कहाँ आता है।

'स्थानांग सूत्र' में लौकिक व्यवसाय तीन प्रकार के बताये गये हैं—धर्म, अर्थ और काम। वहाँ जो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है वह स्पष्ट ही लौकिक धर्म का सूचक है। मूल सूत्र पाठ में धर्म को लौकिक व्यवसाय बताया गया है। लौकिक व्यवसाय का मतलब

है—लौकिक व्यापार, लौकिक प्रवृत्तियाँ, लौकिक व्यवस्थाएँ, लौकिक रीति-रिवाज व लौकिक कर्तव्य आदि। यह जो लौकिक व्यवसाय है इसे धर्म शब्द से अभिहित किया गया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि धर्म के 'आत्मधर्म' और लोकधर्म ये दो भेद आगम-सिद्ध हैं। जो आत्म-विकास का साधन है वह आत्मधर्म है और शेष जितने धर्म हैं वे सब लोकधर्म के अन्तर्गत हैं। इसीका दूसरा प्रमाण वहीं 'स्थानांग सूत्र' में और मिलता है। वहाँ १० प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, पाखण्ड-धर्म, कुल-धर्म, गण-धर्म, संघ-धर्म, श्रुत-धर्म, चारित्र-धर्म और अस्तिकाय-धर्म। टीकाकार ने ग्राम-धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है: "ग्रामाः जनपदाश्रयास्तेषां तेषु वा धर्म—समाचारो, व्यवस्थेति ग्राम धर्मः स च प्रति ग्रामं भिन्न इति।" इसी प्रकार नगर और राष्ट्रधर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है— "नगर-धर्मः नगराचारः सोऽपि प्रतिनगरं प्रायो भिन्न एव तथा राष्ट्रधर्मो राष्ट्राचारः।" सारांश यह है कि ग्राम, नगर आदि में औचित्य के द्वारा धनोपार्जन, व्यय, विवाह, भोज आदि प्रथाओं का एवं पारस्परिक सहयोग का आचरण रूप जो आचार है तथा ग्राम, नगर आदि के हितों की रक्षा के लिए काम में लाई जानेवाली जो व्यवस्था है, इन दोनों को—आचार और व्यवस्था को शास्त्रों में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म के नाम से बतलाया गया है। इन्हीं १० प्रकार के धर्मों में आगे चलकर श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म का भी वर्णन किया गया है। टीकाकार ने इनकी व्याख्या करते हुए लिखा है—श्रुतमेव आचारादिकं दुर्गतिप्रयतज्जीव धारणात् धर्मः 'श्रुतधर्मः तथा चयरिक्ति करणात् चारित्रस्तदेव धर्मः चारित्र धर्मः।' तात्पर्य यह है कि—असत् प्रवृत्तियों से आत्मा की रक्षा करनेवाले तथा आत्मा का परिमार्जन व शुद्धि करनेवाले साधनों को श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म बतलाया गया है। इन आगमिक उद्धरणों से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि आगमों में आत्म-धर्म और लोक-धर्म—दोनों प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। ग्रामादि-धर्म और श्रुत चारित्र-धर्म को लोक-धर्म व आत्म धर्म के रूप में माने बिना कोई गति नहीं। इनको एक परिधि में किसी हालत में नहीं बाँधा जा सकता। प्रश्न हो सकता है—'क्या ग्राम-धर्मादि आत्म-शुद्धि के साधन नहीं हैं?' यदि ऐसा होता तो साधु इनको क्यों ठुकराते और क्यों फिर साधु-मार्ग का विधान ही किया जाता? आत्म-शुद्धि के साधनों को कभी नहीं ठुकराया जाता। साधु जिनको ठुकराते हैं वे अवश्य ही आत्म-शुद्धि के साधन नहीं होते। अतः ग्रामादि धर्म और श्रुत-चारित्र-धर्म में यह अन्तर अपने आप स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामादि धर्म लोक-प्रथा व लोक-व्यवस्था है इसलिये लोकधर्म है और श्रुत-चारित्र-धर्म आत्म-शुद्धि का मार्ग है अतः वह आत्मधर्म या मोक्ष धर्म है। इतने विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मधर्म' और 'लोकधर्म' ये शब्द आगम-सिद्ध हैं।

अब एक प्रश्न यह आता है कि क्या दोनों प्रकार के धर्मों में कोई भिन्नता है? यदि है तो वे कौन से कारण हैं जिनसे यह समझा जाये कि आत्मधर्म और लोकधर्म आपस में भिन्न-भिन्न हैं? इसके उत्तर में मैं कहूँगा—दोनों धर्म परस्पर बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। दोनों की भिन्नता समझाने के लिये प्रायः मैं कसौटी के रूप में तीन मौलिक व अकाट्य कारणों का प्रयोग किया करता हूँ। वे ये हैं—(१) आत्मनैर्मल्य। (२) अपरिवर्तनीयता, और (३) सर्वसाधारणता।

ये तीन बातें जिसमें हों वह 'आत्मधर्म' है और जिसमें यह न मिले वह 'लोकधर्म' है।

पहला कारण है—आत्मनैर्मल्य। जिससे आत्मा की शुद्धि होती है, आत्म गुणों का विकास होता है वह है आत्मधर्म तथा जिससे दुनिया का व्यवहार चलता है, दुनियाँ की प्रथा और व्यवस्था का पालन करने के लिये जिसमें हिंसा, संग्राम और अब्रह्मचर्य आदि को प्रश्रय दिया जाता है वह है—लोकधर्म। लोकधर्म में हिंसा आदि को स्थान दिया जाता है जबकि आत्मधर्म में हिंसा आदि को तिलभर भी प्रश्रय नहीं दिया जाता। आत्मधर्म की गति आत्म-विकास और आत्म-शुद्धि की ओर है जबकि लोकधर्म का तांता संसार से जुड़ा रहता है।

दूसरा कारण है अपरिवर्तनीयता। देश, काल आदि के परिवर्तन होने पर भी आत्मधर्म का स्वरूप सदा सर्वत्र अटल व अपरिवर्तित रहता है, और लोकधर्म का स्वरूप देश, काल आदि के परिवर्तन से परिवर्तित होता रहता है। मानव-वर्ग समय-समय पर अपनी सुविधा के लिए जिन-जिन नियमों, व्यवस्थाओं और रीति-रिवाजों को अपनाते हैं वे परिवर्तित स्थितियों में आवश्यकतानुसार पग-पग पर बदलते रहते हैं और जो एक समय अनाचरणीय लगते हैं; वे ही दूसरे समय आचरणीय बन जाते हैं। और इसी प्रकार जो एक समय आचरणीय लगते हैं; वे दूसरे समय अनाचरणीय। यों तो हिंसा आदेय नहीं समझी जाती किन्तु वही हिंसा अपनी, समाज की या देश की रक्षा के लिए उपादेय समझी जाती है। एक स्त्री का अपने पिता के घर में धर्म कुछ और होता है और उसीका अपने पति के घर में आते ही कुछ और हो जाता है। आजादी होने के पहले भारत की राजनीति कुछ और ही थी और आज वह कुछ और है। इसमें यह स्पष्ट है कि लोकधर्म का स्वरूप देश, काल आदि के परिवर्तन होने के साथ-साथ बदलता रहता रहता है मगर आत्मधर्म त्रिकाल में भी नहीं बदलता। वह जो कल था वही आज है और जो आज है वही कल रहेगा। क्या कोई यह कहने का दुःसाहस कर सकता हैं कि अहिंसा-सत्य-स्वरूपमय जो धर्म है वह अमुक समय में बदला? अमुक समय में आत्मधर्म का स्वरूप अहिंसा और सत्य न होकर हिंसा और असत्य था? त्रिकाल में भी

यह सम्भव नहीं—जबकि अहिंसा और सत्य के बदले हिंसा और असत्य को आत्मधर्म का स्वरूप माना गया हो, माना जाता हो या माना जायेगा। सम्भवतः आप पूछें—आत्मधर्म की दृष्टि से लोकधर्म क्या है? मैं कहूँगा—आत्मधर्म में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, सहिष्णुता, समता, निर्द्वेष, वीतरागता आदि को प्रश्रय दिया गया। वहां हिंसा, झूठ स्तेय, अब्रह्मचर्य, संचय, लालच, कपट, मोह, राग, द्वेष, निन्दा, कलह आदि को कोई प्रश्रय नहीं। उसकी दृष्टि में ये आत्मपतन के कारण हैं। अतएव वे पाप और बन्धन हैं। आप कहेंगे—लोकधर्म में हिंसा आदि को प्रश्रय दिया जाता है और वह आत्मधर्म की दृष्टि में पाप है तब फिर आप उसके पीछे धर्म शब्द का लेबुल क्यों लगाते हैं? उसे पाप क्यों नहीं कह देते? यह भी बड़ी उलझन है। कुछ लोग तो यहां तक आक्षेप कर बैठते हैं कि तेरापन्थियों ने अपने सूत्र ही अलग बना लिये हैं। मुझे उनलोगों की बुद्धि पर बड़ी तरस आती है। भला वे ऐसा क्या सोचकर कहते हैं? मेरा स्पष्ट कहना है कि हमने कोई नये सूत्र नहीं बनाये हैं। हमारे मान्य और श्रद्धास्पद वे ही सूत्र हैं जो भगवान् महावीर द्वारा आदिष्ट हैं। उनसे बाहर हम सोच नहीं सकते। उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर मुझे प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करना है। लोकधर्म में हिंसा आदि का स्थान होने पर भी जो उसे धर्म कहा जाता है इसका तात्पर्य एक ही है कि यह एक लोकभाषा है। धर्म कहनेमात्र से ही आत्मशुद्धि हो जाये, ऐसी बात नहीं है। शास्त्रों में जब हमें जन-भाषा में बोलने का समर्थन प्राप्त है तब हम व्यर्थ ही कड़े शब्दों का प्रयोग क्यों करें? देश, काल और परिस्थिति में विज्ञ होकर प्रवचन करना साधु के लिए आवश्यक शर्त है। शास्त्रों में चार प्रकार के मंगल बताये गये हैं। इनके अलावा और कोई मंगल वहां नहीं बताये गये। इधर संसार की ओर यदि दृष्टि डालें तो यहाँ दही, अक्षत, रोली, आदि पदार्थ तथा दीप जलाना, फूलमाला पहनाना आदि-आदि अनेक कृत्य मांगलिक माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में जबकि शास्त्रों की दृष्टि में ये मांगलिक नहीं तो क्या हमें उन्हें अमांगलिक कहना चाहिए? कभी नहीं। हमारा यह कर्तव्य नहीं कि समय और परिस्थिति को देखे बिना हम व्यर्थ ही जनभाषा के विरुद्ध शब्दों का प्रयोग करें। उलझन की बात ही क्या है? हमें कोई पूछे तो हम स्पष्ट कह सकते हैं कि शास्त्रों में जिन मंगलों का उल्लेख किया है, वे आध्यात्मिक मंगल हैं और संसार के मंगल व्यावहारिक, लौकिक मंगल हैं। कोई यहाँ तक भी जिद् से पूछ बैठे—वे पाप हैं या धर्म? तो हम स्पष्ट कहेंगे जहाँ हिंसा को प्रश्रय है, वहाँ धर्म नहीं। हिंसा पाप है। लौकिक दृष्टि से जो उचित प्रथाएँ और व्यवस्थाएँ हैं उन्हें देश, काल का विचार किये बिना पाप कहकर पुकारना हमारे लिये सर्वथा वर्जनीय है। शास्त्रों में यहाँ तक बताया गया है कि एक अल्पज्ञ बच्चा एक बड़ी लाठी को अपने पैरों के बीच में लेकर कहता

है—चल घोड़े, चल। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि साधु उस लाठी को लाठी कहे या घोड़ा। शास्त्रों में कहा गया है—वह लाठी उस बच्चे के लिये घोड़ा है अतएव साधु को वहाँ पर उसे घोड़ा ही कहना चाहिये। यदि साधु उसे घोड़ा न कहकर लाठी कहे तो उसे पाप लगता है। क्योंकि बच्चे के लिये वह घोड़ा है और लाठी कहने से उसको दुःख होता है। अतएव व्यर्थ ही जनभाषा के विरुद्ध बोलने में कोई फायदा नहीं। इसे लोकभय या लोकरंजन की नीति बताना वास्तविकता से मुँह मोड़ना है। न हमें किसी का भय है और न हम लोकरंजन की नीति से ही ऐसा करते हैं। जनभाषा के अनुसार कहने में हमें कोई अड़चन नहीं। हिंसा में पाप है, बन्धन है, यह हम किसी भी समय कह सकते हैं। इसमें हमें किसी प्रकार का संकोच नहीं।

तीसरा कारण है—सर्वसाधारणता। लोकधर्म एक ही समय में एक देश में कुछ माना जाता है तो दूसरे में कुछ और। वह भिन्न-भिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रचलित होता है। एक व्यक्ति के लिये जो करणीय है वही दूसरे के लिये अकरणीय। अतएव लोकधर्म सर्वसाधारण नहीं। किन्तु आत्मधर्म सर्वसाधारण है; सबके लिए समान है; उसका आचरण सबके लिये एक ही रूप का होता है। गृहस्थ और साधु के लिये अलग-अलग धर्म नहीं हैं; धर्म एक ही है मगर आचरण की क्षमता के आधार पर साधु पूर्ण धर्म का पालन करता है और गृहस्थ यथाशक्ति। अतएव आत्मधर्म सर्वसाधारण और लोकधर्म भिन्न-भिन्न है। उपरोक्त इन तीन कारणों से यह स्पष्टतया जाना जाता है कि आत्मधर्म और लोकधर्म दो हैं और भिन्न-भिन्न हैं।

भारतीय साहित्य में "धर्म" शब्द का बहुत अर्थों में प्रयोग हुआ है। इसकी बहुत-सी व्याख्यायें मिलती हैं जो इसके भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करती हैं। जहाँ एक जगह आत्म-शुद्धि के साधन या मोक्ष पाप के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। वहाँ दूसरी जगह लोक-मर्यादा, समाज-व्यवस्था, समाज-नीति, नागरिक-कर्तव्य, राजकीय नियम प्रभृति अर्थों में तथा वस्तु के स्वभाव गुण आदि अर्थों में भी यह प्रयुक्त हुआ है। यह एक जटिल समस्या है। यह कैसे सुलझ सकती है—इसपर अब कुछ विचार करना है। मेरे विचार में धर्म शब्द के अबतक के इतिहास और प्रयोग को देखते हुये उसका वर्गीकरण किया जाय तो उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—आत्मधर्म और लोकधर्म। आत्म-शुद्धि के साधन और लोक-व्यवस्था के कार्य सर्वथा एक नहीं हो सकते। ये जीवन के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। इसलिये केवल धर्म शब्द के प्रयोग मात्र से ही एक विशेष धारणा कोई बना ले, यह उचित नहीं। यह समझने का विषय है, जो भी समाजिक कर्तव्य हैं जैसे व्यवसाय करना, परिवार का पालन-पोषण करना, राष्ट्र-रक्षा के लिये युद्ध में भाग लेना। वंश-रक्षा के लिए विवाह करना; ये सब लोकधर्म के अन्तर्गत हैं। आत्मधर्म या मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न है। उसमें

धन संचय को स्थान नहीं अपरिग्रह का महत्त्व है। वंश-परिचालन के बदले ब्रह्मचर्य और तपस्या के विधान है। परिवार के पालन-पोषण के स्थान पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को प्रस्तुत कर विश्व में समता व भाईचारे के प्रसार का लक्ष्य है। अतएव जो आत्म-विकास के साधन हैं वे आत्मधर्म हैं और शेष जितने धर्म हैं वे लोकधर्म हैं।

तेरापन्थ पर जो एक विशेष रूप से आरोप लगाया जाता है कि यही एक ऐसा सम्प्रदाय है जिसके सिद्धान्त समस्त दुनियाँ से विपरीत प्ररूपित किये जाते हैं। भला धर्म के दो विभाग आज तक किसी ने नहीं किये। इसी आरोप का निराकरण करने के लिये अब मैं जैनेतर विद्वानों के कुछ ऐसे उद्धरण रखता हूँ जिन्हें देखकर कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यह विचार कर सकता है कि केवल तेरापन्थ सम्प्रदाय ही आत्मधर्म और लोकधर्म, परमार्थ धर्म और व्यवहार-धर्म, इसतरह धर्म के दो विभाग करता है।

सबसे पहले जैनेतर विद्वानों का उदाहरण लीजिये। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के अग्रणी और गीता के प्रसिद्ध भाष्यकार श्री लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-रहस्य में अनेक अर्थों में व्यवहृत हुये धर्म शब्द का स्पष्टीकरण बतलाते हुये धर्म के दो विभाग किये हैं, एक व्यवहारिक धर्म और दूसरा मोक्ष धर्म। जो आत्म-शुद्धि का मार्ग है वह आत्मधर्म या मोक्षधर्म है। इसके अलावे जो धर्म है वह व्यवहारिक धर्म, कर्तव्यशास्त्र या समाजशास्त्र है इसतरह उन्होंने आत्मधर्म और लोकधर्म का अन्तर स्पष्टतया स्वीकार किया है।

अब देखिये, इस विषय में जैन-विद्वान क्या कहते हैं? बहुत से ग्रन्थों के रचयिता दिगम्बराचार्य श्री सोमदेवसूरि ने एक पद्य में धर्म के दो विभागों का प्रतिपादन करते हुये कहा है :

> "द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां, लौकिकः पारलौकिकः।
> लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥"

गृहस्थ के दो ही कर्म होते हैं—एक लौकिक दूसरा पारलौकिक। जो लौकिक नियमों व प्रथाओं के आधार पर होता है वह लौकिक धर्म है और जो आगमों के—आप्त वाक्यों के उत्तर पर होता है वह पारलौकिक धर्म है।

इसी प्रकार जैन-विद्वान श्री जिनसेनाचार्य अपने महापुराण में गृहस्थों को लोकधर्म बताते हुये लिखा है :

> "पश्यन् पाणिग्रहीत्यौ ते नाभिराजः सजातिभिः।
> समं सन्तुषप्रायः लोकधर्म-प्रियो जनः॥"

ऋषभनाथ भगवान् को सुनन्दा और सुमंगला के साथ शादी हुये देखकर नाभिराज तथा अन्य लोग अत्यन्त प्रसन्न हुये। क्योंकि सांसारिक मनुष्यों को लोकधर्म बड़ा प्रिय

होता है। यहाँ विवाहादि लोक प्रथाओं को "लोकधर्म" कहा गया है। इससे अपने-आप धर्म के आत्मधर्म व लोकधर्म ये दो विभाग सूचित होते हैं। इसी प्रकार 'परमात्म-प्रकाश' में धर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है :

'चतुर्गति दुःखेभ्यो धरति जीवं पतन्तमिमम्'।

चतुर्गति के दुःखों में गिरती हुई आत्मा का जो धारण करनेवाला है उसे धर्म कहा जाता है।

इस कथन से यह अपने आप निकल आता है कि जो आत्मा का धारक है वह आत्मधर्म है और जो समाज का धारक यह लोकधर्म है। दूसरे शब्दों में कहें तो यों कहा जा सकता कि समाज का रक्षक है वह लोकधर्म है तथा जो आत्मा का यानी आत्मा के गुणों का रक्षक है वह आत्मधर्म है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के जो दो अनिवार्य विभाग हैं वे जैन और जैनेतर विद्वानों द्वारा पूर्णतया समर्थित हैं। इनको किसी हालत में मिटाया नहीं जा सकता, इनका मिटाना वास्तव में बहुत बड़ा अनर्थ करना है।

अब एक प्रश्न और रह जाता है वह यह है कि आत्मधर्म और लोकधर्म सावद्य हैं या निरवद्य ? आत्मधर्म को निरवद्य कहने में तो कोई मतभेद है ही नहीं। सभी आत्म-धर्म को निरवद्य मानते हैं। अब रही बात लोकधर्म की। लोकधर्म को हम क्या मानते हैं, इसे एकतरफ छोड़कर यह देखें कि पुराने आचार्य इसे क्या मानते थे ? दशवै-कालिक की प्राचीन निर्युक्ति में लोकधर्म को सावद्य बताते हुये लिखा है :

ग्राम, देश, राज्य, आदि का कर्तव्य प्रथा व व्यवस्था रूप जो लौकिक धर्म है, वह सब सावद्य है। भगवान् ने उसे प्रशस्त बताकर उसका कहीं अनुमोदन नहीं किया है। आप सम्भवतः कहेंगे कि आपने पहले कहा था कि टीका, चूर्णी, निर्युक्ति आदि हमें प्रमाण नहीं है। आप तनिक विचार करें कि मैंने कहा था कि जो मूल से मिलते हैं वे भी प्रमाण नहीं हैं। उपरोक्त निर्युक्ति का प्रमाण देने का कारण तो यही है कि जो लोग हमपर यह आरोप लगाते हैं कि तेरापन्थियों के सिवा लौकिक धर्म को किसी ने सावद्य नहीं माना है वे यहाँ ध्यान देकर देखें कि उपरोक्त सहस्त्राब्दी पूर्व रचित निर्युक्ति में प्राचीन आचार्य क्या कह गये हैं। और देखिये, कलिकाल सर्वज्ञ अप्रतिम विद्वान श्री हेमचन्द्राचार्य अपने त्रिषष्टीशलाका-पुरुष-चरित्र में भगवान् ऋषभदेव का वर्णन करते हुये क्या कहते हैं :

"एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास जानन् कर्तव्यमात्मनः ॥"

ऋषभनाथ स्वामी ने दीक्षित होने के पूर्व लौकिक कर्तव्यों व व्यवहारों को सावद्य जानते हुये भी लोगों पर अनुकम्पा के कारण तथा अपना लौकिक कर्तव्य समझते हुये

उन सबका प्रवर्तन किया। हेमचन्द्राचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि श्री ऋषभनाथ भगवान यह जानते थे कि ये सब लौकिक व्यवहार सावद्य हैं फिर भी उन्होंने लोगों पर अनुकम्पा कर (यानी अगर मैं इनसब लौकिक व्यवहारों से लोगों को परिचित नहीं कराऊँगा तो इन अनभिज्ञ लोगों को और कौन परिचित करायेगा ?) गृहस्थपन में रहते हुए मेरा यह कर्तव्य है कि मैं लौकिक व्यवहारों का प्रवर्तन कर लोगों को इनसे अवगत कराऊँ। यह विचार कर) उन्होंने उस यौगलिक काल के अन्त में लौकिक कर्तव्य, नियम, प्रथा व व्यवस्था आदि से सर्वथा अनभिज्ञ लोगों को उन सबका ज्ञान कराया। और देखिये—महापुराण में आचार्य जिनसेन ने क्या लिखा है :

"असि-मसि-कृषि विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणि यानि षोढ़ाः स्युः प्रजा-जीवन हेतवः॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान्मतिकौशलात्।
उपादिक्षत्सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः॥"

सांसारिक लोगों के लिये जीवभूत असि-मसि, कृषि, विद्या-वाणिज्य और शिल्प ये जो छः प्रकार के कर्म हैं, भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थाश्रम में रहते हुये इनसब कर्मों की लोगों को अतिकुशलता व बुद्धिपूर्वक शिक्षा दी। अन्तिम पद्य में रचयिता ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस समय भगवान संसारी थे, सरागी थे। इस कथनसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि षट्कर्म रूप जो लोकधर्म है वह सावद्य है। अगर निरवद्य होता तो फिर यह क्यों कहा जाता कि "सरागो हि सतदासीज्जगद्गुरुः।" निरवद्य कर्म तो साधु भी कर सकते हैं। उनके लिए वे वर्जनीय नहीं हैं। अतएव इसका तात्पर्य यही है कि जब भगवान् गृहस्थ थे तब लौकिक कर्तव्य के नाते इन कर्मों को सावद्य हुए भी उन्होंने लोगों को सिखाया।

अन्त में लोगों से यही कहूँगा कि ये आज प्रकट किये गये उपरोक्त विचारों पर गहराई पूर्वक मनन करें। संक्षेप में मैं पुनः पूर्वोक्त विचार को दुहरा दूँ। आत्मधर्म और लोकधर्म ये दोनों आगम-सिद्ध हैं। दोनों का अन्तर समझने के लिये आत्मासंमत्य अपरिवर्तनीयता, और सर्वसाधारणता ये तीन हेतु बताये गये हैं। अनेक अर्थ में प्रयुक्त धर्म शब्द के मुख्य ये दो भेद किये गये हैं, आत्मधर्म और लोकधर्म दोनों में आत्मधर्म को निरवद्य और लोकधर्म को सावद्य बताया गया है। कुछ व्यक्तियों के द्वारा हमारे ऊपर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये लोग लोकधर्म का निषेध करते हैं; जो सर्वथा मिथ्या है। हमारा ऐसा कार्यक्रम है ही नहीं। संसार में जो रहने वाले हैं उन्हें सामूहिक व्यवस्था पारस्परिक सहयोग और अपने व्यक्तिगत कर्तव्य लौकिक दृष्टि से निभानी होती है। उनका हम निषेध करें, यह हमें अधिकार ही नहीं है। हमारा तो सिर्फ यही कर्तव्य है कि हम वास्तविकता पर प्रकाश डालते रहें, उसे समझाते

रहे। "लौकिकधर्म को ही मोक्षधर्म न मानने से कोई क्यों उस ओर प्रवृत्त होगा।" इस डर से हम कभी अपने वास्तविक सिद्धान्तों का लोप नहीं कर सकते। सिर्फ लौकिक कर्तव्य में लोगों को प्रोत्साहित करने के लिये लोकधर्म को मोक्षकर्म कह देना वास्तविकता का गला घोंटना और कायरता का परिचय देना है। हम ऐसा कभी नहीं कर सकते। हिंसा जब पाप है तो हम उसे पाप ही कहेंगे। भय या उपयोगिता को लेकर हम हिंसा को धर्म कभी नहीं बतला सकते। सांसारिक लोगों की लौकिक कार्यों में सहजतया प्रवृत्ति होती रहती है। खेती, व्यापार, विवाह, आदि लौकिक कार्यों में मोक्ष-धर्म न होते हुए भी सांसारिक प्राणी उनमें सहजतया प्रवृत्त हो रहे हैं। अतएव तत्त्व को समझना और उसे जनता के बीच रखना हमारा कर्तव्य है। हम यह नहीं चाहते कि लोकधर्म और आत्मधर्म का मिश्रण करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना और तत्त्व पर पर्दा डालना है। इन दोनों का एकीकरण कभी नहीं किया जा सकता है। दोनों में मौलिक अन्तर है। लोकधर्म की गति संसार की ओर प्रवाहित होती है जबकि आत्मधर्म की गति आत्म-विकास की ओर प्रवृत्त है। अतएव आत्मधर्म आत्म-साधना का प्रतीक व मोक्ष का साधक है और लोकधर्म लोक-मर्यादा व व्यवस्था का निर्वाहक है अतएव दोनों का एकीकरण करना गंभीर भूल है। हाँ, यह दूसरी बात है कि कुछ लौकिक कर्तव्य ऐसे हैं जो लौकिक कर्तव्य होते हुए भी आत्मधर्म के पोषक हैं। अन्त में मैं लोगो से यही अपील करूँगा कि वे अपनी निष्पक्ष बुद्धि से इन विचारों पर गहराई पूर्वक मनन करें।

जोधपुर,
७ अक्तूबर, '५३

१३३ : जीवन का सच्चा नेत्र

पुरुष की तरह नारी भी मानव-समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। नारी यदि यह सोचकर सन्तोष कर ले कि उसका कार्यक्षेत्र तो घर की परिधि के अन्दर है। चूल्हे, चक्की, रसोई व बच्चों के लालन-पालन तक उसके कर्तव्यों की परिसमाप्ति हो जाती है तो मैं कहूँगा कि घोर जड़ता और रूढ़िवादिता आज भी नारी का पल्ला नहीं छोड़ पायी है। नारी भूल कर जाती है कि उसमें अजस्र शक्ति-स्रोत है। वह स्वयं का निर्माण कर जन-जीवन में सर्जन की प्रेरणा फूँकने की क्षमता रखती है। अपने गौरवमय अतीत को वह क्यों नहीं याद करती जबकि वह विवेक और जीवन-विकास के क्षेत्र में पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर उससे अपनी मंजिल पर आगे बढ़ती रही है।

जो न पढ़ेगा वह भी मरेगा, पढ़ेगा वह भी अमर नहीं रहेगा फिर दाँतों को, जिह्वा को और दिमाग को क्यों श्रम दिया जाय? यह धारणा आज भी महिला-वर्ग के

अधिकांश भाग में है जो महिला-समाज की जागृति में सदा से रोड़ा अटकाती रही है। आज नारी-समाज को इसके खिलाफ एक सजग क्रान्ति करनी है। जीवन में विवेक अथवा ज्ञान का कम महत्त्व नहीं। विवेक जीवन का सच्चा नेत्र है। उसके बिना प्रगति थोथी है। कर्मठता, कष्टसहिष्णुता आदि नारी के सहज गुण हैं। पर उनकी जो उपयोगिता होनी चाहिए विवेक के बिना वह नहीं हो सकती। नारी-समाज को आज अज्ञान-निद्रा छोड़ अपना विवेक मुखरित करना है।

भावी पीढ़ी का निर्माण बहुत कुछ महिला-समाज पर निर्भर है क्योंकि यदि माताएं चरित्रनिष्ठ, नैतिक आचारवर्तिणी और व्यक्तित्वशील होंगी तो अपने बालक व बालिकाओं पर भी अपना अमिट प्रभाव छोड़ेंगी। ये बालक-बालिकाएँ ही आगे चलकर राष्ट्र, समाज और धर्म के कर्णधार बननेवाले हैं। मातृवर्ग अपने इस उत्तरदायित्व को समझें। विवेक, आचार-निष्ठा आदि गुणों से स्वयं अपना जीवन तो उन्नत होगा ही साथ ही राष्ट्र के लिए उनकी यह अनुपम देन होगी।

जोधपुर,
१० अक्तूबर, '५३

१३४ : सक्रिय एवं सजीव योजना

जीवन के चारित्रिक मूल्य को मानव भूलता जा रहा है—फलतः बेईमानी, असत्याचरण, भ्रष्टाचार जैसे दुर्गुण मानवता को घुन की तरह खाए जा रहे हैं। इसके लिए आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि अनैतिकता की इस दानवीय फौज से नैतिकता और सदाचार के सहारे मुठभेड़ की जाय। अणुव्रत-आन्दोलन इसी तरह की एक सक्रिय एवं सजीव योजना है जो नैतिक अभ्युदय और चारित्रिक विकास को लेकर चलती है।

अणुव्रत-आन्दोलन के आदर्श हैं, दूसरों का दमन करने की कोशिश मत करो, अपना दमन करो। मानव अपनी बुराइयों, अनैतिक वृत्तियों को जीतने की कोशिश करे। इससे जीवन की विषमताएँ मिटेंगी। सात्त्विकता, सदाचार एवं चरित्रनिष्ठा का विकास होगा जो राष्ट्र के लिए एक अनुपम देन होगी। मैं आज जन-जन से आह्वान करूँगा—वे इस योजना को देखें, समझें और उचित लगे तो जीवन में ढालने का प्रयास करें।

जोधपुर,
१५ अक्तूबर, '५३

१३५ : सबसे बड़ा भय

आज आपलोगों के समक्ष देश की एक विशिष्ट चारित्रिक योजना का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन अत्यन्त उत्साह व उल्लासपूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हो रहा है। मुझे वे दिन याद हैं जब आज से लगभग ४ वर्ष पूर्व इस योजना का प्रथम वार्षिक अधिवेशन देहली के चाँदनी चौक में सम्पन्न हुआ था। उस समय ५०० से अधिक भाई-बहिनों ने एक साथ एकत्र होकर आत्मसाक्षी व परमात्मसाक्षी से व्यक्तिगत, समाजगत व देश गत गन्दे वातावरण को मिटाने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ बनकर एक साथ अणुव्रत-योजना की ८४ प्रतिज्ञाओं को ग्रहण किया था। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि हम अहिंसावादी बनकर हिंसात्मक प्रवृत्तियों से डटकर लोहा लेंगे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि हम सदाचारी, बनकर जन-जन में व्याप्त चोरबाजारी, रिश्वतखोरी व भ्रष्टाचार से टक्कर लेंगे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि हम नैतिक आदर्शों को अपनाकर समाज में छाई हुई अनैतिकता के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी संग्राम छेड़ेंगे। उन्होंने उस समय राजधानी के विशिष्ट प्लेटफार्म पर खड़े होकर देश के कोने-कोने में यह आवाज पहुँचा दी थी कि नैतिकता को पुनर्जीवित करने के लिये नैतिकता के महायज्ञ में एक साथ दृढ़संकल्प होकर कैसे कूद पड़ना चाहिये। उस गम्भीर व शान्त अनुष्ठान के कारण राजधानी के वातावरण में उस समय एक नई उमंग की लहर दौड़ गई थी। उस प्रसंग को लेकर समूचे देश के कण-कण में नैतिकता की आवाज बुलन्द हो उठी थी। मुझे याद है उस समय अनेक के दिलों में अनेक आशंकायें भी घर किये हुये थीं। वे सोचते थे कि हम देखेंगे—'आज जो ये व्रती बने हैं वे दो दिन के बाद क्या करते हैं?' मैं समझता हूँ यह आशंका होनी कोई बड़ी बात नहीं थी। देश का जो व्यापक गन्दा वातावरण है उसके विरुद्ध ४००-५०० व्यक्ति किसी आवाज को बुलन्द करें, भला यह आवाज आशंका से कैसे मुक्त हो सकती है? मगर इसके साथ २ यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उन्होंने जिस आवाज को बुलन्द की थी वह डंडे या कानून के भय से नहीं की गई थी अपितु आत्मा व परमात्मा के भय से अन्तःसाक्षी व आत्मप्रेरणा से बुलन्द की गई थी। इसलिये मुझे विश्वास था कि यह कार्यक्रम बढ़ेगा और लोग इसे अपनायेंगे। आज उसी भावना का यह मूर्त रूप है कि उस समय अणुव्रतियों की जो ५०० से अधिक संख्या थी सम्भवतः अब आंकड़े सुनेंगे तो वह लगभग २००० से कुछ अधिक बढ़ गई है। यह मैं फिर स्पष्ट कह देता हूँ कि मुझे संख्या से कोई प्रेम नहीं। मुझे प्रेम है काम से और वह निरंतर होना चाहिये। सम्भवतः ५००० के लगभग ऐसे व्यक्ति हैं जो कुछ नियमों को छोड़कर संघ के काफी नियमों को निभा रहे हैं। मैं आशा करता हूँ वे भी अपने जीवन में पूरे नियमों को उतार कर इस चारित्रिक महानुष्ठान को आगे बढ़ाने की

सही कोशिश करेंगे। इसके अलावा लाखों व्यक्ति ऐसे हैं जो आन्दोलन की भावना से प्रभावित हैं। इसके साथ-साथ मैं यह भी कहने का साहस करूँगा कि कम से कम ६० प्रतिशत व्यक्ति आन्दोलन के नियमो को सही रूप में पालनेवाले हैं।

बन्धुओ! सर्वप्रथम आर्ष वाक्यों को याद करिये। उन्होने प्राणिमात्र के अभीष्ट रहस्य को व्यक्त करते हुये कहा है:

'सुहसाया दुक्ख पडिकूला' सब प्राणी जीवन से प्रेम रखनेवाले हैं। मरना कोई नहीं चाहता। दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है। सब सुख और शान्ति से जीवन बिताना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह उस मार्ग की खोज करें जिससे उसे अपनी अभीष्ट मंजिल मिल सके। मेरी दृष्टि में शान्ति और सुख का सही और अनुपम मार्ग है निर्भयता। यदि आपमें निर्भयता होगी तो आप देखेंगे सुख और शान्ति आपके जीवन में कैसे अपने आप उतर आते हैं। आज मनुष्य में निर्भयता नहीं? इसीका तो यह परिणाम है कि मनुष्य सुखी नहीं है। वास्तव में भय क्या है? वह किस बात का है? इन प्रश्नों का अनेक लोग अनेक प्रकार से समाधान करते हैं। कोई मृत्यु को सबसे बड़ा भय बतलाता है और कोई जिन्दगी की संघर्ष भरी तकलीफों को। एक बार भगवान् महावीर ने समस्त निर्ग्रन्थों को एकत्र कर पूछा—"किं भया पाणा समणाउसो" 'हे आयुष्मन् श्रमणो! कहो सबसे बड़ा भय क्या है? सब अवाक् रह गये। सब अपनी २ बुद्धि दौड़ाने लगे। किसी ने कुछ ही सोचा और किसी ने कुछ ही। अन्तमें सबने भगवान् से प्रार्थना की—'णो खलु देवाणुप्पिया एय महं जाणामो वा पासामो वा······इच्छामिणं देवाणुप्पिया णं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तिए'—'हे देवानुप्रिय! हम इस बात से अनभिज्ञ हैं। आप हमें इस बात से भिज्ञ कराइये।'

भगवान् महावीर ने शिष्यों की प्रार्थना सुनकर सूत्र रूप में उत्तर देते हुये फरमाया 'दुख भया पाणा समणाउसो' हे आयुष्यमन् श्रमणो! सबसे बड़ा भय 'दुख है।'

शिष्यों ने फिर प्रश्न किया—'से णं भन्ते दुक्खे केण कडे'—'भगवन्? उस दुःख करनेवाला कौन है?'

भगवान् ने उत्तर दिया—'जीवेण कडे पमाएणं'—हे आयुष्मन् श्रमणो! दुःख का करनेवाली स्वयं आत्मा ही है और वह प्रमाद यानी अज्ञान, असावधानी या अपने दुष्कृत्यों का ही प्रतिफल है।

अन्त में दुःख के निराकरण का उपाय जानने के लिये शिष्यों ने फिर एक प्रश्न किया—'से णं भन्ते दुक्खे कहं वेइज्जति'—भगवन्! दुःख के निराकरण का उपाय क्या है?

भगवान ने संक्षेप में समाधान करते हुए फरमाया—'अप्पमएणं'—'अप्रमाद' यानी अप्रमाद के द्वारा दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है।

इन आर्ष वाक्यों में कितना गहरा तत्त्व छिपा पड़ा है। शिष्यों को इन वाक्यो से बड़ा सन्तोष हुआ। भगवान् ने एक शब्द में यह स्पष्ट समझा दिया कि संसार में सब से बड़ा भय दुःख है। यही कारण है कि दुख से सब मुक्ति चाहते हैं। आज ही चाहते हों ऐसी बात नहीं है। यह चाह सदा प्राणिमात्र के पीछे लगी रहती है। सम्भवतः आज इस चाह का विशेष मूल्य है। इसका कारण यह है कि आज का मनुष्य दुःखों की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है। उसका जीवन आज दुःख-दावानल की चिनगारियों में झुलसा जा रहा है। अतएव यदि मनुष्य दुःख से छुटकारा पाना चाहता है तो वह निर्भय बने। निर्भय बनने का मार्ग यही है कि मनुष्य प्रमाद से दूर रहे। अणुव्रत का मार्ग भयमुक्त होने का राज मार्ग है। इसका व्रती प्रमाद रहित होता है। वह सब प्रकार के दुराचारों को ठुकराकर सदाचारी बन जाता है। उसके व्यापार में सच्चाई होती है और वह किसी पर भी अत्याचार नहीं करता। हाँ, यह अवश्य है सदाचारी बनने और बने रहने में व्रती को अनेक मुसीबतों से लोहा लेना पड़ता है। मैं उस कवि की उक्ति को भूल नहीं रहा हूँ। उसने कहा है—सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तः।

सज्जन पुरुषों का जीवन बड़ी कठिनाइयों में उलझा रहता है जबकि दुर्जन लोग मनमानी मौज उड़ाते हैं। इसके साथ-साथ मैं यह भी समझता हूँ कि सज्जन पुरुषों के सामने जो कठिनाइयाँ हैं वे स्थायी नहीं है और न दुर्जन लोगों की मौज ही स्थायी है। कुछ काल के लिये यह अन्धेरगर्दी छाई रह सकती है मगर अन्त में विजय सत्य की ही होती है। 'सत्यमेव जयते' यही सब जगह कहा गया है किन्तु यह कहीं नहीं कहा गया है कि 'अनृतमेव जयते'। झूठा आखिर झूठा रहता है और सच्चा आखिर सच्चा। दुर्जन के सुखी बनने की भित्ति खोखली है, यही कारण है उसका हृदय अपने दुष्कृत्यों के लिये सदा रोता रहता है। केवल बाह्य सामग्री के आधार पर वह अपने को सुखी महसूस करता है। ऐसी हालत में एक सज्जन बाह्य सामग्री अभाव के कारण उत्पन्न कठिनाइयों के बावजूद भी वह हृदय में सुख और शान्ति की पवित्र धारा में अपने आपको पावन अनुभव करता है। चन्द समय में ही इसका परिणाम यह निकलता है कि वह परीक्षोत्तीर्ण होकर सज्जनता पर महान् विजय कर अपने आपमें एक प्रभावशाली उदाहरण बन जाता है। कहने का मतलब यह है कि व्रती को भय किस बात का है। वह अपने सही मार्ग पर चलता हुआ न तो सरकार के कलंक व आरोप का भाजन बनता है और न समाज का। इसका कारण यह है कि वह सच्चा और उसके व्यापार तथा कार्यक्रम में सच्चाई का अंश है। मैंने सुना है, सहस्रों व्यक्तियों के बीच में सैकड़ों अणुव्रती खड़े होकर कहते हैं कि अणुव्रती बनने के बाद सबसे बड़ा अनुभव हमें

यह मिला है कि हम निर्भय बन गये हैं। हम देखते हैं अनेक व्यक्ति अनैतिक व्यापार व अनैतिक कार्यक्रम के कारण बड़े भयभीत रहते हैं। उनका कलेजा हर समय धड़कता रहता है और बहुधा वे सरकार के चंगुल में फँसकर अपमानित भी होते रहते हैं। यह देखकर हमें अपनी सच्चाई पर और भी अधिक निर्भयता महसूस होती है। हम निर्भयता-पूर्वक हर जगह अपनी सच्चाई प्रस्तुत करते हैं। मैं यह नहीं मानता कि अणुव्रती पूर्ण निर्भय बन जाते हैं। पूर्ण निर्भय तो महाव्रती बनने से ही सम्भव है। यह तो वही बात है कि हलुवे में जितनी चीनी डाली जाती है वह उतना ही मीठा होता है। यह होने पर भी यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि व्रती बनने का मतलब निर्भय बनना है। अणुव्रत का मार्ग निर्भयता का राजमार्ग है।

अणुव्रत-योजना साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और जातिवाद से सर्वथा दूर है। यह होने पर भी जो लोग यह आशंका किये बैठे हैं कि यह योजना तेरापन्थ-सम्प्रदाय के संचालक के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण साम्प्रदायिक है—यह कतई युक्तिसंगत नहीं। कोई भी योजना आकाश से नहीं टपकती। किसी जाति या किसी सम्प्रदाय के किसी न किसी मानव प्राणी द्वारा ही उसका प्रवर्तन हुआ करता है।

भगवान् महावीर व गौतम बुद्ध ने जिस अहिंसा महाशक्ति का एक नये प्रयोग के साथ प्रवर्तन किया—क्या उसे कोई जैन या बौद्ध सम्प्रदाय के प्रवर्तकों द्वारा प्रवर्तित होने के कारण साम्प्रदायिक बता सकता है? जब कोई योजना व्यापक रूप लेकर सामने आती है तब क्या कारण है अमुक स्थान से आनेमात्र से उसे साम्प्रदायिक समझी जाय। मुझे याद है जब कि देहली प्रवास में अनेक साहित्यिक लोगों ने मुझ से प्रश्न किया था—क्या एक अणुव्रती के लिये यह आवश्यक है कि वह आपको गुरु माने और आपके चरणों पर सिर झुकाए? मैंने उनसे स्पष्ट कहा था कि मुझे न तो गुरु बनने की ही भूख है और न किसी को अपने चरणों पर झुकाने की ही। यह महान अभियान सिर्फ चारित्र-शुद्धि और अन्तर-शुद्धि के लिये ही प्रारम्भ किया गया है। यदि कोई व्यक्ति इस अभियान में अपना सक्रिय सहयोग अर्पित करना चाहे तो वह किस जाति का है, किस वर्ग का है तथा किस सम्प्रदाय का है आदि-आदि प्रश्न मुझे कभी तंग नहीं किया करते। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि कोई सम्प्रदाय किसी को नहीं उठा सकता। व्यक्ति स्वयं ही अपने को उठा सकता है। सम्प्रदाय किसी का निर्माण नहीं कर सकता। व्यक्ति स्वयं ही अपना निर्माण कर सकता है। यह प्रसन्नता की बात है बहुत से अजैन लोगों ने इसे उत्साहपूर्वक अपनाया है। सहस्रों और लाखों लोग इस योजना से प्रभावित हैं और इस अनुष्ठान को महान गौरव के साथ देखते, सुनते और मनन करते हैं। अणुव्रती संघ ही क्या? मुझे कहने दीजिये, जिस सम्प्रदाय के द्वारा इसका प्रवर्तन हुआ है उसका नाम और अभिप्राय भी साम्प्र

में सर्वथा असाम्प्रदायिक है। प्रभो! तेरापंथ! अर्थात् हे प्रभो! यह तेरा ही पन्थ है, हम तो इसके अनुगामी हैं। आप देखें, इसमें साम्प्रदायिकता की बू तक नहीं है।

दूसरी बात मुझे जो कहनी है वह यह है कि यह योजना व्यक्ति-सुधार की योजना है। यह होते हुये भी इसमें समाज, राष्ट्र और देश का कायाकल्प करने की शक्ति विद्यमान है। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति-सुधार सब सुधारों की एक सुदृढ़ भित्ति है। अगर व्यक्ति-सुधार होता चला गया तो क्या समाज और राष्ट्र का सुधार पीछे रहेगा? कुछ प्रगतिशील विचार के व्यक्तियों के लिये यह एक उलझन है। वे सोचते हैं कि ऐसे एक एक व्यक्ति से मगजपच्ची करके अभीष्ट लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जायेगा? लेकिन मेरे लिये यह कोई उलझन नहीं। मैं इससे बिल्कुल नहीं उकताता। मेरी मान्यता है कि आध्यात्मिक सुधार या दूसरे शब्दों में कहूँ तो अन्तर-शुद्धि एक एक व्यक्ति को उठाये बिना कभी सम्भव नहीं। समाज-सुधार की भावना व्यक्ति-सुधार के अभाव में व्यर्थ और थोथी है। क्या बिना किसी बुनियाद या भित्ति के भी कभी कोई मकान टिका रह सकता है? इसलिये व्यक्ति-सुधार और व्यक्ति की अन्तर-शुद्धि की यह महायोजना प्रारम्भ में नदी की प्रारम्भिक धारा की तरह लघु काय होने पर भी आगे चलकर नदी की विस्तृत धारा की तरह विशालकाय रूप लिये हुये है। यही कारण है कि पहले जितनी भी सामाजिक सुधार की योजनाएँ बनीं वे एक साथ सारे समाज का उत्थान करने के लिये बनीं। परिणामतः वे इसलिये सफल नहीं हो सकीं कि उनकी मूल भित्ति को सुदृढ़ नहीं किया गया था। कोई संस्था, समुदाय या योजना एक साथ सारे व्यक्तियों का उत्थान और चरित्र-निर्माण नहीं कर सकती। इसलिये यह निश्चित है कि जबतक व्यक्तिगत चरित्र-सुधार पर जोर नहीं दिया जायगा, तबतक सामाजिक विषमताएँ दूर होना सम्भव नहीं।

आज का युग आर्थिक समस्या का युग है। आज कुछ लोग आर्थिक समस्या को ही देश की प्रधान समस्या मानते हैं। उनका कहना है कि आपकी अणुव्रत-योजना में आर्थिक समस्या का समाधान नहीं है। यह प्रश्न सुनकर मैं हैरान रह जाता हूँ कि आज के भौतिकवादी युग में लोगों के सामने सिर्फ आर्थिक समस्या का ही महत्त्व रह गया है। चारित्र शुद्धि और आध्यात्मिकता से उन्हें कोई मतलब नहीं। लोग यहाँ तक भी कह बैठते हैं कि अगर इस योजना में आर्थिक प्रश्नों को सुलझाने का कोई मार्ग नहीं है तो इसका मतलब यह है कि यह योजना व्यापक नहीं है। मैं समझ नहीं पाता कि व्यापकता का मतलब क्या है? व्यक्ति-व्यक्ति के मस्तिष्क से जो चीज टकराये, जो व्यक्ति-व्यक्ति के मस्तिष्क तन्तुओं को झनझना दे क्या वह योजना व्यापक नहीं? आजतक का इतिहास बताता है कि किसी एक योजना को समूचा

संसार अपना कर चले यह न कभी हुआ है और न कभी आगे होनेवाला है। इतिहास के न जाने कितने प्रसिद्ध महारथी, महापुरुष इस धरा पर आये किन्तु उनके एक कदम के पीछे सारा संसार चला हो, ऐसा कोई भी युग इतिहास के पृष्ठों पर अंकित नहीं मिलता। मतभेद और विचार-भेद सदा रहते आये हैं। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की कहावत जब नई नहीं है, तब विचार-भेद रहना कोई अधिक आश्चर्य की बात नहीं। हमें भी यह गर्व नहीं करना है कि हम संसार को अपने पीछे चलाएँ। हमारा तो सिर्फ यही कर्तव्य है कि हम जनहित-साधक, सर्वहित-साधक और आत्महित-साधक, हमारे पास जो कुछ कार्यक्रम है उसे हम जन-जन के सामने प्रस्तुत करें। लोग उसे देखें, समझें, विचारें और अगर वह किसी को अच्छा लगे तो वह उसे ग्रहण करे। आज जब व्यक्ति-स्वातंत्र्य का युग है तो किसी के विचारों को कुचल कर किसी कार्यक्रम को जबरदस्ती उस पर थोपना न उचित ही है और न युक्तिसंगत। इसलिये, जहाँ अन्यान्य राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं, इन सब समस्याओं की जड़, चारित्रिक समस्या को सुलझानेवाली हमारी एक छोटी सी योजना है।

एक बात जो मुझे अधिक बल कहनी है, वह यह है कि आज लोगों का दृष्टिकोण गलत बन रहा है। वह ऐसे कि लोग सोचते हैं कि अगर अर्थ की समस्या सुलझ जाय तो सब समस्याएँ सुलझ जायँ। मैं समझता हूँ, यह वैसी ही बात है—जैसे स्वराज्य मिलने के पूर्व भारतीय नेता यह सोचा करते थे कि अगर हमें स्वराज्य मिल जाय तो सब समस्याएँ सुलझ जायँ। मगर स्वराज्य मिलने के बाद यह स्पष्ट हो गया कि उनका यह सोचना गलत था। चूँकि, आज समस्याएँ, मुसीबतें और कठिनाइयाँ इस रूप में फैली हुई हैं जो यह मानने नहीं देती कि स्वराज्य आने के बाद सब समस्याएँ सुलझ गईं और सुख का कल्पित स्वप्न साकार हो गया। आज भी मैं यही चेतावनी देना चाहता हूँ कि अगर ऐसा सोचा गया कि आर्थिक समस्या के सुलझने ही सब समस्याएँ सुलझ जायेंगी, तो यह सोचना गलत होगा। इसके साथ-साथ मुझे यह भी कहना कि आर्थिक समस्या के कारण ही सब समस्याएँ फैली हुई हैं, मुझे मान्य नहीं। यह दूसरी बात है कि आर्थिक समस्या छोटी है या बड़ी। मेरी दृष्टि में सबसे बड़ी समस्या नैतिक और चारित्रिक है। जहाँ आर्थिक समस्या का समाधान पाया गया है वहाँ चरित्र और नैतिकता का पूर्ण सद्भाव है, ऐसा आज भी नहीं माना जा सकता। अतएव मेरी तो यही मान्यता है कि आर्थिक समस्या के कारण अन्यान्य समस्याएँ बनी हुई हैं, ऐसा नहीं, बल्कि मनुष्य की आन्तरिक विषमताओं के कारण ही बहुत सी आर्थिक व अन्यान्य समस्याएँ पैदा हुई हैं। इसी दृष्टिकोण को लेकर अणुव्रत-योजना मनुष्य के चारित्रिक विकास के लिए बनाई गई

है। मेरा विश्वास है अगर चारित्रिक समस्या सुलझ गई तो अन्यान्य समस्याओं के सुलझने में कोई देर नहीं लगेगी।

एक बात मुझे बड़े खेद के साथ कहनी पड़ती है कि जो भारत संसार की हर समस्या को सुलझाने की ताकत रखता था, जो संसार के आध्यात्मिक गुरुपद पर आसीन था, आज वह स्वयं कितना उत्पीड़ित है। आज उसके निवासी रोटी और कपड़े की समस्या में कितने उलझे हुए हैं? इस युग में भौतिकवाद का क्रूर चक्का इस विकराल रूप में घूमा कि भारत ही क्या समूचा संसार उसके नीचे पिस गया। मैं मानता हूँ रोटी की समस्या कोई छोटी समस्या नहीं है। मुझे वह पद्य याद है—

'बुभुक्षितै र्व्याकरणं न भुज्यते, पीपासितैः काव्यरसो न पीयते'।

भूखा और प्यासा व्याकरण और काव्य-रस से अपनी भूख, प्यास को नहीं बुझा सकता। फिर भी मेरी दृष्टि में इस समस्या का इतना महत्त्व नहीं। मैं नहीं मान सकता कि आज संसार एकमात्र अभाव के कारण ही दुःखी है। दुःखी होनेका सबसे मुख्य कारण है नैतिक अथवा चारित्रिक पतन। आज जन-जन का नैतिक जीवन किस कदर ध्वंस-विध्वंस हुआ जा रहा है, कुछ कहने सुनने की बात नहीं। जीवन के चारित्रिक मूल्य को लोग भूले जा रहे हैं। फलतः असत्य-आचरण, भ्रष्टाचार जैसे दुर्गुण मानवता को घुन की तरह खाये जा रहे हैं। वास्तव में अन्तरवृत्तियों के असंयम के कारण अनेक समस्याएँ पैदा हुई हैं। अगर इन असंयत अन्तर-वृत्तियों को संयत किया जाय तो अन्यान्य परिस्थितियों में बहुत बड़ा अन्तर आ सकता है और समस्याओं का समाधान मिल सकता है। यदि जीवन आडम्बरहीन, संयत और सादा हो तो वस्तुओं का इतना अभाव नहीं, जिसको लेकर कोई समस्या खड़ी हो सके। मैं मानता हूँ कुछ अंशों में बाह्य स्थिति सापेक्ष होने पर भी मूलतः यह समस्या अन्तर-स्थिति सापेक्ष ही है अगर अन्तर-स्थिति का परिमार्जन करने का प्रयास किया जाय तो मैं समझता हूँ यह समस्या बहुत छोटी और नगण्य प्रतीत होगी तथा इसके सुलझाने में कोई विलम्ब नहीं होगा। अतएव आज सबसे बड़ी इसी बात की आवश्यकता है कि अनैतिकता की दानवीय फौज के विरुद्ध नैतिकता तथा सदाचार के सहारे एक लड़ाई प्रारंभ की जाय। अणुव्रत-आन्दोलन इसी तरह की एक सक्रिय और सजीव योजना है जो नैतिक अभ्युदय और चारित्रिक विकास की आधारशिला को लेकर चलती है।

कुछ लोगों का प्रश्न है कि क्या अहिंसा और आध्यात्मिकता के द्वारा समस्याओं का हल निकल सकता है? मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि समस्याओं का स्थायी हल अहिंसा और आध्यात्मिकता की शक्ति के द्वारा ही सम्भव है। हिंसा और भौतिकता की शक्ति ने आज तक कौन सी समस्या का स्थायी हल किया? जबकि उसके पीछे

प्रचार-साहित्य, प्रचार-पत्र, प्रचुर प्रेस, अनेकानेक नेता तथा अनेक सरकारें लगी हुई हैं। ऐसी स्थिति में अहिंसा के पीछे हैं कौन? जो कुछ साधु-सन्त लगे हुए हैं, मालूम है उनके मार्ग में कितनी कितनी यातनाएँ, बाधाएँ और मुसीबतें बिछी रहती हैं। खेद इस बात का है कि कुछ लोग साधु और भिखमङ्गों को एक ही श्रेणी में गिन लेते हैं। आज यह आवाज लगाई जाती है कि भारत में ऐसे पचास लाख साधु बेकार हैं जो देश के भारभूत हैं। अगर उन्हें खेती आदि के काम में लगा दिया जाय तो देश के निर्माण-कार्य में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। मैं समझता हूँ वास्तव में जो आत्म-साधना करनेवाले साधु हैं उन्हें भी अगर इसी संख्या में शामिल किया गया है तो यह भारी भूल और बहुत बड़ा दृष्टिदोष है। साधु भिखमंगे नहीं, भिक्षु हैं। वे बोझ नहीं, बल्कि संसार का बोझ उतारने वाले हैं। वे अभिशाप नहीं, बल्कि जगत के लिए वरदान-स्वरूप हैं, वे कलङ्क नहीं, बल्कि जगती के शृंगार हैं। उनकी रोटी कपड़े आदि की व्यवस्था मधुकरी वृत्ति से चलती है। वे भौतिक सुख-सुविधाओं से परे रहकर सदा कड़ी आत्म-साधना और जन-कल्याण साधना में लीन रहते हैं। वे ग्राम-ग्राम में पैदल घूमते हैं। उनके लिए ट्रेन प्लेन, कार आदि की कोई आवश्यकता नहीं। उनके लिए कहा गया है :

> मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता।
> वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोयमनिलः॥
> स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरति वनिता संग मुदितः।
> सुखं शान्तः शेते मुनि रतनु भूतिर्नृप इव॥

अस्तु। अगर अहिंसात्मक शक्तियाँ एक होकर आवाज बुलन्द करें तो देश का नक्शा बदला जा सकता है और मुसीबतों की इस बीहड़ राह में एक सुगम व भव्य मार्ग का निर्माण हो सकता है।

यह सुनिश्चित है कि किसी भी अच्छी योजना का प्रायः विरोध होना ही है। विरोध एक संघर्ष है और संघर्ष से ही ज्योति पैदा होती है। जिस योजना का विरोध नहीं होता वह पनप नहीं सकती। विरोध से घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। विरोध से घबड़ानेवाले खत्म हो जाते हैं और डटकर सामना करनेवाले विजय प्राप्त करते हैं। अभी जो इस योजना को लेकर विरोध किया जा रहा है, मैं समझता हूँ वह तो बिल्कुल ही नगण्य है। विरोधी बन्धुओं का कहना है कि "आचार्यजी नाम, प्रतिष्ठा और प्रख्याति के भूखे हैं।" मैं कहता हूँ उनको यह बात मुझे स्वीकार है। भला जन-जन के विकास का काम हो और अपना नाम हो तो इसमें नुकसान और अखरने जैसी क्या बात है? मेरा तो सदा का यही सिद्धान्त रहा है।

काम के पीछे नाम अपने आप होता है मगर केवल नाम नुकसान और हानिप्रद है। नाम की भूख न रखते हुए काम में जुटे रहना ही हमारा उद्देश्य है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि साधुओं को इन लोक-संग्रह के कार्यों में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? उन्हें तो भजन, सेवा और ईश्वर-भक्ति आदि में अपना समय बिताना चाहिए। मैं मानता हूँ भजन, सेवा और ईश्वर-भक्ति द्वारा हम अपना कल्याण कर सकते हैं पर संसार का नहीं। हमें यह सदा से शिक्षा मिलती आई है कि हम अपने कल्याण के साथ साथ पर कल्याण भी करें। संसार का कल्याण और उसको सम्पादित करने की भावना अपने कल्याण से परे की चीज नहीं है। संसार का कल्याण हो चाहे न हो हमें तो अपने सत्प्रयत्न का फल मिल ही जाता है। अतएव हमें विरोध को विनोद और प्रगति का शुभ संकेत समझकर उसका हार्दिक स्वागत करना चाहिए। मुझे बौद्ध साहित्य का एक प्रसंग मौके पर याद आ रहा है। एकबार गौतम बुद्ध का एक शिष्य धर्म-प्रचार के लिए बाहर जाने लगा गौतम बुद्ध ने विचार किया—देखूँ, इसमें कितनी क्षमता है। उन्होंने प्रश्न किया—'आयुष्मन्! तुम बाहर जा रहो, तुम्हें कोई गालियाँ देगा तब ?

"भगवन्! मैं सोचूंगा, चलो, गालियाँ ही तो दी, पीटा तो नहीं।"

फिर गौतम बुद्ध ने कहा—"अरे! कोई पीटेगा तब ?"

"मैं समझूंगा चलो पीटा ही, हाथ पैर तो नहीं तोड़े।"

"अरे! कोई हाथ-पैर तोड़ देगा तब।" "मैं समझूंगा, चलो हाथ-पैर ही तो तोड़े, प्राणान्त तो नहीं किया।"

"अरे! कोई प्राणान्त कर देगा तब ?" "मैं समझूंगा, चलो प्राणान्त ही तो हुआ, मेरी आत्मा और उसके गुणों का तो कुछ नहीं बिगड़ा।"

शिष्य के इन सरल तथा स्पष्ट उत्तरों को सुनकर गौतमबुद्ध ने पूर्ण प्रसन्नता के साथ आशीर्वाद विदा देते हुए कहा—"जाओ, ऐसे शिष्य ही प्रचार-कार्य में सफल हो सकेंगे।" अतएव इस प्रसङ्ग से हमें यही शिक्षा लेनी है कि हम विरोधों से कभी घबड़ाएँ नहीं। हमें विरोध का प्रतिकार कार्य से करना है न कि थोथी आवाजों व अन्य गलत तरीकों से। हमें अपने गुरुओं से यही शिक्षा मिली हुई है कि विरोध के सामने विरोध लेकर बढ़ोगे तो विरोध बढ़ेगा और यदि उसको पीठ देकर अपना कार्य करते रहोगे तो वह विरोध अपने आप खत्म हो जाएगा। मैं समझता हूँ अगर विरोध न हो तो दुतरफा काम कैसे हो। श्रीमद् भिक्षु स्वामी को किसी ने कहा—"भीखणजी आप में लोग अवगुण निकालते हैं।" स्वामीजी ने कहा—'अवगुण निकाल रहे हैं, डाल तो नहीं रहे हैं ? अच्छा ही है हमारा दुतरफा काम हो रहा है। अवगुण हमें रखने थोड़े ही

हैं। कुछ हम निकाल रहे हैं, और कुछ लोग निकाल देंगे।" स्वामीजी का यह अप्रत्याशित उत्तर सुनकर पूछनेवाला चुप रह गया। यह भी होता है जब मनुष्य अच्छे मार्ग पर चलता है उस समय उसको फिसलाने के लिए बहुत से व्यक्ति अनेक बाधाएँ उपस्थित किया करते हैं। जैन-रामायण का किस्सा—जब रामचन्द्रजी राजपाट छोड़कर पूर्ण समाधि-अवस्था में पहुँचने लगे यानी जैन-शब्दों के 'क्षपक श्रेणी' में अग्रसर होने लगे ; उस समय सीतेन्द्र ने उनको विचलित करने के लिए अनेक प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाये। किन्तु वे अपने मार्ग से तिल भर भी नहीं फिसले। इस बात से सबको यही शिक्षा लेनी है कि वे पथ की शत शत बाधाओं को चीरते हुए आगे बढ़ें। विरोध और बाधाओं के रहस्य को समझने के बाद वे प्रगति के बाधक नहीं प्रत्युत् प्रगति के साधक सिद्ध होते हैं।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि अणुव्रत-आन्दोलन का यही आदर्श है कि मनुष्य दूसरे का दमन करने की कोशिश न कर अपना दमन करे। अपनी बुराइयों व अपनी असद्-वृत्तियों का दमन करने की कोशिश करें। यही भगवान् महावीर की वाणी है। यही गौतम बुद्ध ने कहा है और यही श्रीकृष्ण ने भगवद्-गीता में बतलाया है—

अप्पा चेव दमियव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थय॥

अर्थात् मनुष्य को अपने आपका दमन करना चाहिए। वास्तव में यही कठिन है। अपने आपको दमन करनेवाला इहलोक और परलोक दोनों में सुखी होता है, इसीलिए आगे कहा है—

अप्पाणमेव जुज्झाइ किं ते जुज्झेण बज्झओ।

अर्थात् आत्मन्! यदि तू युद्ध-प्रेमी है तो तुझे अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए! बाहरी संग्राम से क्या लाभ है? इसलिए मनुष्य के लिए यही श्रेय है कि वह सोचे—

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मन्तो, बन्धणेहिं वहेहिय॥

अर्थात् 'अच्छा है, मैं पहले ही संयम और तप के द्वारा अपने आप ही अपना दमन कर लूँ। अगर दूसरे लोग वध, बन्धनादि से मेरा दमन करेंगे तो फिर कोई मजा नहीं। बन्धुओ! इन ऋषिवाक्यों को पुनः याद कीजिये। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि चाहे कोई देश हो, कोई समाज हो, कोई योजना हो, कोई वाद हो और चाहे कोई कार्यक्रम हो, वे तबतक सफल नहीं हो सकते, आगे नहीं बढ़ सकते, जबतक कि उनमें आत्म-दमन और आत्मानुशासन को बल व प्रश्रय नहीं दिया जाता है। मैं समझता हूँ

अगर प्रत्येक व्यक्ति 'आत्म-दमन' के इस महत्त्वपूर्ण सूत्र को अपने जीवन में स्थान देगा तभी जीवन की समस्त विषमताएँ और समस्याएँ मिटेंगी। सात्त्विकता, सदाचार एवं चरित्र निष्ठा का विकास होगा, जो संसार राष्ट्र और समाज के लिए एक अनुपम देन होगी। मैं आज जन-जन को आह्वान करूँगा कि वे इस योजना को देखें, समझें, और उचित जँचे तो जीवन में ढालने की कोशिश करें।

जोधपुर,
१५ अक्तूबर, '५३

१३६ : आध्यात्मिक क्रान्तिकारी सन्त

आज आचार्य भिक्षु का चरम-दिवस है। आज से सार्ध-शताब्दी पूर्व त्रयोदशी के दिन आचार्य भिक्षु ने अक्षुण्ण संयम-साधना को सम्पन्न कर राजस्थान के सिरियारी गाँव में अपने मानव शरीर की यह यात्रा समाप्त की थी। आज हम उनकी चरम-जयन्ती मना रहे हैं। संभवतः लोग हमारी इस बेढंगी चाल को देखकर आश्चर्य करेंगे। आश्चर्य की बात है ही, जहाँ प्रायः महापुरुषों की जन्म-तिथियाँ मनाई जाती हैं वहाँ हमारे यहाँ चरम-जयन्ती! लोगों की इच्छा है, वे कुछ भी मनाएँ; मैं इसपर किसी प्रकार का आक्षेप करना नहीं चाहता। मगर हमारी दृष्टि में जन्म-जयन्ती की बनिस्पत चरम-जयन्ती का ही विशेष महत्त्व है। जन्म-जयन्ती में जन्म-दिन के बाद का भविष्य अनिश्चयता की सीमा में बँधा रहता है जबकि चरम-जयन्ती में चरम-दिवस तक के जीवन का पूर्ण उपसंहार और जीवन की घटनाओं का सजीव और असंदिग्ध लेख सामने मौजूद रहता है।

मुझे अधिक खेद तो तब होता है जब मैं यह सुनता हूँ कि अमुक आचार्य व अमुक सन्तों के पीछे आज शोक सभा मनाई गई। खेद! सन्तों के लिये कैसी शोक सभा? सन्त जीवित रहें तो लाखके, और मरे तो सवालाख के हैं। मेरा किसी पर रोष नहीं, मैं तो अपनी भावना व्यक्त करना चाहता हूँ। यदि मेरी आवाज किसी को पसन्द आए तो मैं उनसे यही कहूँगा कि सन्तों के पीछे शोक-सभा का मनाना सर्वथा असंगत और एक अखरनेवाली चीज है। वे जिस साधना की भार को अपने सिर पर रखकर अग्रसर हुए थे यदि उसको उन्होंने पूरा निभा दिया तो यह खुशी की बात है; न कि चिन्ता शोक या दुःख की। अतः सन्तों की शोक-सभा कतई न मनाई जाय। यदि कहीं ऐसा उपक्रम होता भी है तो वह शोभनीय नहीं।

आज मुझे आचार्य भिक्षु के जीवन पर प्रकाश डालना है, उनके सिद्धान्तों और विचारों का विश्लेषण करना है तथा उनकी जीवन-चर्या के सम्बन्ध में दो शब्द कहने हैं। संक्षेप में स्वामीजी के जीवन का इतिहास इस प्रकार है :

आपका जन्म राजस्थान के कंटालिया नामक ग्राम में वि० सं० १७८३ में हुआ। संवत् १८०८ में आपने गृह-त्याग किया सं० १८१७ में आपने तेरापन्थ सम्प्रदाय का निर्माण किया। संवत् १८३२ में संघ के दृढ़ विधान का संकलन किया। अन्त में सम्वत् १८६० में भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को आपने इस संसार से महाप्रस्थान किया।

आचार्य भिक्षु केवल जैनों के ही नहीं बल्कि अध्यात्म जगत के एक क्रान्तिकारी सन्त थे। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि—"आचार्य भिक्षु ने कौन सा अच्छा काम किया? आखिर उन्होंने एक फिरका और बढ़ा दिया, जब जैन-धर्म में पहले से ही बहुत से फिरके मौजूद थे फिर उसमें नया फिरका और बढ़ा देना कौन सी बुद्धिमत्ता थी? बुद्धिमत्ता तो तब होती जब बढ़े हुए फिरके को कम किया जाता, और नया खड़ा न किया जाता। विचार भेद हो तो हो, मगर नये फिरके को जन्म देना तो ठीक नहीं।" मैं मानता हूँ अलग-अलग फिरके बढ़ाना अच्छा नहीं और मैं यह भी स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि आचार्य भिक्षु अलग फिरका कतई नहीं बढ़ाना चाहते थे। इसका पुष्ट प्रमाण तेरापन्थ के नामकरण का इतिहास है। आचार्य भिक्षु ने संस्था का कोई अलग नामकरण करने के विषय में कुछ विचार ही नहीं किया था, जबकि जोधपुर में किसी अपरिचित व्यक्ति के द्वारा फिरके का नाम तेरापन्थ पड़ गया। मगर मैं यह मानने को कभी तैयार नहीं कि फिरका बढ़ने के भय से मनुष्य दोषों व धोखे की क्रूर चक्की में पिसता चला जाय। यह बुद्धिमत्ता नहीं, क्लीवता है। इसमें फिरका बढ़ने का सवाल ही नहीं उठ सकता। प्रत्येक व्यक्ति का अपना दिमाग है अपना विचार है अपना विवेक है जहाँ उसे संतोष शान्ति और विश्वास न मिले तो क्या वह उससे चिपट कर बैठा रहे? फिरका बढ़ने के भय से अपना आत्महनन करना कदाचित् भी युक्तिसंगत नहीं। यद्यपि स्वामीजी को अपना अलग संघ कायम करना कतई पसन्द नहीं था परन्तु वे करते क्या, जब बात गले तक आ गई और कोई दूसरा मार्ग नहीं रहा तब क्या वे सत्यव्रती शेर किसी बन्द पिंजड़े में घुट-घुटकर अपनी आत्मा के साथ अन्याय कर सकते थे?

आज जब मैं स्वामीजी के जीवन और उनके सिद्धान्तो पर प्रकाश डालने जा रहा हूँ तो यह सहज सम्भव है कि तात्कालिक इतिहास का कुछ वर्णन भी हो। तात्कालिक स्थितियों के विषय में स्वामीजी के विचारों की विवेचना करते समय यदि व्यक्ति अपनी कम समझ के कारण किसी के प्रति चोट, आक्षेप या आरोप समझेगा तो

मेरा स्पष्ट कहना है कि मैं इसका कतई जिम्मेदार नहीं हूँ। मैं फिर इसी बात को दोहरा दूँ कि मेरी नीति आक्षेपात्मक है ही नहीं। न मैंने कभी किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप किया है, न करता हूँ और न भविष्य में किया ही जायेगा। मुझे किसी की निन्दा व किसी पर कटाक्ष करना पसन्द नहीं है। ऐसी स्थिति में मुझे गलत समझनेवाला स्वयं अपने को गलत साबित करेगा। व्याख्यान के समय चौर्यवृत्ति पर तीखे शब्दों में प्रहार करने पर यदि कोई चोर यह सोचे कि आज तो मेरे प्रति बड़ा कटाक्ष और तिरस्कार किया गया है तो यह उसकी बुद्धि के दिवालिएपन के सिवाय और क्या है ?

स्वामीजी अपने जमाने के एक महान स्रष्टा थे। वे जमाने की थपेड़ों से घबड़ाए नहीं। उनको जब सत्य का प्रकाश मिला तो उन्होंने निर्भीक होकर स्पष्टतापूर्वक उस जमाने की स्थितियों पर सैद्धान्तिक विश्लेषणपूर्वक विचार किया। उन्होंने जिन दो मुख्य पहलुओं पर विचार किया, वे आचार और विचार, उन्होंने अपने अन्तंहृदय में विचार किया कि जब हमनें आत्म-कल्याण के लिये घर-बार छोड़ा तो हमें मिथ्या मान्यताएँ छोड़कर शास्त्रीय वचनों के आधार पर ही चलना चाहिये। दूसरी तरफ आपने तत्कालीन साधु-समाज के आचार-विचारों को देखा। वह कोई साधु-समाज था या सामन्तशाही का नग्न चित्र। ये आलीशान मकान साधुओंके लिये और खुलेआम साधु आधाकर्मी दोष को भूलकर इनमें मौज उड़ा रहे हैं। आज्ञा और प्रलोभनादि जिसतिस को मूँड़कर शिष्य-लोलुपता का घृणित उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं। परस्पर कलह, कदाग्रह, गुटबंदी व जिलाबन्दी के भयंकर शिकार हुए चले जा रहे हैं। यह कैसा साधु-समाज और कैसा विकृत साध्वाचार !

इसी तरह विचारात्मक पहलुओं को लेकर भी उन्होंने तत्कालीन प्रचलित दया, दान, मिथ्यात्वीकारणी मिश्र पुण्य-पाप और अल्पपाप बहुनिर्जरा आदि मान्याताओं के प्रति अपना सैद्धान्तिक विरोध प्रकट किया। संवत् १८१५ तक आप इन स्थितियों को सोचते-समझते और देखते रहे। तदनन्तर अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी जब आपके गुरु रघनाथ जी आपके विचारों से सहमत न हुए तब आपको विवश होकर उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा।

उपरोक्त तात्कालिक कतिपय मान्यताओं का सैद्धान्तिक व यौक्तिक प्रमाणों के आधार पर विश्लेषण करते हुए आपने बताया कि पारमार्थिक दया अन्तरात्मा का गुण व लक्षण है। उसका बाह्य तत्त्वों से सम्बन्ध जोड़ा नहीं जा सकता। अन्तरात्मा के पापों से, बुराइयों से व असत्प्रवृत्तियों से बचाने के प्रलोभन बलात्कार आदि से किसी के शरीर व प्राणों को बचाना परमार्थिक दया का न तो सही स्वरूप ही है और न

लक्ष्य ही। आपने कहा कि विशुद्ध दया किसी को न मारना है। यही विशुद्ध दया का लक्ष्य है। इसमें बचाना अपने आप आ जाता है। न मारने का प्रतिफल ही तो बचाना है। उदाहरणतः मार्ग में एक चींटी चली जा रही है। व्यक्ति ने यह सोचकर कि यह मेरे द्वारा न मर जाय; अपने पैरों को बचाकर रखा। यहाँ दया किसे कहा जाय? जबकि एक ओर व्यक्ति की आत्मा हिंसा से, पाप से बची है और दूसरी ओर चींटी जिन्दा रही है। आपने बताया—चींटी का जिंदा रहना वास्तविक दया नहीं। वास्तविक दया तो व्यक्ति की आत्मा को हिंसा के पाप से बचाना है; चींटी का आनुषंगिक बचाव ले। दूसरे तो इसमें अपने आप निहित हैं। यदि हम चींटी को जिन्दा रखने की वास्तविक दया रखें तो देखिये, दो क्षण बाद ही जोरों की आँधी आती है और चींटी उड़ जाती है—ऐसी स्थिति में क्या दया भी उसके साथ-साथ उड़ जाती है? इसलिये स्वामी जी ने बताया कि आत्मा को पतित होने से बचा लेना ही वास्तविक दया है। प्राण व शरीर रक्षा तो उसका अनुषंगिक फल है। इसी तरह उन्होंने बताया कि कसाई जानवरों को काटता है तो साधु उसे जानवर न काटने का उपदेश देते हैं, तथा हिंसा के बुरे फल बताते हैं। कसाई का हृदय बदलता है और वह जीवन भर के लिये जानवरों को न मारने का संकल्प कर लेता है।

यहाँ जानवरों का जीवित रहना वास्तविक दया नहीं वह तो उसका प्रसंगोपात्त फल है। वास्तविक दया है कसाई का आत्मोत्थान। इसलिये अहिंसात्मक तरीकों से किसी आततायी की आत्मा को पापों से बचाना वास्तविक दया है। शेष दया जिसमें केवल शरीर व प्राण रक्षा ही उद्देश्य है उसको आपने लौकिक व्यावहारिक दया बताया थी। इसके साथ-साथ आपने 'बचाओ' के स्थान पर 'मत मारो' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आपने कहा—'बचाओ' कहने में हिंसा का भी कुछ अनुमोदन नहीं होता। अतः 'मत मारो' का सिद्धान्त ही व्यापकपूर्ण युक्तियुक्त व उपादेय है और इसीका नाम वास्तविक दया है।

इसी प्रकार दान के विषय में आपने बताया कि किसी को रोटी खिलाना, पानी पिलाना, दवा देना ये सच्चा दान नहीं, ये तो सामाजिक सहयोग की भित्तियाँ हैं। सच्चा दान तो वह है कि किसी तथाकथित पशु को मानव बना दिया जाय। किसी अज्ञानी को ज्ञानी बना दिया जाय, तथा जहाँ अहिंसा का पोषण हो। जहाँ पात्रदान का प्रश्न है, वहाँ स्वामी जी ने सच्चे साधु को शुद्ध आहार-पानी देना उपादेय माना है। अतिरिक्त इसके जो आपसी लेन-देन हैं उसको आपने व्यवहार सापेक्ष, नैतिक और अनैतिक, लौकिक दान की सीमा में बताया। उसको आध्यात्मिकता की सीमा में कभी समाहित नहीं किया जा सकता। आज लोग यदि यह पूछें कि यह विनोबाजी का भूदान क्या है? भूदान-यज्ञ के सूत्रधार बराबर यह कहते आ रहे हैं कि किसी भूमि

हीन को भूमि देना कोई दान नहीं और न किसीपर अहसान ही है। इनका मतलब तो यह है कि जिसके पास अपने हिस्से से अधिक भू-भाग है वह उसे रखने का अधिकारी नहीं है। इसलिये वह अपने हिस्से से अतिरिक्त भू-भाग को अपने भूमिहीन समाजिक भाइयों को प्रदान करे। स्वामीजी ने बताया कि सर्वश्रेष्ठ दान अभयदान है। अभय-दान का मतलब है स्वयं निर्भीक बने और दूसरों को भी निर्भीक बनाएँ। पैसे देकर चन्द समय के लिए बकरा छुड़ाया जा सकता है पर यह अभयदान नहीं। अभयदान तो वह है कि कसाई का हृदय बदलकर उसे इस खूनी धर्म से मुक्त कर दिया जाय।

तीसरी विचार-क्रान्ति थी; मिथ्यात्वी की क्रिया। उस समय जैनों में जो संकीर्णता आ गई थी। उसपर आपने डटकर प्रहार किया। आपने कहा—यह कहना कि जैनतरों की अच्छी क्रिया भी आध्यात्मिक सीमा से पर हैं वह आत्मशुद्धि का साधन नहीं और संसार-भ्रमण को बढ़ानेवाली है जो बिल्कुल गलत और अप्रमाणिक है। अच्छी क्रिया से जैन या अजैन का कोई प्रश्न नहीं वह सबकी आध्यात्मिक सीमा में हैं। वह आत्म-शुद्धि का साधन है और संसार-भ्रमण को मिटानेवाला है।

चौथी विचार-क्रान्ति थी; मिश्र पुण्य पाप। इसका तात्पर्य यह है कि एक क्रिया से पुण्य व पाप दोनों की उत्पत्ति। जैसे किसी ने किसी को कच्चा जल पिलाया तो वहाँ दो बातें हुई। एक तो जलीय जीवों की हिंसा और दूसरे प्यास की शमन। जलीय जीवों की हिंसा हुई। उससे तो पाप निष्पन्न हुआ और जो प्यास का शमन होने से मनुष्य सुखी हुआ—उसका पुण्य। स्वामीजी ने इस मान्यता का खण्डन किया। उन्होंने कहा—"यह कभी संभव नहीं कि एक क्रिया से पुण्य और पाप दोनों उत्पन्न हो जाय। यह कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है कि एक ही व्यापार में घाटा और नफा दोनों होते हैं। पुण्य और पाप दोनों की क्रियाएँ अलग-अलग हैं। एक क्रिया से या तो पुण्य होगा या पाप।"

इस तरह पाँचवी विचार क्रान्ति थी; अल्पपाप बहुनिर्जरा। अर्थात् देव, गुरु, धर्म के लिये हिंसा करने में अल्पपाप होता है धर्म अधिक। आपने कहा—यह इतना लचीला सिद्धान्त है कि जिसके ओट में देव-गुरु-धर्म के लिए कुछ भी किया जा सकता हैं। हिंसा तो हिंसा ही है चाहे वह धर्म के लिए हो या चाहे साधुओं के लिए हो। हिंसा पाप है और वह त्रिकाल में भी धर्म नहीं कहला सकती।

इस प्रकार स्वामीजी आचार-विचार संबंधी सैद्धान्तिक मतभेद को लेकर स्थानक वासी संप्रदाय से पृथक हुए। पृथक होते ही उन पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। विरोधी लोगों द्वारा उनके सामने अवरोध की चट्टानें खड़ी की गईं। उनको अन्न-जल और स्थान न देने की दुहाई दी गई, परिणाम में जो रात के लिये अन्तिम विश्राम

स्थल होता है, वही उनका पहला विश्रामस्थल हुआ। पाँच वर्ष के दीर्घकालीन समय तक उनको पेट भर भोजन नहीं मिला। जो कम से कम मूल्यवाला मोटा कपड़ा मिलता उसके लिए गुरु और शिष्यों में मनुहारें होती। इसका १६ वर्ष का दीर्घकालीन इतिहास इन्हीं रोमांचक दृश्यों की कड़ियों से जुड़ा हुआ है। मगर वे महापुरुष इन शारीरिक कष्टों से कब घबड़ाने वाले थे? विघ्नों, बाधाओं और विपत्तियों के तूफानों में इंच भर भी विचलित और क्षुब्ध नहीं हुए। उस कंटकाकीर्ण मार्ग पर वे पैर जमाए धैर्यपूर्वक आगे बढ़ते गये। क्रूर तूफानों में उद्वेलित भीषण सागर में उन्होंने अपनी लघु नौका को डालकर सागर की क्रूर लहरियों से लोहा लेना प्रारम्भ किया। उन्होंने शिथिलाचार के पोषक व समर्थकों को ललकार कर कहा कि "प्रण शून्य शव के समान है। प्रण को खण्डित कर प्राणों को धारण करना प्रण के साथ खिलवाड़ करना है।" वे इसी विचार को अपने जीवनका मूलमंत्र बनाकर अपने जीवन का बलिदान करते हुए तथा संसार की उग्र से उग्र शक्तियों के साथ लड़ते हुए आगे बढ़े।

एक समय जब लोगों की रूढ़िवादिता और आग्रह-बुद्धि को देखकर स्वामीजी जन-कल्याण से कुछ निराश होकर आत्म-कल्याण में लग गये; चौविहार तपस्या और नदी की गर्म रेती पर आतापना लेने लगे, उस समय उनकी कम्पित कर देनेवाली कठोर साधना को देखकर दो साधुओं के दिल में स्वयं एक स्फुरणा का जागृति हुई। उन्होंने स्वामीजी से प्रेरणा भरे शब्दों में प्रार्थना की—स्वामीजी! आप यह कठोर साधना हमें दीजिये, हम इसे सहर्ष निभाएँगे। आपके लिए यह मौन साधना का समय नहीं है। देखिये—जन-कल्याण की साधना आपको टकटकी बाँध निहार रही है। आपके इशारे और आपके एक कदम रखने की जरूरत है, सहस्रों लोग आपके कदमों के पीछे चल पड़ेंगे, आपके पथ का अनुसरण करेंगे। उन स्थूलहृदय सन्तों की आवाज स्वामी के हृदय पर असर कर गई। परिणामतः स्वामीजी मौन साधना को स्थगित कर जनता के कल्याण के लिये अथाह परिश्रम करने लगे। वास्तव में यहीं से उनके जन-कल्याण व साहित्य-सर्जना का सूत्रपात हुआ। अल्प समय में ही उन्होंने अपनी कुशल लेखनी द्वारा सत्साहित्य का ढेर लगा दिया तथा सहस्रों लोग आपकी विचारधारा से प्रभावित होकर आपके सच्चे अनुयायी बने। लोगों को स्मरण रहे, निराशा के बादलों को छिन्न-भिन्न कर स्वामी जी ने नई दीक्षा ग्रहण करते समय इन दोनों संतों को अपने से बड़ा माना। ये ही वे सन्त हैं जो तेरापन्थ के समस्त दीक्षितात्माओं में अग्रगण्य गिने जाते हैं, जिनके शुभ नाम संस्था की पाल को थिर बनाकर (थिरपाल) तथा सत्य की फतह (फतह) अपने आप सार्थकता से अलंकृत हो गये।

जब स्वामीजी को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब लोग समझेंगे और मार्ग चलेगा तब उन्होंने एक सर्वाङ्ग सुन्दर व स्थिर विधान बनाया, जिसके आधार पर सारी

संस्था का निर्माण हुआ। ये अव्वल दर्जे के अनुशासनप्रिय व आचारप्रिय थे। अनुशासनहीनता व आचारहीनता के कट्टर विरोधी व कट्टर आलोचक थे। वे इसलिये प्रतिपल सचेष्ट व सतर्क रहा करते थे। अपने शिष्यों में उन्हें शिथिलाचार व अनुशासनहीनता कतई सह्य नहीं थी। जब आप अलग हुए थे तब आपके १३ साथी थे मगर अन्त में घटते-घटते ६ रह गये। फिर भी उन्हें कोई भय न था। वे यही चाहते थे कि बाँकी कितने ही रहें किन्तु रहें सब अक्षुण्ण, आचारी मजबूत संयमी तथा अनुशासित। कम या अधिक संख्या की उन्हें चिन्ता न थी, चिन्ता थी उन्हें आचार और अनुशासन की।

उस समय साधुओं की अत्यन्त कमी होने पर भी आप किसीको दीक्षित करने में बड़े सतर्क थे। दीक्षार्थी के वैराग्य की कड़ी परीक्षा व पूरी छानबीन करके पूर्ण भरोसा होने पर ही वे किसी को दीक्षित करते थे। स्वामीजी के विचारों में दीक्षा के लिये जातिविशेष का कोई बन्धन नहीं था। ओसवालों को ही दीक्षा दी जाय ऐसा उनका कहीं उल्लेख नहीं है। "जिण तिणनै मत मूंडज्यो"—यह कहनेका उनका यही तात्पर्य था कि दीक्षा योग्य को ही दी जाय, अयोग्य को नहीं। एक व्यक्ति स्वामीजी के पास आया और बोला—"मुझे दीक्षा लेने का विचार है दीक्षा दीजिये।" स्वामीजी ने उसकी परीक्षा करते हुए पूछा"—जब तुम दीक्षा के लिये माता से पूछोगे और माता रोने लगेगी उस समय तुम्हें रुलाई तो नहीं आयेगी?" यह सुनकर वह बोला—"महाराज, माता को जब रोते देखूंगा तो मुझे रुलाई आ ही जायेगी।" स्वामीजी ने उसे दीक्षा में अयोग्य बताते हुए कहा—"तुम दीक्षा के योग्य नहीं हो, तुम्हारा मन अभी कच्चा और कुटुम्बियों में मोहासक्त है। तुम दीक्षा लेकर क्या निहाल करोगे? जब वर वधू को लेकर ससुराल से विदा होता है; उस समय पीहरवालों को रोते देखकर विरहवश वधू का रोना अस्वाभाविक नहीं, किन्तु उससमय यदि वर भी रोने लगे तो लोग क्या समझेंगे? कितना हास्य होगा? इसी तरह तुम्हें दीक्षा लेते देखकर तुम्हारी माता का रोना अस्वभाविक नहीं, किन्तु तुम्हारा रोना सर्वथा अनुपयुक्त है। तुम कायर हो, बच्चे हो, मैं तुम्हें दीक्षा नहीं दूँगा।"

पहले कई वर्षों तक स्वामीजी के तीन ही तीर्थ रहे। साध्वियाँ तब नहीं थीं। किसी ने आक्षेप करते हुए कहा—'स्वामीजी आपके तो सिर्फ तीन ही तीर्थ हैं। अतः आपका संघ पूर्ण खण्डित नहीं है।" स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया—जो है सो तो पूर्ण शुद्ध और निष्कलंक है न? लड्डू चाहे खण्डित भले ही हो, मगर है बूंदी का, बालू या रेत का नहीं।" वे बड़े गुणग्राही थे।

हर किसी आक्षेप या दुर्वचन से उनकी बुद्धि इस प्रकार गुण ग्रहण करती थी कि विचार करनेवाला अपने आप शर्मिन्दा रह जाता था।

जब स्वामीजी रूघनाथजी से अलग हुए तो रूघनाथजी ने आवेशपूर्वक कहा—"भीखण! देखेंगे, अब तुम कहाँ जीओगे? आगे तुम, पीछे मैं हूँ।" स्वामीजी ने कहा—"आपकी बड़ी मेहरबानी है। पीछे आप और आगे मैं हूँ।" रूघनाथजी ने कहा "तुम क्या समझते हो? तुम जहाँ जाओगे वहाँ तुम्हारे पीछे लोगो को लगवा दूँगा।" स्वामी ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"इससे बढ़कर और आपकी क्या कृपा होगी, लोग सत्य-मार्ग के पीछे चलें तो और चाहिये ही क्या?"

ये प्रसंग किसी पर व्यंग कसने के लिये नहीं कहे गये हैं। इनको कहने का यही तात्पर्य है कि स्वामी कितने गुणग्राही थे।

पहले-पहल तीन बहनें दीक्षा लेने के लिये तैयार हुईं। जिनके नाम थे—कुशलांजी, मट्टूजी और अजबूजी। उन्होंने स्वामीजी से दीक्षा के लिये प्रार्थना की। स्वामीजी ने सैद्धान्तिक परम्परा के अनुसार उन बहनों से कहा—'देखो तुम दीक्षा तो लेना चाहती हो, किन्तु तुम्हें यह मालूम रहे कि अपने संघ में तीन साध्वियों से कम साध्वियाँ नहीं रह सकतीं। ऐसी स्थिति में किसी एक साध्वी का किसी कारण से वियोग होने पर बाकी दो साध्वियों के लिये अनशन के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है। यदि तुममें इतनी हिम्मत और साहस हो तो दीक्षा की बात करना अन्यथा नहीं।" उन बहनों ने भी गजब कर दिया। उनने साहसपूर्वक जवाब दिया—"हमें आपकी बात स्वीकार है। अगर हममें से किसी एक का वियोग हुआ तो शेष अनशन द्वारा अपना बलिदान करने के लिये सदा प्रस्तुत रहेंगी।" स्वामी उन बहनों की दृढ़प्रतिज्ञता देखकर प्रसन्न हो गये। उनको दीक्षा देकर आपने चतुर्थ तीर्थ की स्थापना की। स्वामीजी अपने आदर्शों में कितने मजबूत और स्पष्टवादी थे। यह इस प्रसंग से अपने आप सिद्ध हो जाता है। तीर्थ अपूर्ण था इसका उन्हें कोई विचार नहीं था। दीक्षार्थी बहनों को उन्होंने एक नितांत कटु सत्य से पहले ही सजग व सतर्क कर दिया। उनके जीवन की ये महान विशेषताएँ थीं।

स्वामीजी की बुद्धि युक्ति-प्रधान थी। इतनी सरल और व्यावहारिक युक्तियों का प्रयोग करते थे कि जिसको एक साधारण से साधारण बुद्धिवाला भी तत्काल समझ लेता था। एक समय आपके साधु गाँव में जल लेने के लिए गये। गाँव में एक घर के अतिरिक्त और कहीं पका हुआ जल नहीं मिला। जिस घर में जल था उस घरकी बहन साधुओं के बहुत समझाने पर भी उस धोवन को देने के लिये राजी न हुई। स्वामीजी को इस बात की खबर होनेपर वे साधुओं के साथ उस बहन के घर पर गये और कहा—"बहन तुम्हारे यहाँ धोवन पड़ा है, वह साधुओं को क्यों नहीं देती हो?" उसने कहा—"महाराज! और जल है वह ले लो, यह धोवन तो मैं आपको नहीं दूँगी।"

स्वामीजी ने कहा "कच्चा जल हमारे काममें नहीं आ सकता। हमें तो वही चाहिये। आखिर इसे न देने का क्या कारण है?" उसने कहा "महाराज, मैंने सुना है कि जैसा यहाँ दिया जाता है वैसा ही आगे मिलता है; इसलिये यह सच है कि मुझसे पका हुआ जल दिया नहीं जाता। आप क्षमा करें।" स्वामी जी ने मन में विचारा यह तो ऐसे माननेवाली नहीं है। इसको तो किसी तरकीब से समझाना चाहिये। स्वामीजी ने कहा—"बहन तुम्हारे गाय-भैंसे हैं, उन्हें तुम क्या खिलाती हो?" उसने कहा घास, चारा, फूस कुट्टी आदि। स्वामी जी ने फिर पूछा "अच्छा उसके बदले में तुम्हें क्या मिलता है?" उसने कहा—दूध-दही-घी-मक्खन आदि। स्वामीजी ने तत्काल उसके दिमाग पर चोट करते हुए कहा—"बहन! हम ही ऐसे क्या हैं, जो हमको धोवन देने से तुम्हें धोवन ही मिलेगा।" बहन विस्मृत रह गई उसने कहा, "महाराज, आप तो बड़े बुद्धिमान हैं! आपने मेरी आँखें खोल दीं। लो, ले जाओ यह पड़ा हुआ धोवन।" स्वामीजी की इस महान् कला को देखकर साधु चकित रह गये। उन्होंने स्वामीजी का इशारा पाकर तत्काल पात्र भर लिये। जहाँ एक ओर गर्मी के मौसम में जल दुर्लभ हो रहा था, दूसरी ओर एक बहन अन्धश्रद्धा में जकड़ी हुई थी, वहाँ स्वामीजी की दिव्यबुद्धि से एक ओर जल सुलभ हुआ तो दूसरी ओर बहन भी अन्धश्रद्धा से विमुक्त हुई।

स्वामीजी के हृदय से शास्त्र-मन्थनपूर्वक जो सच्ची आवाज निकलती, उसमें आप मेरु की तरह अविचल रहते। किसी डर या भय से उनको बदलने का वे सपने में भी विचार नहीं करते। आपने एक पद्य रचा है—

> छ लेश्या हूंती जद वीर मैं जी हूंता आठूं ही कर्म।
> छद्मस्थ चूक्या तिण समेजी मूरख थापै धर्म॥

इस पद्य को देखकर आपके पट्टरजी स्वामी ने प्रार्थना की—"गुरुदेव यह पद्य कुछ कड़ा है। विरोधी लोग इसको देखकर नाच उठेंगे। स्वामीजी कहा—"कड़ा तो ठीक मगर सत्य है या नहीं?" भारमल स्वामी ने कहा—"देव सत्य होने में कोई शंका नहीं, किन्तु है कटुसत्य।" स्वामीजी ने निर्भीकतापूर्वक कहा—"सत्य है तो कोई भय नहीं, फिर चाहे कितना ही कड़ा क्यों न हो, चाहे कितना ही कटु सत्य क्यों न हो। अब बात रही नाचनेवालों की, उनकी मुझे परवाह नहीं है। उनसे भय और संकोच करना कभी मैंने सपने में भी सीखा नहीं है।"

स्वामीजी जिस बात को और जिस आचरण को सिद्धान्त के विपरीत देखते, उस समय उनकी आत्मा में एक तूफानी प्रेरणा उठती। वे जगे हुए शेर की तरह दहाड़ मार कर उठ खड़े होते और उसपर क्रूर प्रहार करने से न चूकते। शिथिलाचार को विरुद्ध

उनकी तूफानी क्रान्ति अपनी शानी नहीं रखती। देखिये ये पद्य जहाँ तात्कालिक स्थिति का रहस्योद्घाटन करते हैं वहाँ शिथिलाचार के प्रति भी परम अग्नि-वर्षा करते प्रतीत होते हैं।

"वैराग घरियो ने भेष बधियों, हथ्यांरो भार गधां लदियो,
गधा थाकां न बोझ दियो डालो एहवा भेषधारी पंचम कालो,
"खाय पीय सुखे सूइ रहै ढीलां बण रह्या लूंठा
गोचरी विहार करे जरों जाने रावला कोतल छूटा"
बिन अंकुश जिम हाथी चालै घोड़ो बिना लगाम जी
एहवी चाल कुंगुरांरी जाणो कहिवा न साधु नाम जी"

शिथिलाचारियों से उनको कभी नहीं पट सकती थी। उन्होंने खुल्लमखुल्ला शिथिलाचार का विरोध किया, उन्होंने स्पष्टतापूर्वक कहा—जो दुष्षमकाल की ओट लेकर शिथिलाचार का प्रचार व समर्थन करते हैं, वे साधु नहीं कहला सकते। वे ढोंगी और पाखण्डी हैं।

स्वामीजी दूरदर्शी महापुरुष थे। उनकी प्रत्येक क्रिया में कुछ न कुछ रहस्य छिपा रहता था। ७० की वृद्धावस्था होनेपर भी वे खड़े-खड़े प्रतिक्रमण किया करते थे। किसी श्रावक ने आपसे सानुनय कहा—"स्वामी जी ! आपकी अवस्था काफी हो गई है, अतः अब आप बैठे-बैठे प्रतिक्रमण किया करें।" स्वामजी ने तत्काल उत्तर दिया "तुम समझते नहीं हो ; मैं यदि खड़ा-खड़ा प्रतिक्रमण करता हूँ तो बाद में होनेवाले साधु बैठे-बैठे तो करेंगे। यदि मैं बैठे बैठे करने लगूं तो कहीं वे लेटे-लेटे न करने लगें।"

आखिर स्वामीजी सियारी में पधारे, जहाँ उन्होंने अनशन ग्रहण कर इस पार्थिव शरीर का परित्याग किया। अन्तिम समय में एक बहुत ही आश्चर्यजनक घटना घटी जो उनके अवधि-ज्ञान पैदा होनेका उत्कृष्ट प्रमाण था।

स्वामीजी ने कहा—साधु और साध्वियाँ आ रही हैं। उनके सामने जाओ। कुछ लोगों ने समझा—स्वामीजी का ध्यान साधु-साध्वियों में लगा हुआ है—इसीलिये ऐसा वे कह रहे हैं वरना चौमास में साधु-साध्वियों के आने का प्रसंग ही कैसे बन सकता है ? कुछ ही समय बाद सबने देखा; दो साधु आ रहे हैं और उनके आने के कुछ समय बाद तीन साध्वियाँ आ रही हैं जो तृषा से अत्यन्त व्याकुल हैं। सबके आश्चर्य की सीमा न रही। जीवन के मन्थन से स्वामीजी को जो सार मिला वह उनकी सतत् साधना और महान् तपश्चर्या के अनुरूप ही था।

अन्त में मैं यही कहूँगा कि स्वामीजी ने इस युग में जन्म लेकर संसार का महान् उपकार किया। उन्होंने तिमिराच्छन्न दिशाओं में ऐसा प्रकाशपुंज फैलाया जिसकी

स्फटिकोज्ज्वल ज्योति युगानुयुग इस संसार का पथ-प्रदर्शन करती रहेगी। संक्षेप में यही कहना है कि एक धार्मिक महापुरुष के नाते अनेक आवरण में छिपे धर्म के विशुद्ध व वास्तविक स्वरूप को जनता के सामने उन्होंने उपस्थित किया। उन्होंने बताया—धर्म में पूँजी का कोई स्थान नहीं। जब-जब धर्म का ग्रन्थिबन्ध पूँजी से होता है तब-तब धर्म अपने विशुद्ध स्थान से नीचे खिसक जाता है। खिसकते-खिसकते वह ऐसी डाँवाडोल स्थिति में पहुँच जाता है कि जिससे उसे अफीम कहकर उसपर कटाक्षभरी आवाज कसी जाने लगती हैं। यह बेजा नहीं था क्योंकि तथाकथित धर्म केवल धर्म का जामा पहने हुए था। वस्तुतः वह धर्म नहीं था। स्वामीजी ने धर्म की व्याख्या करते हुए बताया—धर्म आत्मशुद्धि के साधनों का नाम है। धर्म आत्म-मार्जन, चारित्र-शुद्धि, सदाचार, शील, और आत्मनियंत्रण में है। धर्म का जातिवाद, वर्गवाद, और यथार्थवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। उसपर उसका समान अधिकार है जो धर्म कलह, संघर्ष, विग्रह और वैषम्य फैलाता है, वह धर्म नहीं बल्कि धर्म के नाम पर कलंक है। इस तरह स्वामीजी ने वास्तविक धर्म का जन-जन में प्रसार करते हुए अपने जीवन का बलिदान किया।

आज एक बार पुनः हम उस महापुरुष को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

जोधपुर,
(भिक्षु चरम जयन्ती महोत्सव)

१३७ : विरोध और प्रतिकार

दुनियाँ अर्थ को सब कुछ समझ बैठी है। आर्थिक समस्या को प्रमुखता देना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। पर अर्थ साध्य नहीं, साधन है। गृहस्थ का कार्य अर्थ के बिना नहीं चल सकता फिर उसके लिए चारित्र मुख्य होना चाहिए। वास्तव में देखा जाय तो चारित्र ही मूल सम्पत्ति है; अर्थ संचय नहीं। यदि संचय के लिए ही अर्थोपार्जन किया जाता है तो उससे कोई लाभ नहीं, वह अनुपयोगी है।

हमारा मैत्री-भाव सबके साथ बना रहे, इसके लिए प्रयत्न चालू है। हम किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप न तो करते हैं और न हमारी ओर से किसी आक्षेप का प्रतिकार करने के लिए पर्चे आदि ही निकाले जाते हैं। अग्नि में लकड़ी न डालना उसे बुझाने का अच्छा प्रयास है। ठीक इसी तरह विरोध का प्रतिकार न करना विरोध को मिटाने का एक सक्रिय प्रयास है। हाँ, कभी-कभी सौहार्द्रपूर्ण वार्तालाप का भी पर्चे आदि के द्वारा विकृत रूप सामने आता है तो एक दफा ऐसा विचार आता है कि ऐसे वार्तालाप से दूर रहना ही ठीक है।

जोधपुर, (अणुव्रत सेमिनार)
१६ अक्तूबर, '५३

१३८ : साहित्य में नैतिकता का स्थान

इन दिनों हर उपस्थित व्यक्ति को अणुव्रत से प्रेरणा मिलती रही है। आत्म-निर्माण के कार्य में मानव-मानव को भाग लेना चाहिए और आशा है लेते भी रहेंगे। चाहे वे किसी वर्ग, किसी वर्ण और किसी जाति के हों।

कवि अपनी काव्य-शक्ति से जन-मानस में नैतिकता की लहर दौड़ाकर सहयोग दें। वे अपनी शक्ति का जादू जन-जन पर डालें। साहित्यकार अपने साहित्य में नैतिकता को स्थान दें। सन्तों, आचार्यों और महन्तों को भी आज मन्दिरों, मठों और अन्य स्थानों में बैठे रहने का समय नहीं। आजका मानव दुःखी है। वह राहत चाहता है। उसका मार्ग-दर्शन किया जाना चाहिए। उसके लिए चरित्र-निर्माण की प्रेरणा से भरी वाणी की आवश्यकता है। आज नुक्ताचीनी की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है मानव में मानवता भरने की।

आज दुनियाँ पर स्वार्थों के काले बादल छाए हुए हैं। ऐसे समय में परमार्थ पथ पर चलने की आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन ही उन काले बादलों को हटाने में सहायक होगा।

मैं केवल बातें करना नहीं चाहता, कुछ कर दिखाना चाहता हूँ। यदि जनता का नैतिक सहयोग रहा तो कर दिखाऊँगा। मुझे इसमें कोई संशय नहीं लगता।

कवि भी इस नैतिकता के प्रसार में अपनी शक्ति का सदुपयोग करेंगे—ऐसी आशा है।

जोधपुर,
१७ अक्तूबर, '५१

१३९ : भारतीय संस्कृति और दीक्षा

भारतीय संस्कृति में दीक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। बड़े-बड़े सम्राट, राजे-महाराजे, अपनी सारी राज्य-सम्पत्ति को ठुकराकर सन्यासी बन जाते थे। इसके अनेक उदाहरण अतीत के इतिहास में मिलते हैं। आज के इस युग में वही दृश्य आपलोगों के समक्ष साकार होने जा रहा है।

आज का भौतिकवादी मानव परिग्रह का दास बनता जा रहा है। उसका जीवन विलासिता में खपता जा रहा है। वह हिंसा से खेल खेलता है। झूठ और भ्रष्टाचार

दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। नेताओं और कार्यकर्ताओं की आवाज का असर लोगों पर नहीं होता। ऐसी हालत में ये (दीक्षार्थी) दुर्गुणों से दूर रह कर अपने जीवन में सात्त्विकता का संचार करेंगे।

मैं मानता हूँ तेरापंथ को लेकर कुछ नई-नई भ्रांतियाँ लोगों में फैलाई गई हैं। किन्तु इसका मुझे तनिक भी खेद नहीं है। विरोध का प्रतिकार वापिस विरोध करना नहीं, प्रत्युत् उसे सहते चले जाना है। मैंने अभी-अभी देखा सड़कों पर पोस्टर चिपके थे जिनपर लिखे थे—तेरापन्थ की भीषण मान्यताएँ—यह पाप, वह पाप आदि-आदि। मैं सोचता हूँ, व्यक्ति को अपने ही विचारों का प्रसार करने का अधिकार है। किसी अन्य के विचारों का विकृत रूप बनाकर जन-मानस में उनके प्रति घृणा के भाव भरना अनधिकार चेष्टा है, पाप है। फिर भी ऐसा किया गया है तो अपनी मान्यताओं को भी आपके सामने रख देना ठीक रहेगा। हमारी मान्यताएँ ये हैं :

(१) प्राणी, प्राणी के प्रति बन्धु-भाव रखे। कोई किसी को न सताये।

(२) किसी का भी बुरा चिन्तन करना महापाप है।

(३) किसी का शोषण करना महापाप है। किसी के अधिकारों का हनन करना महापाप है।

(४) किसी को भिखारी समझना महापाप है। व्यक्ति को यह अधिकार नहीं कि किसी को वह महान् समझे और किसी को नीच।

(५) किसी से वैमनस्य मत रखो। माता, पिता और गुरु का विनय तो क्या किसी के साथ बुरा व्यवहार मत करो। यही नहीं यदि आपके कारण कोई व्यक्ति भूखा मरता है, दुःख पाता है तो उस पाप के भागी आप ही हैं।

लोग कहेंगे—फिर क्यों न आप भी इन्हें छपवा देते हैं। माफ करिये—हममें इस तरह पर्चेबाजी की गन्दी नीति अख्तियार करने की शक्ति नहीं है! आज तक न तो हमने ऐसा किया ही है और न करेंगे ही। हाँ, जिस किसी व्यक्ति को कुछ जानना हो, शंका हो, तो अभी कार्त्तिक मास तक तो मैं यहाँ जोधपुर में ही हूँ। बिना किसी पर आक्षेप किये, बताऊँगा। हमा हर समय आपके शंका-निवारण के लिए स्वतंत्र हैं।

जोधपुर,
(रेलवे इन्स्टीट्यूट)
१८ अक्तूबर, '५३

१४० : प्रभावशाली प्रयास

आज जिन अणुव्रती भाई-बहनों ने त्याग की आदर्श परम्परा को स्वीकार किया है, वह कोई नई परम्परा नहीं है। भारतीय संस्कृति की यह मौलिक परम्परा प्राचीन काल से मानव-जीवन का एक विशिष्ट अंग बनकर रहती आई है। भारतीय संस्कृति के उपासक व प्रसारक ऋषि-मुनियों ने इस परम्परा का सर्जन किया ; जिसका इतिहास अतीत काल की शृंखला में अत्यन्त सुन्दर रहा है। प्रसन्नता की बात है—आज भी साधु-सन्तों के अतिरिक्त अपने गृह-जीवन की मर्यादा में रहनेवाले कुछ ऐसे भाई-बहन संसार के सामने आये हैं जिन्होंने उस त्यागप्रधान-परम्परा को अपने जीवन में जाग्रत कर आज के इस भौतिकवादी युग के सन्मुख एक प्रभावशाली चुनौती प्रस्तुत की है। पुराने महर्षि कह गये हैं—

अप्पा हु खलु सययं रक्खिअव्वो।
सव्विन्दिएहिं सुसमाइएहिं॥
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ।
सुरक्खिओ सव्व दुहाण मुच्चई॥

अर्थात् सभी इन्द्रियों पर काबू में कर आत्मा की असद्प्रवृत्तियों से उसकी रक्षा हर पल करनी चाहिये। जो आत्मा सुरक्षित नहीं होती वह विभिन्न योनियों में अनेक प्रकार के कष्टों को भोगती हुई संसार में भटकती रहती है और जो आत्मा सुरक्षित होती है वह सब दुःखों से सहजतया छुटकारा पा लेती है। आत्म-नियन्त्रण का यह उपदेश भारतीय ऋषियों की वाणी का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। एक जगह पर कहा गया है—

न तं अरि कण्ठछेत्ता करेइ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा॥
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते।
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥

अर्थात् जितना अपकार यह अन्तरात्मा करती है उतना अपकार एक-एक कंठ छेदनवाला शत्रु नहीं करता। उस दुराचारिणी आत्मा को पहले अपने दुराचरणों का ध्यान नहीं रहता परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचती है तब अपने दुराचरणों को याद कर पश्चाताप करती है। यही बात भगवद्गीता में इन शब्दोंमें कही गयी है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्॥

अर्थात् आत्मा का मित्र आत्मा ही है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु। ऐसी स्थिति में हे आत्मन्! तेरा कल्याण इसी बात में है कि अगर तुझे आत्मोद्धार करना है, तो तू

आत्मा को अनियन्त्रित छोड़कर दुर्गुणों के प्रवाह में कभी न बहने दे। मुझे खुशी है कि आज अणुव्रतियों ने कुछ अंशों में आत्मनियन्त्रण को अपनाकर ऋषिवाणी को सही समझने का सफल प्रयास किया है।

वास्तव में अणुव्रती वे ही बन सकते हैं, जिनकी निष्ठा अहिंसा आदि सदाचारमूलक वृत्तियों में होती है। अणुव्रत-योजना में अहिंसा आदि के प्रति श्रद्धा को गहरा स्थान दिया गया है। यह योजना मानव-जीवन की एक मर्यादा, एक मानदण्ड है। 'मानव कौन ?' वही जो अणुव्रती है। अणुव्रतों का स्तर उस सीमा को छूनेवाला है जिससे बाहर रहनेवाला व्यक्ति सही अर्थ में मानव और नागरिक नहीं कहला सकता। अणुव्रत के साथ जो 'आन्दोलन' शब्द जोड़ा गया है उसका तात्पर्य यही है कि उसके द्वारा जन-जन में प्रेरणा, स्फूर्ति और उत्साह जाग्रत किया जाय। यह इसलिये कि आज लोगों के जीवन में इन चीजों का बहुत बड़ा अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। मैं चाहता हूँ—अणुव्रतियों, यानी नैतिक व्यक्तियों को हर तरह से बल प्रदान किया जाय। नैतिक व्यक्तियों का संगठन जितना बलवान होगा, उतना ही समाज, देश और राष्ट्र का नैतिक स्तर उन्नत और संस्कारित बनेगा। इसलिये मैं सबसे आह्वान करूँगा कि वे इसे अपने आपका आन्दोलन समझकर आगे बढ़ाने के लिए पूरा-पूरा सहयोग प्रदान करें। यह नैतिक आजादी की लड़ाई है और इसमें सक्रिय भाग लेकर इसे सफल बनाना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य है। इस लड़ाई में बलिदान चाहिए, किन्तु वह मनुष्यों का नहीं, बल्कि मनुष्य के दुर्गुणों का, बुराइयों का और स्वार्थी प्रवृत्तियों का।

अब मैं दो शब्द अणुव्रती भाई-बहनों से भी कहना चाहूँगा। आपलोगों ने जिस कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलना स्वीकार किया है, यह कोई कम बात नहीं है। मगर मैं चाहता हूँ आपलोगों का जीवन भी उस मार्ग के अनुरूप ही बने। अणुव्रतियों के लिये यह आवश्यक है कि उनका जीवन सादा और सरल हो। उन्हें देखने मात्र से यह पता चल जाय कि ये अणुव्रती हैं। उनको पहचानने के लिये न कोई तगमा बना हुआ है और न कोई लेबल। उनके जीवन की क्रियाएँ ही ऐसी होनी चाहिये जिन्हें देखने मात्र से उनके व्रतीपन की पहचान हो जायँ। वे अब अपने जीवन के पुराने रोब, शान-शौकत और विलास को भूल जायँ। उनका जीवन अब दूसरी तरह का जीवन है। वे पुराने जीवन को बदल कर नये जीवन में अपने आपको ढालने का प्रयास करें। एक साथ दो घोड़ों पर सवारी नहीं की जा सकती। अनावश्यक धन से मोह भी नहीं हटाया जाता और व्रती भी बनना चाहते हैं, अन्याय और अत्याचार से पिण्ड भी नहीं छुड़ाया जाता और व्रती का यश भी लूटना चाहते हैं, यह कभी नहीं होगा। दो घोड़ों पर एक साथ सवारी करना कभी सम्भव नहीं। हालांकि मैं यह मानता हूँ कि जो अणुव्रती बने हैं, वे गृहस्थ हैं। उनके सामने आजीविका का प्रश्न है। उनका काम भिक्षा से

चल नहीं चल सकता। फिर भी वे शोषण के द्वारा धन पैदा न करें। अपनी व्यवस्था व अपने नियमों का उल्लंघन कर वे किसी भी अनैतिक काम में अग्रसर न हों। उनके जीवन में सत्य का आग्रह होना चाहिए। उनके अड़ोस-पड़ोस का वातावरण शुद्ध होना चाहिये। जब उनके जीवन में ये सब बातें निखर उठेंगी तब वे औरों के पथ-प्रदर्शक और तारक बनेंगे। केवल आकाश में दीखनेवाले तारक ही नहीं बल्कि जन-जीवन को तारने वाले पथदर्शी बनेंगे। कष्टों का आना कोई बड़ी बात नहीं। कष्टों को अणुव्रती विवेक पूर्वक झेलें। उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि हमपर कोई कष्ट आये ही नहीं, वरन् उन्हें यह सोचना चाहिये कि अगर कष्ट आये तो हम उन्हें दृढ़तापूर्वक झेलें। मजबूती रखें न कि कायरता का परिचय दें। भगवान हममें वह शक्ति भरे कि हम आनेवाली मुसीबतों को कुचलते हुए दृढ़ निष्ठा के साथ अपने नियमों को निभाते हुए आगे बढ़ें। आप सायंकालीन प्रार्थना-पद्य को याद करें—

दृढ़निष्ठा, नियम निभाने में
　　हों प्राण बली प्रण पाने में।
मजबूत मनोबल हो ऐसा
　　कायरता कभी न लाएँ हम ॥

अस्तु। इस भावना को लेकर अणुव्रती निष्ठापूर्वक आगे बढ़ें। उन्हें हरपल आत्म-चिन्तन और आत्मालोचन में व्यतीत करना चाहिये। प्रतिक्षण यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं नियमों में भंग तो नहीं लग रहा है। उनकी निगरानी के लिये उनके पीछे न तो कोई सिपाही और सी० आई० डी० आयेंगे और न मैं या कोई साधु-साध्वी ही। उनकी अपनी आत्मा-सत्यता ही उनके साथ रहेगी। उन्हें अपने पर नियन्त्रण रखना होगा। उनकी निगरानी के लिये उनकी आत्मा ही सी० आई० डी०, सिपाही, कोतवाल या संरक्षक हैं। वे हृदय की दृढ़निष्ठा और मजबूत आत्मबल के साथ अपनी मर्यादा को समझदारी से पालते हुए आगे बढ़ते जायें तथा औरों के लिये एक प्रभावशाली प्रेरणा जन-जन के सन्मुख प्रस्तुत करें।

एक बार मैं पुनः समस्त अणुव्रतियों को अपने समूचे आत्मबल के साथ इस बात के लिये बल देता हूँ कि वे इस चारित्र-निर्माण की पावन-पुनीत जल धारा को अपने जीवन के पुण्य-क्षण समर्पित कर अग्रसर होनेका एक प्रभावशाली प्रयास करें।

जोधपुर,
(दीक्षान्त समारोह)
१८ अक्तूबर, '५३

१४१ : मुक्ति और वेशभूषा

मुक्ति प्राप्त करने में वेशभूषा बाधक नहीं। वेश चाहे साधु का हो या गृहस्थ का वास्तविकता तो यह है कि अन्तरात्मा में साधुत्व आना चाहिए। कोई मनुष्य यह सोचकर कि गृहस्थाश्रम में मुक्ति होती ही नहीं, साधना न करे, धर्म क्रिया न करे तो यह उसकी निरी मूर्खता है। आत्मविकास और साधना के लिए तो हर पल उपयुक्त है। गृहस्थ के लिए भी साधना-पथ और आत्म-उज्ज्वलता के द्वार उसी तरहसे खुले हुए हैं, जिस तरहसे साधु साध्वियों के लिये। वह अपनी आत्मा को साधना-पथ में तपाकर कर्म मल को भस्मीभूत कर दे।

जोधपुर,
(प्रातःकालीन प्रवचन)
२६, अक्तूबर, '५३

१४२ : जीवन-निर्माण के पथ पर

धर्म उत्कृष्ट मङ्गल है। वह आत्म शुद्धि का मार्ग है। जन-निर्माण का साधन है। आज हमें सोचना है कि यह राष्ट्र-निर्माण में कहाँ तक सहायक हो सकता है। जैसा कि आज मानव समझने लगा है। राष्ट्र-निर्माण का अर्थ है—एक राष्ट्र अपनी सीमा को बढ़ाता हुआ उसे असीम बना ले। अन्यान्य शक्तियों और राष्ट्रों को कुचल कर उनपर अपना सिक्का जमा ले। उन्हें अधिकृत कर ले। नये-नये विध्वंसक शस्त्रों द्वारा दुनियाँ में अशान्ति और तबाही मचा दे। पर मैं कहूँगा यह राष्ट्र-निर्माण नहीं, विध्वंस है, विनाश है। इसमें धर्म कभी भी सहायक हो नहीं सकता। धर्म राष्ट्र के बाह्य कलेवर का नहीं वरन् आत्मा का परिशोधक है। वह राष्ट्र में फैली हुई बुराइयों को जन-जन से हृदय-परिवर्तन के सहारे मिटाता है। धर्म से मेरा मकसद किसी सम्प्रदाय विशेष के लिये न होकर, अहिंसा, सत्य शुद्ध आचार, जैसे शाश्वत सिद्धान्तों से है, जिनके द्वारा जन-जन का जीवन-पथ अग्रसारित होता है।

धर्म और राजनीति एक नहीं है। जहाँ इन दोनों को एक कर दिया जाता है, वहाँ धर्म, धर्म नहीं रहकर स्वार्थ-सिद्धि का एक जरिया बन जाता है। जहाँ धर्म का राजनीति से गठबन्धन कर लोगों पर थोपा गया, वहाँ रक्तपात और हिंसा ने समूचे राष्ट्र में तबाही मचा दी। क्या लोग भूल जाते हैं—'इस्लाम खतरे में है'—जैसे नारों

से क्या परिणाम हुआ ? ध्यान रहे धर्म कभी खतरे में हो ही नहीं सकता। धर्म को खतरे में बतानेवाले भूलते हैं कि ऐसा करके वे कितना पाप और अन्यान्य करते हैं। धर्म और राजनीति दोनों अलग-अलग हैं, वे घुल-मिल नहीं सकते। हाँ ! इतना अवश्य है कि राजनीति अपने विशुद्धिकरण के लिए धर्म से प्रेरणा लेती रहे। फिर राजनीति में अन्यान्य शोषण, ज्यादती, बेईमानी और धोखेबाजी जैसे दानवीय गुण नहीं रहेंगे। वही राजनीति संसार को शान्ति की ओर बढ़ानेवाली होगी।

भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। कई लोग इस पर बड़ी आलोचना करते हैं और धर्म निरपेक्ष का अर्थ अधार्मिक लगाते हैं। परन्तु जैसा कि मैंने विधान विदों से सुना—इसका अर्थ अधार्मिक नहीं वरन् इसका अभिप्राय है, किसी भी धर्म विशेष को कोई विशेष अधिकार नहीं होकर सब धर्मों को समान अधिकार है। भारत जैसे विशाल और सैकड़ों धर्मवाले देश के लिए किसी धर्म विशेष की राष्ट्र पर छाप होना कभी उचित नहीं। अस्तु। अन्त में मेरा यही कहना है कि किसी भी राष्ट्र के अन्दर रहने वाले नागरिक धर्म के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाकर जीवन-निर्माण के पथ पर आगे बढ़ें। ये व्यापक सिद्धान्त व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को सुधार कर एक बहुत बड़ी देन देते हैं।

जोधपुर,
(विचार-गोष्ठी)
२७ अक्तूबर, '५३

१४३ : संस्कृति और संस्कृत

संस्कृत का केवल इसलिये महत्त्व नहीं कि वह हमारे देश की प्राचीन भाषा है, वरन् उसका महत्त्व इसलिए है कि वह भारत के सांस्कृतिक जीवन का एक जीवित प्रतीक है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है। जिस राष्ट्र ने अपनी संस्कृति को भुला दिया है, वह राष्ट्र वास्तव में एक जीवित और जाग्रत राष्ट्र नहीं है। भारतीय संस्कृति आज भी जैसी अवस्था में जीवित है, उसका बहुत कुछ श्रेय संस्कृत वाङ्मय को है। तपस्वी साहित्यकारों ने अपनी कठोर साधना व दीर्घ तपस्या के सहारे जिन सत्यों का साक्षात्कार किया वे संस्कृतवाङ्मय में आज भी अमूल्य रत्नों के रूप में सुरक्षित हैं। संस्कृत वाङ्मय जो अपनी मौलिकता, भावगाम्भीर्य, पद सौकुमार्य, गतिलावण्य, व्यंजना, सहज अलंकारिकता प्रभृति गुणों से विभूषित है। यह विश्व इतिहास में अपना अनुपम स्थान रखता है।

संस्कृत संस्कारवान् भाषा है। संस्कारवान् मानव के लिए यह संस्कारिकता की प्रेरणादायिनी है। संस्कारिकता का भारतीय दृष्टि में सदा से महत्त्व रहा है। यहाँ प्रागैतिहासिक काल से सदा त्यागी और संयमी मनुष्य ही पूजे जाते रहे हैं, भोगी और समृद्धिशाली नहीं। क्योंकि संयमी संस्कारवान् होता है और भोगी संस्कारहीन। विश्व ने बापू को इसलिये पूज्य माना क्योंकि वे एक संस्कारवान् और दिव्य पुरुष थे। उनका जीवन सत् संस्कारों से मँजा हुआ था। वे संयम और त्याग को बल देनेवाले एक सुचेता थे। संस्कृत असत् संस्कारों की ओर ले जानेवाली भाषा है।

हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं जबकि हमारे देशमें प्राचीन काल की तरह सभी मानव, सभी वर्गवाले संस्कृत को मातृभाषा की तरह अपनाकर सब संस्कृत में ही बोलने लगेंगे।

जोधपुर,

१४४ : जैन-दीक्षा का महत्त्व

आज आपलोगों के सामने एक आध्यात्मिक समारोह होने जा रहा है जिसमें सात व्यक्ति संसार के समस्त भौतिक बंधनों को तिलांजलि देकर, मुक्त होकर, अपने जीवन को, अपनी जीवन-चर्या को आध्यात्मिक बनाने के लिए उत्सुक हैं।

दीक्षा में जैन-दीक्षा का अपना महत्त्व है। जैन-दीक्षा में भी तेरापंथ की दीक्षा अपना विशेष महत्त्व रखती है। दीक्षित होनेवाले अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को पूर्ण रूपेण जीवन में उतारते हैं—आत्मसाक्षी से इन्हें अपनाकर इस भौतिकवादी युग में कदम बढ़ाते हैं। अब थोड़ी देर में इनका भी जीवन बदलनेवाला है और उसके बाद इन्हें सवारी आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। कहीं भी जाएँगे तो इनकी सवारी हाथ-पैर ही रहेगी। एक सिपाही जिस प्रकार अपना सारा समान कंधे पर लाद कर चलता है, ये भी उसी प्रकार अपने पुस्तक पन्ने व अन्य उपकरण अपने आप लेकर गाँव-गाँव चलेंगे। साधु बनने के बाद उनके न कोई मठ है, न मंदिर न धाम, न कोई स्थल ही; और साधु को इनकी आवश्यकता ही क्या? अगर साधु ही स्थलधारी होगा तो फिर क्या अन्तर रहेगा गृहस्थ और उसमें?

साधु बनने का बाद इनके न कोई नौकर रहेंगे और न सेवक। हरिजन से लेकर अन्य सभी कार्य अपने हाथों से करेंगे।

ये रात्रि-भोजन नहीं करेंगे। चाहे मरणान्त कष्ट ही क्यों न हो, प्राण चले जायँ पर रात्रि में दवा भी न लेंगे। भोजन भी जो इनके लिए तैयार किया जायगा न ले

पाएँगे। मधुकरी वृत्ति से भिक्षा करते हुए कहीं से कुछ, कहीं से कुछ लेकर अपना कार्य चलाएँगे। किसी पर भारभूत नहीं बनेंगे।

जीवन भर झूठ नहीं बोलेंगे। एक तरफ यह कहा जाता है कि आज के जमाने में झूठ बोले बिना काम ही नहीं चलता; वहाँ ये प्रतिज्ञा करेंगे चाहे गर्दन चली जाय पर झूठ नहीं बोलेंगे।

बिना पूछे किसी का एक तिनका भी नहीं लेंगे। ब्रह्मचर्य का पूर्णरूपेण पालन करेंगे। इनके लिए संसार की माताएँ और बहिनें माताएँ और बहिनें रह जाएंगी, भाई और पिता, भाई और पिता के तुल्य रह जायेंगे। ये किसी के प्रति विकार दृष्टि नहीं रखेंगे। जिस धन के लिए बड़े-बड़े व्यक्तियों के दिल डुल जाते हैं; उससे ये धूल के समान समझ कर परे हो जायँगे। आज से नागरिकता के नियम से भी ये परे हो जायँगे। आज जिस मृत्युकर से लोग घबड़ाते हैं इन्हें उसकी कोई परवाह नहीं रहेगी। सरकार शरीर नहीं लेती, पूँजी यहाँ रखी नहीं जाती। इस तरह ये पाँच महाव्रतों का मन, वचन, काया कृतकारित अनुमोदन त्रिकरण त्रियोग से पालन करेंगे।

तेरापंथ की दीक्षा की विशेषता है—दीक्षित होने के बाद व्यक्ति स्वेच्छा से कार्य नहीं कर सकता। उसका सब कुछ गुरु के समक्ष समर्पित हो जाता है। लोग कहेंगे यह तो नादिरशाही हुई। पर यहाँ किसी पर बलात् अनुशासन नहीं किया जाता। गुरु के इंगित पर चलने में सब अपना श्रेय और कल्याण समझते हैं।

तेरापन्थ एक क्रान्तिकारी सम्प्रदाय है। भिक्षु स्वामी ने शिथिलाचार के विरुद्ध सिंहनाद किया। उन्होंने साधु जीवन, धार्मिक जीवन को संगठित किया, एक मर्यादा में मर्यादित किया। उनकी लेखनी से लिखे गये वे सूत्र आज भी ज्यों के त्यों पाले जाते हैं। जिन्हें बनाये २०० वर्ष पूर्ण होने में सिर्फ ६ वर्ष बाकी हैं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—एक गुरु की अखण्ड आज्ञा का सब पालन करो। कोई किसी को अपना शिष्य न बनाओ। सब एक गुरु के शिष्य हैं—

> सकल साधु औ साधवी, वहो एक सुगुरु की आण।
> चेला, चेली आप आपरा, कोई मति करो-करो पचक्खाण॥

यही कारण है आज कोई किसी का चेला नहीं है। सभी एक गुरु के शिष्य हैं। इन्हें न चातुर्मास और न शेषेकाल विचरने का विचारना होता है। जैसा गुरु फरमाते हैं, वही किया जाता है।

जोधपुर,
१ नवम्बर, '५१

१४५ : आलोक और अन्धकार

अहिंसा जीवन का आलोक है, हिंसा जीवन का अन्धकार। स्व-सत्, चित् और आनन्द की अनुभूति ही अहिंसा है। दूसरों की सत्ता, चित्त और आनन्द का अपहरण हिंसा है। मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा स्वतः स्वन्नयन की ओर प्रवृत्त न होकर परतः स्वोन्नयन की ओर प्रवृत्त होती है—यही परस्व के स्वीकरण की वृत्ति हिंसा का बीज है।

जीवन-निर्वाह के साधनों का केन्द्रीकरण हुआ, फलतः शोषण बढ़ा, हिंसा बढ़ी।

पदार्थों का विस्तार हुआ, फलतः परिभोग बढ़ा, लालसाएँ बढ़ीं।

पाशविक शक्ति का विकास हुआ, फलतः महायुद्ध बढ़े, अशान्ति बढ़ी, कठिनाइयाँ बढ़ीं।

विश्वशान्ति के लिये यह अपेक्षा है कि—

१—युद्ध न हो।

२—लालसाएँ सीमित हों।

३—शोषण न हो।

किन्तु इसके विपरीत ही गति मिलती है।

राष्ट्र-उन्नति के लिये केन्द्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिये अधिक परिभोग को और शक्ति सन्तुलन के लिये पाशविक शक्ति को उत्तेजन मिलता है। कारण को जीवित रखकर उसका परिणाम टालना चाहता है—यह वर्तमान युग का विशेष वातावरण है।

रोग का जड़ यह है कि हमारा चिन्तन-बिन्दु चैतन्य नहीं, किन्तु पदार्थ बन रहा है। उन्नति, विकास, सभ्यता और संस्कृति की सारी मर्यादाएँ उसको माध्यम मानकर चलती हैं।

वैज्ञानिक स्थितियों के फलस्वरूप युग में नव-जागरण आया है। हिंसा और संघर्ष के दुष्फलों से उकताकर आज का मनुष्य अहिंसा की ओर मुड़ा है। यहाँ अहिंसावादियों पर एक उत्तरदायित्व आता है। वह यह कि हम उस मोड़ को आगे बढ़ाएँ। अपनी सारी प्रवृत्तियों को अहिंसा में केन्द्रित कर वातावरण को प्रेममय बना डालें।

अहिंसकों को इसके लिये बलिदान करना होगा, त्याग करना होगा—संग्रह का मोह, संग्रह की भित्ति पर टिकनेवाले बड़प्पन का मोह। ज्यों-ज्यों शोषण और संग्रह की भावना टूटेगी त्यों-त्यों प्रेम का वातावरण बढ़ेगा।

हिंसा के पीछे लोक-संग्रह की शक्ति है, अहिंसा के पास वह नहीं। वह केवल प्रेम के बल पर टिकी है और टिकी रहेगी।

अहिंसा ने क्या किया? यह अवसर इसपर उलझने का नहीं है। अहिंसा विशेष प्रचार नहीं पा सकी फिर भी वह अपनी सत्तामात्र से सफल है। यदि ऐसा नहीं होता तो हिंसा के अद्वैत में हमें द्वैत मिलता ही नहीं।

अणुव्रत-आन्दोलन का साध्य है—अहिंसा की मान बढ़े। इसी उद्देश्य से अहिंसा-दिवस मनाने की भावना इससे जुड़ी हुई है। अहिंसा और अशोषण की नींव पर समाज की पुनर्रचना होगी तभी कल्याण होगा। इस पुण्य-अनुष्ठान में अहिंसाकर्मियों का सहयोग सफल बने—मैं यही चाहता हूँ।

जोधपुर,
(*अहिंसा-दिवस*)

१४६ : व्यक्ति बनाम समाज

व्यक्ति का अस्तित्व अपना है और समाज का अस्तित्व व्यक्ति है। व्यक्ति वस्तुवाद है और समाज सुविधावाद। व्यक्ति की आवश्यकता अपने आप पूरी नहीं हुई तब सापेक्ष स्थिति का उद्गम हुआ। सापेक्षता ने समाज को जन्म दिया। समाज का आधार है 'परस्परोग्रह'—'एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के प्रति उपकार' का सिद्धान्त जितना वास्तविक है उतना ही व्यावहारिक है। जैन-दर्शन ने विश्वस्थिति की मौलिक समस्या जड़-चेतन के सम्बन्ध की समस्या को सुलझाने के लिए इसका उपयोग किया। इस दशा में वैदिक दर्शन ने व्यवहार के क्षेत्र में इसका प्रयोग किया। जैन-दर्शन के अनुसार जैसे विश्वसंगठन का हेतु जीव और पुद्गल का परस्पर उपग्रह है वैसे ही वैदिक दर्शन के अनुसार समाज-संगठन का हेतु पारस्परिक सहयोग है। समाज की सहयोगी-व्यवस्था और सापेक्षस्थिति में बँधकर व्यक्ति, व्यक्ति नहीं रहता; वह आदान-प्रदान का केन्द्र बिन्दु बन जाता है।

व्यक्ति, व्यक्ति रहता है तबतक उसके सामने महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये परिग्रह या संग्रह, संग्रह के लिए शोषण या अपहरण, शोषण के लिए बौद्धिक या कायिक शक्ति का विकास, बौद्धिक और दैहिक शक्ति-संग्रह के लिए विद्या की दुरभिसंधि, स्पर्धा आदि-आदि समस्याएँ नहीं होतीं। समाज में प्रवेश पाकर व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपनी दुर्बलता का प्रतिकार पाता है, त्यों-त्यों महत्त्वाकांक्षा और स्पर्धा उसे शक्ति-संग्रह के लिए प्रेरित करने लग जाती है। महत्वाकांक्षा शोषण को जन्म देती है और शोषण

अवस्था को। अव्यवस्था में समाज का ढाँचा डाँवाडोल हो जाता है तब उसकी पुनर्व्यवस्था के लिए दण्डनीति, अनुशासन और न्याय आदि जन्म लेते हैं।

व्यक्ति जीवन में मर्यादाहीनता का प्रश्न नहीं उठता। समाज-जीवन में मर्यादा हीनता आती है किन्तु समाज उसे सहन नहीं कर सकता। इसलिए समाज धर्म-संहिता और दण्ड विधान बनाता है। क्या समाज का प्रत्येक सदस्य उसके अनुसार चलने के लिए बाध्य होता है? समाज की व्यवस्था के लिए समाज-व्रत या समाज-मर्यादा सफल होती है। सफलता की कुंजी है समाज-मर्यादा के पीछे टिकी हुई राज्य-शक्ति। शक्ति से नियन्त्रित व्यक्ति उच्छृंखल नहीं हो सकता।

मनुष्य जाति का ऊर्ध्वमुखी विराट चिन्तन विकसित हुआ। पूर्व जन्म और पुनर्जन्म का तत्त्व उसने समझा। इहलोक की सीमा से परे परलोक को उसने जाना। इस दशा में पहुँचकर फिर वह व्यक्तिवादी बना और इस भूमिका में निरपेक्ष जीवन पद्धति का विकास हुआ। समाज की मर्यादा इस भूमिका में अमर्यादा बन गई। समाज जिस हिंसा को क्षम्य मानता है, वह यहाँ अक्षम्य बन जाती है, समाज जिस संग्रह को न्याय मानता है वह यहाँ अन्याय बन जाता है, समाज जिस भोग-विलास वैध मानता है वह यहाँ अवैध बन जाता है। इस भूमिका में मर्यादा का नया स्रोत चला। उसके नाम हैं व्रत, नियम, यम, शील, शिक्षा या संयम।

कई विचारक ऐसा मानते हैं—धर्म समाज नियम के लिए चला। किन्तु यह सत्य से परे है। धर्म का उद्‌गम आत्मा के अस्तित्व से हुआ। आत्म-शोधन की प्रक्रिया के रूप में उसका विकास हुआ। मोक्ष-प्राप्ति, आत्म-शुद्धि, या आत्म-नियमन के लिए उसका व्यवहार हुआ। मुनि चारित्र-ग्रहण के समय प्रतिज्ञा करता है कि मै आत्म-हित के लिए पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विहार करूँगा। व्रत का साध्य है आत्म-मुक्ति। प्रासंगिक फल के रूप में समाज का नियमन भी होता है किन्तु वह धर्म अनन्तर फल नहीं। ऐहिक और पारलौकिक आत्मसिद्धि के लिए धर्म करना विहित नहीं है। धर्म परलोक के लिए है, यह धारणा भी सदोष है। आत्महित की दृष्टि से वह इहलोक और परलोक दोनों में श्रेयस्कर है।

भारतीय चिन्तन की मुख्यधारा चतुर्थ पुरुषार्थ-मोक्ष की ओर बही। शब्दशास्त्र, प्रमाणशास्त्र का चरम उद्देश्य मोक्ष रहा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं किन्तु कामशास्त्र में भी जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष बतलाया गया है। उपनिषद् में प्रेयस् को बन्धन और श्रेयस् को मुक्ति माना है। प्रेयस् जीवन की अनिवार्यता है फिर भी उसमें अनासक्ति होनी चाहिए। कारण यह कि श्रेयस् की ओर जो गति है उसमें प्रेयस् बाधक न बने। जैन-दृष्टि के अनुसार आत्म-मुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं—संवर और

निर्जरा। संवर निवृत्ति है और निर्जरा निवृत्ति संवलित प्रवृत्ति, संवर निरोध है और निर्जरा शोधन। यह व्यक्ति की सहज मर्यादा है। इससे यह फलित होता है कि धर्म व्यक्ति के आत्मनियमन का साधन है। इसे समाज के आपसी सम्बन्धों के नियमन का साधन बताया जाता है, वह अनात्मवादी मानस की कल्पना है।

भारतीय जीवन में व्रती जीवन का गौरवपूर्ण स्थान है। यहाँ धन, ऐश्वर्य, भोग-विलास और दान से कोई बड़ा नहीं बना। नमिराजर्षि राज्य वैभव और भोग-विलास को ठुकरा कर निर्ग्रन्थ बने। इन्द्र ने उनसे कहा—"आप दान दें, भोग करें और फिर दीक्षा लें।" राजर्षि बोले—"जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायों का दान करता है उसके लिए भी संयमी श्रेष्ठ है यद्यपि संयमी बनने पर वह एक गाय का भी दान नहीं करता।"

भारतीय परम्परा में महान् वह है जो त्यागी है। यहाँ का साहित्य त्याग के आदर्शों का साहित्य है। जीवन के चरम भाग में निर्ग्रन्थ या सन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही किन्तु जीवन के आदि भाग में भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही रही है। त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है। यह निरपवाद संयम-मार्ग है। इसके लिए अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के बीच की स्थिति में होता है वह अणुव्रती बनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है—"भगवन्! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूँ इसलिए मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत-द्वादश व्रतात्मक गृही धर्म स्वीकार करूँगा।" यहाँ शक्ति का अर्थ है विरक्ति। जिसमें संसारके प्रति, पदार्थों के प्रति, भोग-उपभोगों के प्रति, विरक्ति का प्राबल्य होता है वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रहका महान् व्रत उसका जीवन-धर्म बन जाता है। यह वस्तु सबके लिए सम्भव नहीं। व्रत का अणुरूप मध्यम मार्ग है। अव्रती जीवन, शोषण और हिंसा का प्रतीक होता है और महाव्रती जीवन दुःशक्य। इस दशा में अणुव्रती जीवन का विकल्प ही शेष रहता है।

अणुव्रत का विधान व्रतों का सीमाकरण, संयम और असंयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नहीं किन्तु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

अणुव्रत पांच हैं :—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदारसंतोष और अपरिग्रह या इच्छा परिमाण।

अहिंसा—राग द्वेषात्मक प्रवृत्तियों का निरोध या राग द्वेषरहित प्रवृत्ति। पहला

निषेधात्मक पक्ष है और दूसरा विधेयात्मक। निषेधात्मक भावी शुद्धि के लिए है और भूत शुद्धि के विधेयात्मक। वर्तमान शुद्धि दोनों में है।

अनिवार्य हिंसा या अर्थ हिंसा जीवन की अशक्यता का पक्ष है। अनर्थ हिंसा प्रमाद-वश होती है। मनुष्य जितनी कायिक हिंसा नहीं करता उतनी मानसिक हिंसा करता है। स्व-पर, बड़ा-छोटा, अस्पृश्य-स्पृश्य, शत्रु-मित्र आदि अनेक कल्पना के धागों में फँस कर मनुष्य इतना उलझता है कि वह मानसिक हिंसा से सहज मुक्ति नहीं पा सकता। अहिंसा अणुव्रत का तात्पर्य है अनर्थ हिंसा से या आवश्यकता शून्य केवल प्रमाद या अज्ञान जनित हिंसा से बचना।

सत्य—अहिंसा का वचनात्मक या भाव प्रकाशनात्मक पहलू है। हास्य कुतूहलवश अयथार्थ बोलना भी असत्य है। यह उसका सूक्ष्म रूप है। इससे न बच सके तो कम से कम स्थूल असत्य से तो अवश्य बचना चाहिए। जिस वाणी या भावाभिव्यंजना के पीछे बुरे विचारों का जाल बिछा रहता है, वह स्थूल असत्य है। सत्य अणुव्रत में ऐसे असत्य का त्याग आवश्यक होता है।

अचौर्य—अचौर्य अहिंसात्मक अधिकारों की व्याख्या है। पर-वस्तु हरण चौर्य है, हिंसा का अधिकार है। मनुष्य समाज के आपसी सम्बन्ध अधिकांशतया स्तेय वृत्ति के उपजीवी हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, अधिकार में लेता है, दास बनता है, आदेश मानवता है, स्वत्व छीनता है यह सब स्तेय वृत्ति है। सूक्ष्म दृष्टि से दूसरे का एक तिनका भी उसकी अनुमति के बिना लेना स्तेय है। अचौर्य अणुव्रत की मर्यादा है—जीवन के आवश्यक मूल्यों का अपहरण न करना।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकनेकी स्थिति में विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अब्रह्मचर्य का परित्याग करना और पत्नी के साथ भोग की सीमा करना चतुर्थ अणुव्रत है।

अपरिग्रह—अहिंसा का पर-पदार्थ निरपेक्ष रूप है। गृहस्थ का जीवन अपरिग्रही बन नहीं सकता। इसलिए अपरिग्रह अणुव्रत का अर्थ है—इच्छा का परिमाण। परिग्रह का नियंत्रण सामाजिक नियम से हो सकता है किन्तु उससे इच्छा नियन्त्रण के द्वारा परिग्रह का नियंत्रण हो।

व्रतों की उपादेयता में कोई दो मत नहीं। आत्मविरक्ति से स्वनियमन करनेवाले विरले होते हैं। अधिकांश व्यक्ति तब तक हिंसा और परिग्रह को नहीं छोड़ते जब तक वे बाध्य नहीं किये जाते। व्रत हृदय-परिवर्तन का फल है। जन-साधारण का हृदय उपदेशात्मक पद्धति से परिवर्तित नहीं होता इसलिए समाज की दुर्व्यवस्था को बदल ने के लिए व्रतों की कोई उपयोगिता नहीं। लगभग स्थिति ऐसी है। क्यों है, यह

चिन्तनीय है। इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप दो तीन बातें हमारे सामने आती हैं। पहली यह कि व्रतों की रचना समाज की आर्थिक दुर्व्यवस्था मिटाने के लिए नहीं, अपितु आत्मिक दुर्व्यवस्था मिटाने के लिए हुई है। आत्मिक दुर्व्यवस्था मिटते ही आर्थिक दुर्व्यवस्था मिटती है किन्तु व्रताचरण का वह गौण फल है। आत्मिक दुर्व्यवस्था की परिसमाप्ति का एकमात्र साधन हृदय-परिवर्तन है। व्यक्ति का हृदय बदलता है तो उससे आत्मिक दुर्व्यवस्था का अन्त होता है। उससे समाज की दुर्व्यवस्था मिटती है।

कानून के पीछे ऐसी स्थिति है कि मनुष्य उसका उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि करता है तो उसे उसका फल भुगतना पड़ता है। व्रतों के पीछे ऐसा वातावरण नहीं है। उनका आचरण इच्छा प्रेरित है।

दूसरी बात, मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियाँ राग-द्वेषात्मक होती हैं। इनके फलस्वरूप व्यक्ति में अप्रिय वस्तु स्थिति के प्रति असहिष्णु वृत्ति, अपने को सर्वोच्च मानने की वृत्ति, दूसरों को ठगने की वृत्ति और संग्रह की वृत्ति, ये चार मुख्य वृत्तियाँ होती हैं। समाज का वातावरण और आसपास की स्थितियाँ इनके अनुकूल होती हैं तब इन्हें उत्तेजना मिलती है और इनका कार्य तीव्र हो चलता है। बाहरी साधन की प्रतिकूल दशा में ये वृत्तियाँ दबी रहती हैं। समाज की अपेक्षा इतनी ही है कि ये दबी रहें। यह आध्यात्म की भूमिका है। उसकी अपेक्षा है इनका मूलोच्छेद हो। जिनकी आत्मा उद्‌बुद्ध हो जाती है वे परिपार्श्विक स्थितियों पर विजय पाकर उनका मूलोच्छेद कर डालते हैं। किन्तु सर्व साधारण की स्थिति ऐसी नहीं होती। समाज की भोगवादी मनोवृत्ति उन्हें उकसाती है और यही कारण है कि सर्वसाधारण को व्रत-पालन की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। तीसरी बात, व्रत लेनेवाले व्रतों के कलेवर की सुरक्षा करते हैं किन्तु उनकी आत्मा को नहीं छूते। व्रतों को अपने जीवन में लाते हैं किन्तु अपने जीवन को उनके आदर्शों पर नहीं ढालते। इसपर पुनर्विचार करना होगा कि अणुव्रती जीवन का आदर्श क्या और कैसा होना चाहिए?

अणुव्रती जीवन का आदर्श है परिग्रह और आरम्भ का अल्पीकरण। भोगवाद से महारम्भ और महापरिग्रह का जन्म होता है। अणुव्रती को महेच्छ और महारम्भी नहीं होना चाहिए। महारम्भ का हेतु महान् इच्छा है। इच्छा स्वल्प होती है तब हिंसा अपने आप स्वल्प हो जाती है। आरम्भ आवश्यकता के सहारे चलता है तब वह असीम नहीं बनता। उसकी गति इच्छा के अधीन हो जाती है तब वह सीमातीत बनता है। पूँजी और उद्योग का केन्द्रीकरण आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, किन्तु इच्छा की पूर्ति के लिए होता है। अणुव्रती आदर्श के अनुसार इसका अपने आप विकेन्द्रीकरण हो जाता है। अणुव्रती दूसरे के श्रम और श्रमफल को न छीने तभी वह

अहिंसा और अशोषण के आदर्श पर चल सकता है। दूसरे के श्रम को छीनने की वृत्ति जब टूटती है तब अपने आप उसका जीवन आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और श्रमपूर्ण बन जाता है। जो व्यक्ति अपने श्रम पर निर्भर रहता है वह कभी महारम्भी और महापरिग्रही नहीं बनता। महारम्भ महापरिग्रह की परिभाषा समझने में भूल हो रही है। उस पर फिर विचार करने की आवश्यकता है। सामान्यतया थोड़ी बहुत प्रत्यक्ष हिंसा के कार्य को लोग महारम्भ मान लेते हैं। परोक्ष हिंसा की ओर ध्यान नहीं देते। खेती में जीव मरते हैं इसलिए वह आरम्भ का धन्धा लगता है किन्तु कूट-तोल माप में प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दीखती इसलिए वह महारम्भ नहीं लगता। महारम्भ और महापरिग्रह नरक के कारण हैं। कारण साफ है कि उनसे आर्त रौद्र ध्यान बढ़ता है। उससे आत्म-गुण का घात होता है। आत्मा का अधःपतन होता है। आचार्य जिनसेन ने ब्याज लेकर आजीविका करने को आर्तध्यान का चिह्न माना है। विषय संरक्षण रौद्र ध्यान है। इसका अर्थ है विषय और धन की प्राप्ति और संरक्षण के लिए चिन्ता करना। धार्मिक समाज में भी मानसिक हिंसा का प्राबल्य इसलिए हो गया कि उसमें प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दीखती। यदि प्रत्यक्ष हिंसा की भाँति परोक्ष हिंसा से भी घृणा होती तो जीवन इतना असत्यनिष्ठ और अप्रमाणिक नहीं बनता।

वृत्तियों की अप्रामाणिकता का हेतु महापरिग्रह है। महापरिग्रह के लिए महा सावद्य उपाय प्रयोजनीय होते हैं। अणुव्रती अल्पपरिग्रही होता है। इसलिए उसके जीवन उपाय अल्प सावद्य होते हैं। इसीलिए उसे अल्प सावद्य कर्मार्य कहा जाता है। अल्प सावद्य कर्मार्य के सामने अप्रामाणिक बनने की स्थिति ही नहीं आती। अणुव्रती की जीवन-वृत्ति संग्रहोन्मुख नहीं होती। वह कला या कर्म का आलम्बन इसलिए लेता है कि जीवन-वृत्ति सुखपूर्वक चले। श्रम के द्वारा जीविका का सुख पूर्वक निर्वाह नहीं होता है तब चोरी आदि कुप्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। जटिल परिस्थितियाँ मनुष्य को बुरा बनने की प्रेरणा देती हैं इसलिए समाज उन्हें सरल बनाने की बात सोचता है। अन्य स्थितियों की अपेक्षा इच्छा की अनियन्त्रित दशा अधिक जटिल स्थिति है। अणुव्रती को उसपर अधिक ध्यान देने की अपेक्षा होती है।

संक्षेप में अणुव्रती जीवन का आदर्श है—इच्छा परिमाण, आरम्भ परिमाण। इस आदर्श को निभाने के लिए अणुव्रती को बड़प्पन व झूठे आदर्शों पर प्रहार करना होगा। श्रम को नीच मानने की भावना, वृत्ति के आधार पर ऊँच-नीच की कल्पना, धन के आधार पर बड़े छोटे की कल्पना को तोड़ना होगा। जीवन के मापदण्डों को बदलना होगा। जीवन के मूल्य न बदलें, राजसी धारा में अन्तर न आये तबतक अणुव्रत जीवन-प्रेरक नहीं बनते। अणुव्रती को सादगी के लिए आडम्बरों का और नम्रता के लिए मिथ्याभिमान का बलिदान करना होगा।

भारतीय जीवन में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का प्राबल्य है। अध्यात्मवादी धारा में व्यक्ति का विशेषत्व बढ़ता है। संयम के क्षेत्र में यह आवश्यक है। समाज संयमी नहीं बनता तब मैं 'क्यों बनूं' यह मनःस्थिति संयम के स्वीकरण में बाधक बनती है। समाज संयमी न बने फिर भी व्यक्ति को संयमी बनना चाहिए। संयम समाज का कानून नहीं, व्यक्ति की स्व-मर्यादा है।

सामाजिक रीतिक्रम समाज नहीं करता वहाँ अकेला व्यक्ति अपना विशेषत्व दिखाता है, यह स्थिति समाज के लिए घातक बनती है। व्यक्ति की उच्छृङ्खलता समाज की मनोवृत्ति को उभाड़ने का निमित्त बनती है।

आध्यात्म की धारा यह नहीं है कि व्यक्ति असंयम में व्यक्तिवादी रहे। उसकी अपेक्षा है, व्यक्ति संयम साधना के लिए व्यक्तिवादी रहे। यह व्यक्तिवाद जो संयम से निरखता है समाज या राष्ट्र के लिए घातक नहीं बनता।

धर्म समाज को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण देता है यह कहनेवाले उसकी सीमा को दृष्टि से ओझल किये देते हैं। सही अर्थ में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बनने का प्रधान कारण सामन्तशाही है। भोगवादी मनोवृत्ति, संग्रहवादी मनोवृत्ति, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति, और परिवारवादी मनोवृत्ति, ये सामन्तशाही के निश्चित परिणाम है। भारत धर्म का मुख्य उद्‌गम स्रोत रहा है। इस दृष्टि से भले ही वह धर्म प्रधान कहलाये, किन्तु धर्माचरण की दृष्टि से, धर्मप्रधान कहलाने की क्षमता कम से कम आज तो उसमें नहीं है। सौभाग्य से व्रतों की दृष्टि अब भी सुरक्षित है। यदि उनका प्रयोग जीवन में बढ़ा, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति भोग, असंयम और अहम् पोषण से हटकर संयम की ओर मुड़ी तो अनैतिकता की बाढ़ अवश्य ही रुकेगी।

अणुव्रती स्वयंसिद्ध शक्ति है। भोगवाद की एकछत्र शक्ति के प्रतिरोध के लिए वही सफल साधन है। अपेक्षा यह है कि वह शक्ति संगठित बने। असंयुक्त दशा में दो नौ के अंकों को जो अठारह का बल मिलता है, वह संयुक्त दशामें 'निनानवें' का हो जाता है। संयुक्त स्थिति का लाभ उठाने के लिए 'अणुव्रती संघ' की स्थापना कर व्रत शक्ति को संगठित करने का प्रयत्न किया गया है।

अणुव्रती संघ की स्थापना विक्रम सं० २००५ फाल्गुन शुक्ला २ सरदारशहर (राजस्थान) में हुई। पहले दिन लगभग ८० अणुव्रती बने। आज की भाषा में प्रगति व विकास का मापदण्ड पदार्थ विस्तार है। जड़वादी युग के पदार्थ परक विकास के सामने चैतन्य विकास का जो प्रतिरोध अपेक्षित था उस दिशा में यह सफल कदम प्रमाणित हुआ। अभी यह शैशवकाल में है, पर इससे भविष्य में बहुत सम्भावनाएँ हैं।

मनुष्य की बाहरी स्थितियाँ विकसित हुई हैं, यह जितना सत्य है उतना ही सत्य सत्य यह है कि उसकी आन्तरिक वृत्तियाँ मन्द हुई हैं। तंदुल वयालिय में अवसर्पिणी

युग के मनुष्य की अन्तर्वृत्ति और व्यवहार के अवसर्पण का चित्र खींचते हुए लिखा है—मनुष्य की क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियाँ क्रमशः बढ़ेंगी। तोलामाप के अप्रामाणिक उपकरण बढ़ेंगे। तुला का वैषम्य, मान का वैषम्य, राजकुल का वैषम्य, बढ़ेगा, धान्य बलहीन हो जायगा, उससे मनुष्यों की आयु कम होगी।

ज्यों-ज्यों आन्तरिक वृत्तियों का विकार बढ़ता है त्यों-त्यों स्थितियाँ जटिल बनती हैं। रोग का मूल अन्तर का क्षय है। मनुष्य बाहरी विकार से चुंधिया गया है। वह अभी इस प्रश्नवाचक चिह्न का उत्तर नहीं पा सका है कि वर्तमान युग विकास का युग है या ह्रास का?

अणुव्रती संघ की स्थापना का उद्देश्य है जीवन के मूल्यों को बदलना। यह कार्य सरल नहीं है। एक प्रकाश की रेखा अवश्य है। युद्ध और शीत युद्ध के थपेड़ों और अस्त्र-शस्त्रों की स्पर्धा से मनुष्य जर्जर बन गया। अब उसके सामने आन्तरिक वृत्तियों को पवित्र बनाने के सिवाय कोई विकल्प नहीं रहा। अब दीख रहा है कि आन्तरिक वृत्तियाँ यों ही चलीं तो प्रलय दूर नहीं है। इस आन्दोलन की ये अपेक्षाएँ हैं—मनुष्य शस्त्रनिष्ठ न बनकर अहिंसानिष्ठ बने। भौतिक विकास को मुख्य न मानकर आध्यात्मिक चेतना को जगाए। भोगी न बन कर व्रती बने। स्टैण्डर्ड ऑफ लीविंग (Standard of living) को गौण मानकर स्टैण्डर्ड ऑफ लाइफ (Standard of life) को ऊँचा उठाये। एक शब्द में आन्तरिक साम्य को शक्तिशाली बनाकर वैषम्य का अन्तर करे।

अणुव्रत-आन्दोलन क्रमशः प्रगति की ओर बढ़ रहा है। पाँच वर्ष के प्रारम्भिक समय में २२०० अणुव्रती बने। संख्या की दृष्टि से यह कोई ज्यादा प्रगति नहीं है। किन्तु भोगवाद के विरुद्ध संयम की ध्वनि का बल बढ़ रहा है। जनता का दृष्टिकोण बदल रहा है, नैतिक क्रान्ति की भूमिका जो बन रही है। यही सफलता का शुभचिह्न है। इसमें कोई संदेह नहीं, इस आन्दोलन ने वातावरण को प्रभावित किया है।

अणुव्रती संघ जाति, वर्ण, देश के भेदों को गौण मानता है, यही नहीं धर्म भेद के प्रति भी इसका दृष्टि-बिन्दु सद्भावी और सहिष्णु है। किसी धर्म को माननेवाला इसका सदस्य बन सकता है इतना ही नहीं इसकी रचना के आधारभूत तत्त्व भी सर्व साधारण हैं। अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये सर्व धर्म सामान्य तत्त्व हैं। इन्हें कोई अस्वीकार नहीं करता। सांख्य योग में इन्हें 'यम' कहा जाता है। पातञ्जलि ने यम को उसी अर्थ में रखा है जिस अर्थ में जैन-सूत्र अणुव्रत का प्रयोग करते हैं। महाव्रत शब्द दोनों भाषा में एक है। पातञ्जलि ने जाति, देश, काल समयानवच्छिन्नियमों को महाव्रत कहा है। जैन-भाषा में आगाररहित पूर्ण त्याग महाव्रत

कहलाते हैं। दोनों का तात्पर्य सर्वथा एक है। महात्मा बुद्ध की वाणी में ये पांच शील हैं। श्रमण अणु और स्थूल दोनों प्रकार के पापों को वर्जता है। गृहस्थ स्थूल पापों को वर्जता है तब उनका व्रत अपने आप अणुव्रत हो जाता है। इस्लाम और ईसाई धर्म में अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की मर्यादा और शिक्षा है। तात्पर्य एक है कि प्रत्येक धर्म मुमुक्षु के लिये जैसे सन्यास का विधान करता है, वैसे गृहस्थ के लिये अणुव्रत धर्म का।

अणुव्रत-आन्दोलन में अणुव्रत शब्द जैन-सूत्रों से लिया गया है किन्तु भावना में कुछ अन्तर है। जैन-परम्परा की भावना के अनुसार अणुव्रती वही बन सकता है जो सम्यग् दृष्टि हो। इसीलिये अणुव्रतों को सम्यक्त्व मूलक कहा गया है। इस संघ में यह भावना नहीं है। जैन-दृष्टि को स्वीकार करनेवाला ही अणुव्रती बने ऐसा नहीं है। इसके सम्यक् दर्शन की परिभाषा है—'अहिंसानिष्ठ दृष्टि'। अणुव्रती वह बन सकता है जिसकी अहिंसा में निष्ठा हो। यह आन्दोलन सब धर्मों को अहिंसा में केन्द्रित करता है। वास्तविक धर्म अहिंसा ही है। सत्य आदि शेष व्रत उसी के पोषक या सहायक हैं। अहिंसा-निष्ठ व्यक्ति आत्म-शुद्धि के लिये ही व्रतों को स्वीकार करेगा। भौतिक अभिसिद्धि के लिये नहीं। व्रतों का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। भौतिक सिद्धि के लिये उनका प्रयोग करना उनकी उच्चता को अपनाना है। अर्थ व्यवस्था असंयम से सुधर सकती है तब भला कौन उसके सुधार के लिए व्रत का कठोर मार्ग अपनाएगा ? अर्थ के लिये व्रत को अपनाने वाला अर्थनिष्ठ हो सकता है। व्रत निष्ठ या अहिंसा निष्ठ नहीं। इसलिये व्रती बनने का उद्देश्य मात्र आत्म-शुद्धि होना चाहिये। अन्तर की शुद्धि बाहरी वातावरण को शुद्ध बनाएगी। उससे आर्थिक और भौतिक व्यवस्था अपने आप शुद्ध होगी इसमें कोई सन्देह नहीं। अणुव्रती संघ केवल जीवन शुद्धि की सामान्य भूमिका का समन्वय ही नहीं करता अपितु धार्मिक मतभेदों के प्रति सहिष्णु भी बनता है। यह अहिंसावादियों का सार्वजनिक मंच है। इसके सहारे अहिंसा का उच्चघोष किया जा सकता है। सब धर्मों का विचार-भेद मिटे यह दुरूह है किन्तु उनका विरोध मिटे यह अपेक्षित है और सम्भव है। अणुव्रत-आन्दोलन इसका माध्यम है। दूसरे धर्म और व्यवहार खाई को पाटकर उनका समन्वय करना भी इसका उद्देश्य है। तीसरी दृष्टि यह है कि धर्म जो बुद्धि, विचार और भाषा का धर्म बन रहा है वह जीवन का धर्म बने।

वर्तमान की मुख्य समस्या आर्थिक है, ऐसा माना जाता है। अर्थशास्त्री इसका समाधान प्रचुर उत्पादन बताते हैं। बाहरी रूप में कुछ हल हुआ सा लगता भी है किन्तु महालोभ है तब तक यह समस्या सुलझ जाएगी, ऐसा नहीं लगता। इसका निरपवाद समाधान संयम है। व्रती जीवन जहाँ आत्म-शान्ति पैदा करता है वहाँ

आर्थिक समस्या का भी समाधान देता है। व्रती जीवन वर्तमान युग की सर्वोच्च आवश्यकता है। इसके अनुकूल वातावरण बनाना सबका कर्तव्य है। व्रतों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी तब मुख्य रूप में शुद्धि बढ़ेगी और व्यवहार में श्रम और स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

'विदेशी वस्तु नहीं पहनूँगा'—यह इच्छा का नियमन है, यह शुद्धि है। विदेशी वस्त्र के निमित्त होनेवाली हिंसा से मुक्ति मिलती है। व्यावहारिक लाभ से स्वदेशी उद्योग बढ़ता है। 'स्वग्राम की बनी वस्तु के अतिरिक्त वस्तु नहीं पहनूँगा'—यह इच्छा का और अधिक नियमन है। ग्रामोद्योग को अपने आप प्रोत्साहन मिल जाता है। 'स्वयं निर्मित वस्त्र के सिवाय अन्य वस्त्र नहीं पहनूँगा'—इसमें इच्छा और अधिक सीमित हो जाती है। आत्म-निर्भरता अपने आप बढ़ती है। श्रम निष्ठा के बाद भी व्रत निष्ठा शेष रहती है किन्तु व्रतनिष्ठा में श्रम-निष्ठा अपने आप पालित हो जाती है।

जोधपुर,

१४७ : एक साधक का जीवन

लोगों ने आज मेरा जन्म-दिवस मनाया। मेरी दृष्टि में जन्म-दिवस का कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व है निर्वाण-दिवस, दीक्षा-दिवस आदि का। पर जन्म-दिवस का मनाया जाना आज लोकप्रथा बन गई है और फिर यहाँ भावाभिव्यक्ति के सिवाय और कुछ नहीं होता, जबकि अन्यत्र जन्म-जयन्तियों के अवसर पर आरम्भ और आडम्बर होते हैं। मेरे लिए तो यह दिन एक तरह से प्रेरणा का दिन बन जाता है। ऐसी हालत में मुझे क्या आपत्ति हो सकती है? मैं किसी के भावों को भी मैं कैसे रोक सकता हूँ। रोकना ठीक भी नहीं है।

आज तक जितना काम मैं कर पाया हूँ मुझे उससे और अधिक करना है और इसके लिए आज से अधिक आत्म-निष्ठा, विश्वास और जागृति की प्रेरणा लेनी है और ले रहा हूँ।

मैं प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होनेवाला नहीं हूँ और ऐसा होना नहीं चाहिए। मुझे अपने पथपर आगे बढ़ना है, बढ़ते ही जाना है। मेरा जीवन एक साधक का जीवन है। मेरा कार्यक्रम है—'तिन्नाणं तारयाणं' खुद उन्नति करना और दूसरों को उसका मार्ग-दर्शन देना। इसमें जाति, वर्ण, और सम्प्रदाय-भेद की भेद-रेखा नहीं आती, नहीं सता सकती। मेरे पास आनेवाले की जाँच या परिचय इस भेद-रेखा से नहीं होता और

यदि इसके विपरीत कोई करता है तो झिझक देना मेरा सहज-स्वभाव रहा है। मैं नहीं चाहता कि भेदभाव को प्रोत्साहन दिया जाय। उसकी जगह अभेद-भाव को प्रश्रय मिलना चाहिए जिससे मैत्री-भाव को बल मिलता है। अस्तु ; आज जन जीवन गिरता जा रहा है उसे उठाना प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का काम है। मैं भी इस ओर कुछ प्रयत्नशील हूँ। मैंने जन-जीवन उठाने का बीड़ा नहीं उठाया है—यह मेरा कार्य है और मैं चाहता हूँ, करता चला जाऊं। इस कार्य में मुझे जितना सहयोग मिल रहा अच्छा है, मिलना चाहिए भी था। सिर्फ साधुओं से नहीं श्रावकों से भी वह मिलता रहा है, धार्मिक सहयोग सबका आकांक्षणीय है। ऐसा सहयोग जितना दे सकें, दें। सहयोग न दे सकें तो कम से कम एक बात अवश्य ख्याल में रखें, रोड़े न बनें, बाधक न बनें ; याद रखिये हमारे कार्यक्रम में रोड़े टिक नहीं सकते। हमारा काम रोड़ों, बाधाओं को चीरते हुए आगे बढ़ जाना है। बाधाओं और विरोधों से मेरे दिल में घबड़ाहट होती नहीं। मुझे एक नहीं अनेक विरोधों के बवण्डरों का सामना करने का, उन्हें देखने का अवसर मिला है। मुझे याद आ जाती है मालवे की बात। गुरुदेव का उस ओर पधारना हुआ। मैं भी उनके साथ एक छोटे से साधु के रूप में था। मालवे से रतलाम में आना हुआ जहाँ विरोध किया गया। आज जोधपुर में किये जाने वाली पर्चेबाजी (विरोध) से दसगुना अधिक विरोध किया गया। गुरुदेव को कोई परवाह नहीं थी। एक, दो, तीन दिन बीत गए। चौथा दिन आया। वहीं के एक पण्डितजी ने आकर दर्शन किये। गुरुदेव ने पूछा—"आप यहीं के रहनेवाले हैं ? यहाँ आज चौथे दिन ही आये हैं क्या ?" पण्डितजी ने कहा—"महाराज ! मैं यहीं का रहनेवाला हूँ। आज चौथे दिन मैं यहाँ आया नहीं हूँ, मुझे आना पड़ा है। विरोध-कार्यक्रम पहले ही शुरू हो चुका था। आपका पधारना हुआ पर उस दिन आपकी तरफ से कोई विरोध नहीं किया गया। मैंने सोचा आज आये हैं, थकेमांदे होंगे, शायद कल करेंगे। मैं देखना चाहता था, देखें दोनों तरफ से क्या क्या विरोध किया जाता है ? दूसरा दिन बीता कोई विरोध नहीं किया गया, मैंने सोचा आज तैयारी करते होंगे—विरोध करने के लिये। तीसरा दिन भी कुछ नहीं। मैंने सोचा जहाँ एक व्यक्ति को कै करते देखकर दूसरे को उबाक (होबरड़ा) होने लगता है वहाँ आज चौथा दिन है, फिर भी कुछ नहीं हुआ, अवश्य इनका हाजमा बड़ा मजबूत है। सारे विरोध को हजम करने की इनमें क्षमता है। यह इकतरफा विरोध कैसे हो रहा है ? मुझे आपके विचारों को जानकर खुशी होती है। पर इस इकतरफे निरर्थक विरोध को देखकर तरस भी आता है।

ये घटनाएँ जीवन में घटी घटनाएँ हैं। इसी तरह बीकानेर का विरोध भी किसी से छिपा नहीं है। वह विरोध और पैम्फलेटों की भरमार जिससे कोई दिन खाली नहीं जाता था। साधु-सन्तों को पचासों गालियाँ रोजाना सुनने को मिलती थीं फिर भी

खामोशी। मुझे याद है वह दिन जब गुरुदेव ने सब सन्तों को एकत्रित कर शिक्षा फरमाते हुए कहा था "सन्तो ! तुम्हें गालियाँ सुनने को मिल रही हैं ; कुछ भी कड़े शब्द सुनने पड़ें पर किसी को वापिस एक शब्द भी कहने की आवश्यकता नहीं।" सब कुछ सहते हुए भी वह आज्ञा अभंग पाली गई और इसकी ही आवश्यकता थी। इस शान्ति का क्या नतीजा निकला किसी से छिपा नहीं है। अस्तु।

विरोधों से घवड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनसे घवड़ानेवाले काम कर नहीं सकते। बन्धुता के नाते विचारभेद न होना जरूरी नहीं, पर विचारभेद को लेकर गाली-गलौज करना भगवान् महावीर की सन्तान के लिए शोभाजनक बात नहीं है। औरों की निन्दा करना कायरता है। अपनी कमजोरी है। आज जैसा जमाना फिर आनेवाला नहीं है। आज यदि मिलकर काम किया जाय तो विश्व के सामने एक सबक रखा जा सकता है। अतः यदि जन-जागृति और नैतिक उत्थान कार्य न कर सकें और उसमें सहायक भी न बन सकें तो कम से कम बाधक तो न बनें।

आज का मानव पतन के गड्ढे में गिर गया है। उसे अकड़ कर नहीं निकाला जा सकता। गड्ढे में पड़े व्यक्ति को निकालने के लिए उसमें झुककर हाथ मिलाना पड़ता है। पर निकालनेवाले को गड्ढे में गिरना नहीं है उसे झुककर, विनम्र बनकर पतन के गड्ढे से निकाल कर एक उच्च और सीधी सड़क पर उसे छोड़ देना है ताकि वह अपने लक्ष्यस्थल तक पहुँच सके जिसे वह भूल-सा गया है।

श्रावक समाज ने विरोध का जवाब विरोध से नहीं दिया उसे शान्ति से सहा। यह कोई बड़ी बात नहीं। 'कीचड़ में पत्थर न डालना' यही मंत्र मानवता के लिए कल्याणकारी है।

जोधपुर,

(जन्म-जयन्ती)

१४८ : हमारा सिद्धान्त

लोगों ने मेरे जन्म-दिवस को लेकर अपनी भावनाएँ व्यक्त की, मेरी सराहना की पर मुझे प्रशंसा की आवश्यकता नहीं और न मुझे इसमें कोई प्रसन्नता ही है। मैं चाहता हूँ अपने पथपर बिना रुके आगे बढ़ता जाऊँ। स्वयं प्रेरणा पाऊँ और दूसरों को प्रेरणा दूँ। हमारा सिद्धान्त है—'तिन्नाणं तारयाणं' अर्थात् स्वयं उन्नत होना और दूसरों को उन्नत होने में सहयोग देना। मेरे सामने जातिभेद, वर्गभेद और समुदाय भेद को स्थान नहीं ; स्थान है सादे और सात्त्विक जीवन के लिए, संयम और सत्पथ आचरण के लिए।

मैं चाहता हूँ जन-जन में सद्गुण भर जायँ, पापों से घुटती हुई दुनियाँ को अक्षय प्रकाश मिले। मुझे जो जागृति मिली है औरों को भी दे सकूँ। यही मेरी कामना है। इसके लिए मेरा सतत् प्रयास है। जन-निर्माण के इस कार्य में जिन्होंने मुझे आध्यात्मिक सहयोग दिया है—क्या साधु क्या श्रावक—मैं उन्हें भूल नहीं सकता। मैं सब लोगों से कहना चाहूँगा कि नैतिक-उत्थान का जो रचनात्मक कार्य मैंने शुरू किया है। वे इसमें सहयोगी बनें। यदि सहयोगी न बन सकें तो वे इसमें रोड़ा भी न बनें।

जोधपुर,

९, नवम्बर, '५३

१४९ : जातिवाद अतात्त्विक है

लोग कहते हैं, आज की विषम समस्याओं से उलझे वातावरण में अहिंसा से क्या बनेगा? मेरा कहना है—हिंसा के पीछे आज बड़ी-बड़ी शक्तियाँ हैं, प्रेस हैं, प्लेट-फार्म हैं, प्रचार के बड़े-बड़े जरिये हैं, फिर भी संसार ने देखा हिंसा के सहारे शान्ति का आना तो दूर वरन् अशान्ति दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। अहिंसा के पीछे आज बाह्य साधनों का अभाव है, यदि अहिंसा को थोड़ा भी प्रोत्साहन मिले तो बहुत कुछ काम किया जा सकता है। आज की वैषम्य पूर्ण स्थिति (जिसके सामने संसार घुटने टेकता जा रहा है) से बहुत कुछ बचा जा सकता है।

जैन-धर्म में जातिवाद को कभी स्थान नहीं रहा है। भगवान् महावीर के युग में जब कि जातिवाद और रूढ़िवाद का बोलबाला था, उन्होंने उसके खिलाफ एक जबरदस्त क्रांति की और डंके की चोट पर यह उद्घोषित किया कि जातिवाद अतात्त्विक है। सच्चा व पूजनीय वही है जिसके काम ऊंचे हैं। ऐसा होते हुए भी जातिवाद के आधार पर धर्म में जो अड़ंगे पैदा किये जाते हैं और निम्न कही जानेवाली जातियों को धर्माराधना या धर्म श्रवण से अलग रखा जाता है तो यह धर्म को सही रूप में नहीं समझने का परिणाम है। धर्म वह सार्वजनिक राजपथ है जिसपर चलने का जन-जन को अधिकार है।

जोधपुर,

९ नवम्बर, '५३

१५० : सबसे बड़ी आवश्यकता

अपने आत्मबल के सहारे जैसा बन पड़ता है हम तो करते ही हैं। पर यदि राष्ट्र के कार्यकर्त्ता—जन-नेता इस ओर ध्यान दें तो इसका और अधिक प्रसार हो सकता है।

जैसा कि लोग मानते हैं आज संसार ने बड़ा विकास किया है, वैज्ञानिक आविष्कारों के जरिये वह बहुत आगे बढ़ा है, पर मेरी राय इसके विपरीत है। मेरा कहना है कि आज संसार ने विकास नहीं बल्कि ह्रास किया है और दिन पर दिन करता जा रहा है। विज्ञान जन्य यान्त्रिक सुविधाओं का यह परिणाम हुआ कि मानव पंगु बन गया, उसकी आत्मिक निर्भरता जाती रही। उसका चलना, फिरना, बैठना, बोलना आदि सब परावलम्ब से अभिभूत हो गया। इस यथाकथित विकास या प्रगति का दूसरा यह परिणाम हुआ कि मानव भौतिक चकाचौंध में अपने आप को भूल बैठा। अपने जीवन को वह परखे, अन्तरतम को टटोले आज इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

भोग, लिप्सा, विषयवासना और स्वार्थों की भट्टी में मानव का स्वत्त्व आज भस्म होता जा रहा है। उसे अपने स्वत्त्व की रक्षा के लिए त्याग और संयम के मार्ग पर आना होगा।

जोधपुर,

१५१ : प्रशस्त और भव्य मार्ग

सबको विदित है कि यह संसार सदा से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। जब तक काम, मद, लोभ, लिप्सा मोह ममत्व, भय आदि संसार में विद्यमान रहेंगे तब तक यह संसार रूपी चक्र अपनी गति से चलता रहेगा। यह निश्चित है कि प्रत्येक प्राणी सुखी बनना चाहता है। दुःखी बनना किसे भी इष्ट नहीं। यह दूसरी बात है कि प्राणी को अनिच्छा होते हुए भी दुःखी होना पड़ता है। मगर सबकी गति और सबकी चेष्टा इसी ओर रहती है कि हम सुख और शान्ति से जिन्दगी बिताएँ। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि मनुष्य सद्विवेकपूर्वक ऐसा प्रयत्न करे जिससे अपने और दूसरे के लिए सुख का मार्ग प्रशस्त बन जाय।

सबसे पहले वास्तविक सुख को समझना होगा। सुख क्या है? यह प्रश्न आज अतिशय टेढ़ा बना हुआ है। दुःख क्या है? यह प्रश्न, प्रश्न की सीमा से बहुत दूर है क्योंकि वह आज सबपर छाया हुआ है। उसको ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

उसे सब कोई जानते हैं। आवश्यकता है सुख के प्रश्न को सुलझाने की। इस समस्या को हल करने के लिए आज कौन नहीं जुटा हुआ है? जितने भी वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं और हो रहे हैं उनके लिए आविष्कर्ताओं की यही घोषणा है कि हम मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए ही यह सब कुछ कर रहे हैं, मगर आश्चर्य इस बात का है कि कहा तो कुछ और जाता है और होता कुछ और ही है। आज मानव को सुख-सुविधा पहुँचाने के लिए जितनी नई-नई सामग्रियाँ विकसित की जा रही है, उतना ही जिन्दगी का सही सुख भागा जा रहा है और दुःख बाढ़ की तरह बढ़ता आ रहा है। वास्तव में देखा जाय तो इन बढ़ी हुई भौतिक सामग्रियों ने मनुष्य को पूरा परवश और अकर्मण्य बना दिया है। आज के उसके हाथ-पैर बिलकुल निकम्मे हो गये हैं। पुराने जमाने का आदमी इस तरह अकर्मण्य नहीं था। वह अपने प्रत्येक अवयव से काम लेता था। इस पर अगर यह कहा जाय कि तब इतनी सामग्रियों का विकास ही कहाँ था? तब का मनुष्य विज्ञान के परिणामों से सर्वथा अनभिज्ञ था उसकी बुद्धि उतनी विकसित नहीं थी। वह युग विकास का युग नहीं था। आज विकास का जमाना है। वैज्ञानिक आविष्कार एक नया चमत्कार लिए हुए दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। फल स्वरूप प्राग्युगीन मानव के बनिस्बत आज का मानव वास्तव में विकासशील है। मेरी दृष्टि में इस कथन में बहुत कम तथ्य है। मैं तो समझता हूँ कि आज विकास तो नहीं हुआ है उल्टा ह्रास हुआ है। विकास की मूल धुरी से आज का मनुष्य भटक गया है। मूल धुरी पर निश्चित होने से ही सही विकास हो सकेगा। आज विकास यह हुआ है कि मनुष्य बोलना भूल गया है। ४००-५०० मनुष्यों की छोटी सी भीड़ में वह अपनी स्वाभाविक बोली में नहीं बोल सकता। हाँ, अगर लाउड-स्पीकर हो तो वह जरूर बोल सकता है अन्यथा आवाज बन्द। अभी-अभी मैंने दीक्षा समारोह के अवसर पर देखा की एक वक्ता बोल रहे थे। अकस्मात् लाउडस्पीकर बन्द होते ही उनकी आवाज रुक गई और सारा कार्यक्रम ठप्प हो गया। इसी स्थिति को देखकर मैंने कहा—अच्छा अब मैं बोलता हूँ। मैंने अपनी स्वाभाविक आवाज में प्रवचन किया। मैं समझता हूँ कि वह आवाज पाण्डाल के १०-१२ हजार व्यक्तियों तक पहुँची होगी। यह देखकर मैं हैरान रह गया कि आज के मनुष्य सोचते हैं कि हमने विकास किया है परन्तु होते जा रहे हैं अधिक से अधिक परतंत्र। और तो क्या, आज के लोग खान-पान में भी परतंत्र हो गये हैं। अगर बिजली बन्द हो जाय तो अन्न पीसने की चक्की और पानी के पम्प आदि बन्द हो जाय तब आटा कहाँ, पानी कहाँ? इतना ही नहीं, आजके मनुष्य चलना और लिखना भी भूल गये हैं अगर दो चार मील भी चलने का काम पड़ता है तो उन्हें कार या साईकिल चाहिए। उसके बिना चलना मुश्किल है। पैरों के साथ साथ हाथ भी निकम्मे हो

गये हैं। एक छोटी सी चिट्ठी लिखनी है तो उसके लिए भी टाइपराइटर चाहिए। अब यदि कोई बात बाकी रही है तो वह यही की अब तक कोई ऐसा यंत्र नहीं निकला है जिससे कि मनुष्य को मुँह में कौर रखने के लिए हाथ ऊँचा उठाना न पड़े, मुँह में रखे हुए अन्न को चबाना न पड़े और चबाए हुए को पचाना भी न पड़े। इस तरह मनुष्यआज प्रत्येक बातों में परतंत्र हुआ जा रहा है। मेरी तथा दूसरे लोगों की भाषा में यही अन्तर है कि जिसको वे विकास समझते हैं उसको मैं ह्रास समझता हूँ। इस प्रश्न पर आज नहीं तो कल सोचना तो होगा ही।

अगर सही रूप में आपको सुखी बनना है तो आप संयम का अभ्यास कीजिए। संयम का मतलब सिर्फ इतना ही नहीं है कि कुछ छोड़ दिया जाय परन्तु यहाँ तक भी है कि जीवन का रहन सहन, खान, पान, बोल चाल आदि प्रत्येक क्रिया में और प्रत्येक कार्यक्रम में उसे यथेष्ट स्थान प्रदान किया जाय। यदि ऐसा किया गया तो फिर सुख का मार्ग कहीं टटोलना नहीं पड़ेगा, वह सामने ही प्रस्तुत मिलेगा। यह बात मैं निजी अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। संयम की साधना में लगाए २८ वर्ष मुझे प्रेरित करते हैं कि मैं सुख के सही मार्ग से अन्य लोगों को भी परिचित कराऊँ।

संयम का यह अर्थ है कि खाने, पीने, चलने, बोलने उठने बैठने आदि क्रियाओं में विवेक पूर्वक काम किया जाय। खाये बिना संसार की यात्रा नहीं निभाई जा सकती इसलिए खाना आवश्यक है। इसके अलावा अगर खाना खाने के लिए खाया जाता है, मौज और आनन्द उड़ाने के लिये खाया जाता है तो वह खाना गलत है। वह खाना सतायेगा। एक मनुष्य सिर्फ स्वाद के लिये खाता है और एक समझकर खाता है कि बिना खाये शरीर चल नहीं सकता, इन दोनों बातों में लाखों हाथ का अन्तर है। इसी प्रकार बोलने के लिये बोलना भी गलत ख्याल है। जितना बोलना आवश्यक हो उतना ही बोलने से भाषा के अनेक दोष अपने आप टल जाते हैं। आवश्यक बोलनेवाला गाली और अश्लील शब्दों का कभी प्रयोग नहीं करेगा। इस तरह हर एक कार्य में संयम रखने पर सुख का मार्ग स्वतः अपने सन्मुख होगा। आत्म संयम ही सुख का प्रशस्त और भव्य मार्ग है।

जोधपुर,

१५२ : चरित्रार्जन आवश्यक

आज विद्यार्जन के लिये जितना प्रयास किया जाता है उतना चरित्रार्जन के लिये नहीं। वास्तव में विद्यार्जन की अपेक्षा चरित्रार्जन के लिये विशेष प्रयत्न व अभ्यास की आज नितान्त आवश्यकता है। जबतक चरित्र-शिक्षा को गहरा स्थान नहीं दिया

जायगा तबतक अक्षरज्ञान एवं पुस्तकीय ज्ञान से विद्यार्थियों का और देश का कोई भला नहीं होनेवाला है। प्रारम्भ से ही जब अक्षर ज्ञान का शिक्षण प्रारम्भ होता है उसके साथ-ही-साथ चरित्र ज्ञान का शिक्षण भी प्रारम्भ होना चाहिए। तभी चरित्र ज्ञान की उन्नति में सहायक हो सकेगा। इस कमी की पूर्ति के लिए शिक्षा-प्रणाली में अध्यात्मवाद को प्रश्रय दिया जाना आवश्यक है। मैं समझता हूं कि ऐसा होने पर विद्यार्थियों में एक नई चेतना और नई जागृति का संचार होगा। यह तब ही सम्भव है जब कि शिक्षक लोग अध्यात्मवाद को अपने जीवन में सर्वप्रथम स्थान दें। आज की स्थिति को देखते हुए इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज का शिक्षक क्या वास्तव में शिक्षित है? और क्या? नेतागण में चरित्र की बड़ी कमी नहीं प्रतीत होती रही? यही कारण है आज का जीवन कितना नीरस व सूना बना हुआ है।

भारतीय महर्षियों ने पाँच छोटे-छोटे नियमों में चरित्र की सम्पूर्ण शिक्षा भर दी है। महाभारत में बतलाया गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम्।
पञ्चस्वेतेषु धर्मेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों धर्मों में समस्त धर्म प्रतिष्ठित है। ये ही पाँच धर्म, जैन, बौद्ध भगवद्, गीता, कुराण बाइबिल, महाव्रत, यम, नियम आदि के रूप में बतलाये गये हैं। ये बातें मिलती तो सब जगह हैं किन्तु मिलती केवल ग्रन्थों में ही हैं। आचरण में इनका उपयोग कहाँ मिलता है? यहाँ वही पंडितजी की बात याद आ जाती है—

एकबार पंडितजी मन्दिर में भक्तों के बीच कथा बांच रहे थे। जिस पोथे से वे कथा बांच रहे थे उसमें एक जगह बैंगन न खाने का प्रसंग आया। पंडित जी ने कहा—बैंगन अलक्ष्य हैं, क्योंकि उसमें बीज बहुत होते हैं। धार्मिक लोगों को उसे कभी नहीं खाना चाहिए! पंडितजी के कथन से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने बैंगन खाने के परित्याग किये कथा समाप्त होने पर भक्तों के साथ ज्यों ही पंडित जी बाहर आये, अकस्मात् उनकी दृष्टि एक बैंगन बेचने वाली पर पड़ी। वे तुरन्त उसके पास जाकर बैंगन खरीदने के लिए मोल-भाव करने लगे। भक्त लोग यह देखकर दंग रह गये। उन्होंने कहा—पण्डितजी महाराज! आपने ही तो अभी मन्दिर में बैंगन न खाने के लिये फरमाया था और आप ही अब बैंगन खरीद रहे हैं! यह क्यों? पण्डितजी बिचारे सरल हृदयी थे। उन्होंने पीछे देखकर कहा - अरे पागलो! तुम समझते नहीं। ये तो खाने के बैंगन है और वे पोथे के बैंगन थे क्या दोनों एक ही हैं?

सोचिये ऐसे उपदेशकों से श्रोताओं पर क्या असर हो सकता है? अध्यापकों के

लिये भी ठीक यही बात है। वे अपनी कहनी और कथनी की समानता बनाकर ही अपने जीवन की सक्रिय शिक्षा से विद्यार्थियों के जीवन को आदर्श जीवन बना सकते हैं। हम सायंकालीन प्रार्थना में यही प्रतीक्षा करते हैं कि हे प्रभो, हमारे कहने और करने में बिलकुल अद्वैत और समानता हो। हम वही कहें जो करते हैं। मैं उपस्थित अध्यापकों से कहूँगा कि वे इस सूत्र को अपने जीवन का ताना बना लें। अध्यापकों में यह परिवर्तन होते ही छात्रों का जीवन भी अपने आप विकसित और संस्कारित बनेगा और फिर उसके साथ-साथ राष्ट्र का जो काया-कल्प होगा वही संसार को एक अनूठी देन होगी।

आज के युग में मतवादों के प्रचार की अपेक्षा मानवता के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। आज संसार के सामने सवाल यह है जनता का रसातल पहुँचा हुआ नैतिक धरातल कैसे ऊँचा उठे? जब आज के लोग सृष्टि कब बनी? इसका प्रलय कब होगा? सृष्टि का निर्माता कौन है ईश्वर कर्त्ता-हर्त्ता है या नहीं? इस प्रकार के अनेक प्रश्न किया करते हैं तब मैं कहा करता हूँ—आप सब इन प्रश्नों को रहने दीजिए और पहले कम से कम यह तो सोचिये कि हम कौन है? और हमारा कर्तव्य क्या है? अगर आप पहले इस गुत्थी को नहीं सुलझायेंगे और दृष्टि, श्रद्धा और प्रलय आदि गुत्थियों को सुलझाने में लग जाएँगे तो आप न तो जीवन की ही गुत्थी सुलझा सकेंगे और न सृष्टि-श्रष्टा आदि की।

मेरा अभिमत सर्वधर्म समन्वय का हैं। ढूंढने पर प्रत्येक धर्म में समानता के तत्त्व अधिक मिलेंगे और विषमता के कम इसलिये कुछ विभेदमूलक तत्त्वों के होते हुए भी अगर समन्वय का दृष्टिकोण रखा जाय तो भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों की विचारधारा बहुत निकट आ सकती है। वह प्राचीन समय था जब धन, मकान जेवर स्त्री आदि के लिये विग्रह हुआ करते थे। आज ऐसा समय है जब कि अपने विचारों के प्रचार के लिये वाद-विवाद और विग्रह छिड़ा हुआ है। आज एक ओर साम्यवाद पूँजीवाद पर छा जाना चाहता है तो दूसरी ओर पूँजीवाद साम्यवाद पर एक दूसरे को निगलना चाहता है। एक के पीछे रसिया अपनी ताकत लगाये है तो दूसरे के पीछे अमेरिका। इन दोनों के संघर्ष के बीच छोटी-छोटी शक्तियाँ न जाने किस तरह पिसी जा रही हैं। बल प्रयोग के साथ किसी पर विचारों को लादना मानवता की हत्या है। विचारों को फैलाने का एकमात्र तरीका हृदय में अपनी विचारधारा को जचाना है। यह दूसरी बात है कि व्यक्ति स्वतन्त्र है उसे अच्छी लगे तो वह उसको ग्रहण करे और गलत लगे तो ग्रहण न करे। विचार फैलाने के लिये लड़ाई को प्रश्रय देना भयंकर भूल है। उसमें भी धर्मप्रचार के लिये हिंसा को आश्रय देना तो अत्यन्त गन्दी और निरर्थक बात है।

अन्त में यही कहूँगा कि आप जीवन में चरित्र की शिक्षा ग्रहण करने के लिए अणुव्रत-योजना का अध्ययन करें। अणुव्रत योजना का अध्ययन करें। अणुव्रत-योजना चारित्रिक नियमों की एक सूची है। उसको जीवन में अपनाने से जीवन की विषमताएँ मिटेंगी और आज जो संसार में अनेक जटिल समस्याएँ फैली हुई हैं वे सभी शान्त होंगी। मेरी तो हर समय यही कामना रहती है और यही नारा रहता है—

सत्य अहिंसामय जीवन हो,
सत्य अहिंसा मय जन जन हो,
विश्वव्यापी हो सत्य अहिंसा,
मुख-मुखरित हो यह नारा।
बना रहे आदर्श हमारा॥

अर्थात् जीवन सत्य, अहिंसामय बने, जन-जन सत्य अहिंसामय बनें और सत्य अहिंसा विश्व-व्यापक हो। अहिंसा के बल पर ही विश्वशान्ति की कल्पना की जा सकती है। उसके बलपर तो क्यों? उसकी जननी भी वही है। हिंसा के बल पर विश्व-शान्ति की कल्पना करनेवाले अन्धकार में हैं। अगर हिंसा के बल पर विश्व-शान्ति हो जाती तो अहिंसा की उत्पत्ति ही नहीं होती। हिंसा और अहिंसा के परिणाम बिलकुल स्पष्ट देखे जा सकते हैं जो व्यक्ति हिंसक है वह जलता रहता है। उसका हृदय भीतर ही भीतर आग की तरह चिनगारियाँ उगलता रहता है। किन्तु अहिंसक व्यक्ति शान्त रहता है उसका अन्तकरण शीतलता की लहरों पर क्रीड़ा करता है। हिंसक व्यक्ति अन्तर में दुखी रहता है और अहिंसक सुखी। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति सदा से यही घोषणा करती आई है कि विश्वशान्ति का प्रयास अमोघ शक्ति अहिंसा के द्वारा ही सफल किया जा सकता है। इसलिये मैं उपस्थित अध्यापकों, विद्यार्थियों व अन्य सज्जनों से यही कहूँगा वे अहिंसा को अपनाकर शुद्धि आत्म-विकास के मार्ग पर आगे बढ़ें।

जोधपुर,

१५३ : अहिंसा के तत्त्व

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि सभी जीना चाहते हैं। कोई मरने की इच्छा नहीं रखता। जब कोई मृत्यु चाहता ही नहीं फिर भी उसको थोपना अन्याय है। संयमी पुरुष किसी को सताते नहीं, मारते नहीं, मर्माहत नहीं करते, इसीमें से अहिंसा का तत्त्व निकला।

अहिंसा इसमें नहीं कि प्राणी जिन्दा रहता है। हिंसा इसलिए नहीं कि प्राणी मर जाता है। अहिंसा है उठने में और उठाने में, आत्मपतन से बचने में और उससे किसी को बचाने में।

शान्ति मिलेगी साम्य से, माध्यस्थ वृत्ति और समता से। विषमता से शान्ति पाने की बात सोचना गैर विचारधारा है। आज लोग विचारते हैं—हिंसा, हथियार, संहार या समता चाहे जिस तरह से मिले वह आदेय है, उपादेय है और साम्य है। वे अपना लक्ष्य शान्ति पाना समझते हैं। अहिंसा से मिले तो ठीक वरना हिंसा से ही लक्ष्य तक पहुँचा जाय। भाइयो! यही गलती हो रही है। शान्ति अशान्ति से नहीं लाई जा सकती। समता विषमता से नहीं आती। सुख किसी को दुःख बनाकर नहीं पाया जा सकता। शान्ति, समता और सुख के लिए अपने आपको उठाओ। अन्तर-शुद्धि के बिना यह नहीं होगा और अन्तर-शुद्धि के लिए विचारों को किसी पर थोपना या उससे लड़ना शान्ति, समता और सुख पाना नहीं, अशान्ति, विषमता और दुःख को बढ़ावा देना है।

मानव! इन्हें पाने का सरल उपाय है—संसार की चिन्ता छोड़ अपनी चिन्ता करो। संसार न उठे, तब अपने को उठाओ। यह स्वार्थ नहीं परमार्थ है। तुम स्वयं परमार्थ के पथपर चलो और दूसरों को भी उसपर चलाने का प्रयास करो। कोई शान्ति की शिक्षा न मानें तो तुम अपनी शान्ति मत खोओ। इससे मैत्री बढ़ेगी। इष्ट मित्रों और पारिवारिक जनों के साथ ही नहीं, वैरियों और विरोधियों के साथ भी मैत्री रखने का एक सबक मिलेगा।

सर्वसाधारण के लिए पूर्ण अहिंसक बनना शक्य न हो सके फिर भी वे इसे आदर्श मानकर आगे बढ़ें। अपनी अशक्यता से की जानेवाली हिंसा को हिंसा समझें। बुरी चीज को बुरी समझनेवाला आज नहीं तो कल उसे छोड़ देगा पर उसे अच्छी समझने वाला न छोड़ सकेगा।

आज लोग मारने को ही हिंसा समझते हैं। अतः दैहिक हिंसा से कुछ घबड़ाते भी हैं। पर बौद्धिक हिंसा का उनमें विकास हुआ सा लगता है। दुकानदार सोचता है—आज सुबह-सुबह कोई भोला ग्राहक मिले, जिससे एक साथ ही अधिक लाभ हो जाय। यह ठगाई की वृत्ति हिंसा है। राजकर्मचारी सोचते हैं तनख्वाह कम मिलती हैं, परिवार बड़ा है, शान-शौकत से रहना पड़ता है, अच्छा हो कोई चिड़िया हाथ लगे, यानी घूस मिले।

यह हिंसा का रंगमंच है जिसने एक बार स्वाद चख लिया फिर उससे छूटता नहीं। यही कारण है राजकर्मचारी व्यापारियों पर दोषारोपण करते हैं। पर दोषों को छोड़ता कोई नहीं। जब छोड़ेंगे, दोनों का सुधार सम्भव है।

किसी के विचारों की हत्या करना भी हिंसा है। हमारा ही उदाहरण ले लीजिए—हमारा मत है 'किसी को मत मारो'। उसका सही अर्थ न समझ कर या समझते हुए भी उसका विकृत रूप बना कर प्रचार करना कि 'रक्षा करना पाप बताते हैं' यह विचारों की हत्या है। मैं स्पष्ट कहता हूँ—आत्म पतित होने से किसी को बचा लेना तथा किसी की आत्मा को दुर्गुणों से बचा लेना धर्म है। रक्षा करना धर्म है, पर उसके लिए हिंसा नहीं की जानी चाहिए। हिंसा से रक्षा करना मैं रक्षा नहीं मानता।

हम जहाँ यह कहते हैं कि 'संयम का पोषण धर्म है', वहाँ यह प्रचार करना कि 'माता-पिता की सेवा करना पाप बताते हैं', विचारों का हनन है। मैं कहता हूँ—'प्राणिमात्र की सेवा करना धर्म है'। पर मैं उसे सेवा नहीं मानता—लाखों रुपये ब्लैक से कमाये और हजारों रुपये किसी की सेवा के कार्य में लगा दिये। यह सेवा नहीं, ढोंग है। सच्ची सेवा प्राणिमात्र के प्रति बन्धुत्व की भावना, उसे आत्मवत् समझना, किसी को दीन-हीन न समझना है। अस्तु, विचारों का हनन हिंसा है।

लोग कहते हैं—क्या सारी दुनियाँ अहिंसक बन जायेगी, ऐसा सम्भव है? सारी दुनियाँ न कभी अहिंसक बनी और न बनेगी ही। लाख प्रयास करने पर भी हिंसा का बिलकुल खात्मा नहीं हुआ तो अहिंसा का भी कभी लोप नहीं हुआ। कभी अहिंसा का पलड़ा ऊँचा रहा तो कभी हिंसा का। आज हिंसा का पलड़ा भारी है। वह हल्का बने, उसे हल्का किया जाय। अणुव्रती इस कार्य में निरन्तर बढ़ते जायँ।

लोग कहेंगे—एक दिन अहिंसा-दिवस मना भी लिया तो क्या हुआ? मैं कहता हूँ—इससे अन्तर-वृत्तियाँ उद्बुद्ध होंगी। अन्तर-तम से अहिंसा को अपनाने की एक आवाज उठेगी। हिंसा में लिप्त मानवीय वृत्तियों में अहिंसा आएगी। मुझे खुशी है—आज कसाइयों (कमाइयों) ने अपने कार्य को बन्द रखा है। पैसे के प्रलोभन से नहीं अपितु आत्मवृत्ति की जागृति से।

आज का यह अहिंसा-दिवस जन-मानस को अहिंसा की एक सक्रिय प्रेरणा देगा, ऐसी आशा है।

हमारा मत दुनियाँ से निराला है। दुनियाँ वैभव में सुख मानती है पर हम अकिंचन बनकर सुख महसूस करते हैं। दुनियाँ बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं में सुख मानती है तो हम टूटे झोपड़ों में ही सुख पा लेते हैं। दुनियाँ ने विलास को सुख समझा तो हमने विकास को। दुनियाँ ठाट से रहती है तो हमारे यहाँ सादगी को प्रश्रय मिलता है। दुनियाँ भूखमरी से डरती है, पर हम भूखे रहकर भी आनन्द की अनुभूति करते हैं। आज भूखे होते हुए भी हम भूखेसे नहीं लगते। हमारे सभी कार्यक्रम ज्यों के त्यों चलते हैं।

तुम्हें कोई टाइटिल या सुविधा नहीं मिली है अपितु अणुव्रती बनने से तुम पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आई है। एक समय था व्यक्ति स्वतः अनैतिक कार्य करने से

घबड़ाता था, पर आज न्याय-नीति को स्थान कम मिल रहा है। ऐसी हालत में तुम्हें सचेष्ट रहना है। कोई दूसरा तुम्हारी दुर्बलता देखे इससे पहले, तुम्हें उसे देख लेना है। तुम्हें पाप-भीरु और दृढ़प्रतिज्ञ रहना है। तुम्हें धर्म के संघर्षों में नहीं पड़ना है। तुम्हारा एक ही लक्ष्य है—जीवन को उठाना और तत्त्व का मन्थन करना।

तुम बराबर आत्मचिन्तन करो। यदि आत्मचिन्तन नहीं किया तो कुछ नहीं किया। यह एक तरह से रोकड़ है। इससे तुम्हारे दिन भर के कार्य-कलापों का सही-सही खाका सामने आ जाएगा।

तुम्हें अणुव्रतों का पठन कम से कम १५ दिन में एक बार अवश्य कर लेना है, अन्यथा वही कहावत चरितार्थ होगी—'पान सड़े, घोड़ा अड़े, विद्या बिसर जाय।' अतः पठन करके तुम्हें देख लेना है कि कहीं कोई गलती तो नहीं हुई है।

तुम्हें अपने आस-पास के वातावरण में अणुव्रत-भावना का प्रसार करना है। तुम इसे भूलो मत। हर अणुव्रती साल भर में ५ नये अणुव्रती बनाने का प्रयास करे।

जिस अणुव्रती में जो दोष हो तुम उसे निकालने के लिए सतर्क रहो, प्रयास करो। जैसे किसी को क्रोध अधिक आता है तो वह कम से कम तीन मिनट उस समय मौन रहे। यह नहीं तो सस्ते दामों की चीज तथा नमक उस दिन न खाए।

तुम्हें सम्मिलित रूप से विचारों का आदान-प्रदान करते रहना चाहिए। इसके लिये जगह-जगह अपनी-अपनी अलग समितियाँ बनी हुई हैं ही। जोधपुर वालों ने भी अपने भावी संगठित कार्यक्रम के लिए सोचा ही होगा।

जोधपुर,
१९, नवम्बर, '५३

१५४ : हृदय के सम्राट

आज विदाई समारोह है। जब यहाँ आना हुआ था, स्वागत समारोह मनाया गया था। उस समय मैंने अपने प्रवचन में कहा था—साधु-सन्तों या फकीरों का कैसा स्वागत और अभिनन्दन? वे वाचिक स्वागत से प्रसन्न नहीं होते और न होंगे ही। ये तो सिर्फ भक्ति के उद्गार हैं, जिन्हें भक्त बिना व्यक्त किये नहीं रह सकता। सन्तों की विदाई नहीं हो सकती। वे तो हृदय के सम्राट हैं। लोग स्थान-परिवर्तन को ही विदाई कहते हैं। पर यहाँ तो स्वागत के साथ विदाई और विदाई के साथ स्वागत जुड़ा रहता है। इसे क्या कहा जाय—विदाई या स्वागत?

स्वागत-समारोह के भाषण में मैंने कहा था कि मेरे सिवाय और भी सन्तों का आगमन चातुर्मास के लिए हुआ है। सभी सन्तों को चाहिए कि वे साम्प्रदायिकता को ख्याल में न रखते हुए जन-जन में नैतिकता की लहर दौड़ाएँ जिससे अशान्त विश्व शान्ति का अनुभव करे। अपने-अपने कार्य का प्रतिपादन मण्डनात्मक हो। मण्डन में खण्डन ठहरेगा भी नहीं। किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप या छींटाकशी न की जाय। इससे मैत्री का व्यवहार बढ़ेगा। हमने अपनी ओर से इस वादे को निभाया। इस वादे में हमें कोई भी दिक्कत नहीं हुई और होती भी क्यों? हमें तो यह जन्म घूंटी के तौर पर मिलता है। हमारे पूर्वाचार्यों ने इसे निभाया है और हम निभाते आये हैं। दिक्कत तो उन्हें होती है जिन्हें वातावरण उभाड़ने की आदत पड़ी हुई है। आशा है हम उसे जीवन भर निभाते रहेंगे।

जोधपुर का प्रवास अच्छा रहा। यह हुआ, वह हुआ, इसे दोहराने मात्र से मैं संतुष्ट नहीं होता। मुझे संतुष्टि तब होगी जब उन कार्यक्रमों से मिली प्रेरणा से आप अपने जीवन को जागृत करते रहेंगे। मैं आत्मशक्ति पूर्वक कहूँगा कि जनता इसे याद रखेगी। मैं आपको भूलूँ या नहीं, पर आप मुझे मत भूलिये। मुझे नहीं, मेरे कार्यक्रमों को, विचारों को और नैतिक क्रान्ति को याद रखिये। मैं आपको धार्मिक बनानेवाला नहीं, मैं तो सिर्फ प्रेरक हूँ। उठने, तिरने और धार्मिक बननेवाले तो आप ही हैं। मेरे द्वारा दी गई प्रेरणा को जनता याद रखे और उसके सहारे अपना जीवन जागृत करे।

अणुव्रत-आन्दोलन को जोधपुर के इस चतुर्थ अधिवेशन में बड़ा बल मिला है। दिल्ली में जब इसका प्रथम अधिवेशन हुआ था तो लोगों को यह आशा नहीं थी कि यह चलेगा। पर अब उन्हें आशा होने लगी है। इसका रूप व्यापक होने लगा है। इससे अहिंसाकर्मियों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। मैं सब वर्गों से कहूँगा कि वे दुनियाँ के सुधार में अपना सुधार न भूलें। जो स्वयं न सुधरेगा वह दूसरों को क्या सुधारेगा? व्यक्ति को न उठाकर देश और राष्ट्र को उठाने का प्रयास निरर्थक-सा लगता है। भगवान् महावीर ने फरमाया—"यदि व्यक्ति ने अपनी आत्मा को जीत लिया तो उसने समूचे संसार को जीत लिया, जिसने अपनी आत्मा को नहीं जीता पर करोड़ों पर अनुशासन करता है फिर भी वह पराजित है"।

साम्प्रदायिकता और संकीर्णता को छोड़कर आप अपने को जीतें, उठावें, यही मेरा अभिनन्दन और स्वागत होगा।

जोधपुर,
१७ नवम्बर, '५३

१५५ : अदृश्य अग्नि

ओ मानव ! मुझे तुमसे कुछ नहीं कहना है। मैं तो सिर्फ एक बात पूछना चाहता हूँ—तुझे कितना जीना है? करोड़ों या लाखों वर्ष नहीं, लगभग सौ-पचास साल। फिर क्यों उड़ाता है अपने जीवन की धूल? क्यों खोता है मानवता? इस छोटीसी जिन्दगी में तू कूड़, कपट, चोरी, जारी, व्यभिचार और न मालूम क्या-क्या कर लेता है। मांस तू खा लेता है, शराब तू पी लेता है। भला ये मानवता के साधन हैं? क्या इन्हीं कारनामों से तू शान्ति चाहता है? इस तरह से शान्ति संभव नहीं! तू अपने अन्दर क्रोध को छिपाये रखता है, अहम् का पोषण करता है। तुझे शान्ति पाने के लिए तथा अपनी रक्षा करने के लिए किसी बाहरी कवच की आवश्यकता नहीं। यदि तुझे शान्ति पानी है तो बाहरी कवच की कोई आवश्यकता ही नहीं और यदि नहीं, तो बाहरी कवच तुझे शान्ति नहीं दे सकते। चाहे तू अपने आपमें कितना ही बड़ा क्यों न हो? तू सब व्यवस्था कर सकता है पर शान्ति मिलने की नहीं, तेरी अन्तर-आत्मा की रक्षा होने की नहीं, जब तक दुष्ट क्रोध तुझमें विराजमान है। वह दुष्ट क्रोध जो अदृश्य अग्नि है। जो तेरी अन्तरात्मा के गुणों को जलाती रहती है। तू उसे बाहर निकाल, क्षमा-आभूषण धारण कर और फिर देख तुझे कितनी शान्ति मिलती है। वही शान्ति जिसके लिए आज तू लालायित है और कब से तरस रहा है।

जोधपुर,
१८ नवम्बर, '५३

१५६ : शक्ति की संज्ञा

आज का जन-जीवन विषमता से गुजर रहा है। विषमता इतनी बढ़ती जा रही जैसे चन्दन के वृक्ष से साँप लिपटते जा रहे हों। अब मनुष्य विषमता से अवकाश चाहता है, शान्ति चाहता है। पर विषमता पर काबू पाया जा सकता है अहिंसा और आत्म शक्ति के सहारे। वास्तव में दुनियाँ में किसी में शक्ति है तो वह हैआत्मा और अहिंसा में। रूप और रंग में शक्ति नहीं, मोटे शरीर में शक्ति नहीं, बड़ी बड़ी दाढ़ी और मूछों में शक्ति नहीं और हिंसा में शक्ति नहीं। किसी को मार देने में वीरता नहीं, वीरता है मार सकने पर भी नहीं मारने में। आज वीरता दिखाई जाती है हिरण जैसे भोले-भाले जानवर पर, जो तृण खाकर गुजारा करता है। एक समय था जबकि क्षत्रिय किसी अपराधी को मारता, पर उस समय यदि वह मुँह में तृण रख लेता तो तलवार जहाँ पर रहती, वहीं रह जाती। पर आज तो तृण खाकर जीनेवालों पर ही वीरता दिखाई जाती

है। वास्तव में जब वर्ण-व्यवस्था की गई थी तो क्षत्रिय वे ही कहलाये, जिन्होंने रक्षा का भार लिया था। समय ने करवट बदली, रक्षक भक्षक बन गये और उनके पतन का एक कारण यह भी बना। इसी तरह वैश्य, ब्राह्मण आदि अन्य वर्णों में भी दुर्गुण घर करते गये। आत्मा को दुर्गुणों से बचाना है, मर्दमी रखना है और आज ऐसी ही मर्दमी का परिचय देना है।

तेरापन्थी भाइयो और बहनो! अणुव्रत-संघ दिन पर दिन विकासोन्मुख है। बड़े-बड़े लोकप्रिय व्यक्ति इसके समर्थन में हैं, इससे फूलना नहीं चाहिए, अपितु तुम्हें मर्दमी का परिचय देना है। तुम पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। यदि दूसरों ने इसके उपयोग को आँका और तुमने इस ओर ध्यान नहीं दिया तो इससे बढ़कर और कोई भूल नहीं होगी। तुम्हें इस योजना को जीवन में उतारना है और जीवन को इसके अनुकूल बनाना है। यह संघ तेरापन्थियों का ही नहीं, सबका है। मैं सबको—सन्तों, महन्तों, क्षत्रियों, ब्राह्मणों, वैश्यों, शूद्रों, पुरुषों एवं सद्नारियों को यह आह्वान करूँगा कि वे इस आत्म-शक्ति को बटोरनेवाले आन्दोलन में अपनी मर्दमी का परिचय दें। खुद अपने जीवन को उठाएँ और दूसरों का जीवन उठाने के लिए एक सबक बनें।

जोधपुर,
२० नवम्बर, '५३

१५७ : सत्य पन्थ का अनुसरण

आज मुझे वे बातें याद करनी हैं जो मैंने यहाँ पहुँचने के दिन कही थीं। उस दिन मैंने अपने प्राथमिक भाषण में कहा था कि मैं जोधपुर में आ गया हूँ और साथ-साथ और भी बहुत से सन्तों का यहाँ आगमन हुआ है। इस अवसर पर मैं अपने हृदय की यह भावना, आकांक्षा व्यक्त करना चाहता हूँ कि सन्तों की पावन-वाणी और आध्यात्मिक जागृति से जोधपुर के वातावरण में एक नूतन परिवर्तन आए, वह ऊँचा उठे और लोग जागृत हों। इसके साथ-साथ मैंने अपने हृदय की आवाज से यह भी कहा था कि हम जो सन्त यहाँ आये हैं, हमारा यह कर्तव्य है कि हम असंकीर्ण दृष्टिकोण से मौलिक विचार-तत्त्व को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करें, जिससे आज का अशान्त व व्याकुल जन-समुदाय सुख व शान्ति का अनुभव कर सके और आज के तिमिराच्छादित विश्व में उनके लिये प्रकाश की एक विद्युत-रेखा चमक उठे। इसके आगे यह भी कहा था कि आज का युग एकता का युग है। एकता को ठेस पहुँचानेवाली प्रवृत्तियाँ आज मानव-समाज के लिये अभिशाप समझी जानी चाहिए। ऐसे समय में सब सन्तों का यह निश्चित कार्यक्रम होना चाहिए कि हमारे तत्त्व-प्रतिपादन की

शैली मण्डनात्मक हो न कि खण्डनात्मक। यद्यपि जहाँ सत्य का मण्डन होगा, वहाँ साहूकार का समर्थन होगा ही, और मिथ्या और चोर का खण्डन तथा तिरस्कार अपने आप होगा। खण्डन से मतलब यह है कि हम व्यक्तिगत आक्षेप, विरोध और छींटाकशी से परे रहकर बंधुता और मैत्री का सन्देश ले जन-जागृति के पुनीत अनुष्ठान में अपनी शक्ति लगाएँ। ऐसा होने पर हमारा यहाँ आना सर्वथा सफल व सार्थक होगा; वातावरण में एक सजीवता आएगी, और मैत्री तथा बन्धुता के व्यवहार का जन-जन में प्रसार होगा। मुझे याद है, उस समय मैंने यह वायदा किया था कि हमारी ओर से ऐसा कोई कदम नहीं उठाया जाएगा और न कोई ऐसा कार्यक्रम होगा जिससे जनता में बंधुता और मैत्री के बदले विरोध तथा वैमनस्य का वातावरण फैले। मुझे पूर्ण प्रसन्नता है कि हमने अपने वायदे को पूर्णतया निभाया। हमें इसमें क्या दिक्कत हो सकती थी जबकि हमारे पूर्वाचार्यों की हमें सदा से विरोध को विनोद समझने की शिक्षा मिलती आई है और आज भी हम किसी भी क्षेत्र, किसी भी समय और किसी भी वातावरण में अपनी इस नीति और अपने इस कार्यक्रम को पूर्ण सजगता के साथ निभाते आये हैं। दिक्कत तो उन लोगों को पड़ती है जिनकी आदत बिगड़ी हुई है। जोधपुर-प्रवास में हमने अपना वायदा निभाया, यह तो है ही, मगर सही बात यह है कि हम अतीत में यह वादा निभाते रहे हैं और भविष्य में यह वादा निभाते रहेंगे।

व्यक्ति सब समान नहीं होते; सब किस्म के होते हैं। कुछ शान्ति चाहते हैं तो कुछ ऐसे भी होते हैं जो विरोध और वैमनस्य में ही रुचि लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों के कारण यही हो सकता है कि वातावरण गन्दा हो जाय, मगर जो शान्तिवादी हैं उनका यह कर्तव्य नहीं कि वे गन्दे वातावरण से प्रभावित होकर उसमें अपनी शान्ति व सहिष्णुता को गायब कर बैठे। वह भली शक्ति किस काम की, जो बुरी शक्तियों के सामने परास्त हो जाय। भली शक्तिवालों का यह कर्तव्य है कि वे ऐसा गन्दा वातावरण उपस्थित होने पर अपनी भली शक्ति के द्वारा अपने आपका और अपने समाज का ही नहीं; अपितु सर्वसाधारण जनता का भी उन बुरी शक्तियों के दुष्प्रभाव से संरक्षण करें।

दूसरी बात मुझे यह कहनी है कि अभी-अभी लोगों ने हमारे जोधपुर-प्रवास में हुए अहिंसात्मक व नैतिक कार्यक्रम को भूरि-भूरि प्रशंसा के साथ दोहराया। मगर मैं सिर्फ किसी अच्छे कार्यक्रम के दुहराने मात्र से सन्तुष्ट होनेवाला नहीं हूँ। जैसे अभी कमिश्नर साहब ने कहा—"जो हुआ उसको केवल दुहराने मात्र से कुछ नहीं होगा। उसे प्रतिपल याद रखकर उससे शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करके ही हम सफल हो सकते हैं।" मैं सब लोगों से बलपूर्वक कहूँगा कि वे जनता के विकास के लिये हुए कार्यक्रम को अपने हृदय में स्थायी बनाएँ; उन्हें भूल न जाएँ। जोधपुर में इस बार जो नैतिक

क्रान्ति की एक लहर दौड़ी है, एक चिनगारी जली है वे उसे बुझने न दें। लोगों ने अभी-अभी कहा—"आप यहाँ से विदा होकर हमें भूल न जाएँ"। मैं तो उनसे ही कहूँगा—कहीं वे ही मुझे न भूल जायँ। इसका मतलब यह है कि मेरे कार्य और मेरे विचारोंके द्वारा नैतिक-आन्दोलन को जो बल मिला है, उसे वे भूल न जायँ। उसको भूलने का ही मतलब है—'मुझे भूलना' और उसको याद रखने का ही मतलब है—'मुझे याद रखना'। यह ठीक है मैं आपका वायदा निभाऊँगा मगर यदि मैं आपको भूल भी जाता हूँ तो इससे मेरा कोई अनिष्ट होनेवाला नहीं है। किन्तु यदि आपने मुझे भुला दिया तो इससे आपका बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। मैं सिर्फ आपको उठाने, जगाने और तराने के लिये एक धार्मिक प्रेरक मात्र हूँ; आखिर उठना, जगना और तरना तो खुद आप को ही होगा। अगर कोई उठना चाहता ही नहीं तो मैं उसे जबरन कैसे उठा सकता हूँ। विद्यार्थी जब उत्तीर्ण होना चाहता है तो उसके लिए शिक्षक की प्रेरणा सफल हो सकती है किन्तु जब विद्यार्थी उत्तीर्ण होना चाहता ही नहीं तो शिक्षक की अनेक चेष्टाएँ भी उसे उत्तीर्ण कराने में सफल नहीं हो सकती। अतएव इस दृष्टि से हमारी अपेक्षा आपको हमें याद रखना अत्यन्त आवश्यक है।

हमारा जो कार्यक्रम है वह केवल जैन या तेरापन्थ सम्प्रदाय का ही नहीं है। वह तो समूचे विश्व का है उसमें न सांप्रदायिकता है और न संकीर्णता। व्यापक दृष्टिकोण से एक सम्प्रदाय या एक संस्था के द्वारा चलाए गए किसी कार्यक्रम में संकीर्णता का सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। मैं तो इसे बिना किसी भेदभाव के जन-जन में फैलाना चाहता हूँ। मेरे सामने सम्प्रदायवाद, जातिवाद और वर्गवाद का कोई सवाल नहीं। अगर मेरे द्वारा प्रवर्तित नैतिकता के कार्यक्रम को कोई अपनाता है तो फिर वह किस सम्प्रदाय, किस जाति और किस वर्ग का सदस्य है, इत्यादि प्रश्न मुझे कभी नहीं सताते। जो संसार के हर प्राणी के लिये काम होता है, वही काम, काम है। जिस काम से केवल अपना भला हो और बाहरवालों को कोई लाभ न पहुँचे वह काम न तो व्यापक बन सकता है और न व्यापक कहला ही सकता है। 'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः प्राणिनामस्ति तत् फलम्'—वर्षा और आतप आकाश से धरातल पर पहुँचते हैं। आकाश उनका आधार होने पर भी आकाश को उनसे कोई लाभ नहीं पहुँचता। आकाश के द्वारा उनके लाभ को नहीं पहचाना जाता। उनका लाभ तो धरातल पर बसने वाले चर्मधारी प्राणियों के द्वारा ही पहचाना और अनुभव किया जा सकता है। इसी तरह हमारा कार्यक्रम यदि अपने घर तक ही सीमित रहता है तो इससे वह व्यापक नहीं कहला सकता। वह व्यापक तभी कहलाता है जब जनसाधारण उसे अच्छी तरह समझकर अपनाने के लिए लालायित और उत्कंठित बनते हैं। जिस कार्यक्रम को हमने उठाया और चलाया वह

आज भारत के कोने-कोने में पहुँच चुका है। जिस तरह राष्ट्र में स्थान-स्थान पर जन-नायकों व जन-साधारण ने उत्सुकतापूर्वक अहिंसा दिवस मनाया है ; उससे यह प्रतीत होता है कि अणुव्रत-योजना ने जन-जन के मानस में अपना गहरा स्थान बना लिया है।

इस अवसर पर मैं समाज के लोगों से विशेष जोर देकर कहूँगा कि वे हरपल यह अनुभव करें कि उनके कन्धों पर एक विशेष जिम्मेवारी है। जिस समाज से अणुव्रतों का प्रवर्तन हुआ है, मैं चाहता हूँ उस समाज के लोग अणुव्रतों को अपने जीवन के अनुकूल ढालने का अविलम्ब प्रयत्न करें। उनके लिए यह अनिवार्य है कि उनके कार्य-क्षेत्र में जो-जो बुराइयाँ व अनैतिकताएँ घुसी हुई हैं उनको वे शीघ्रातिशीघ्र दूर कर अपने कार्यक्षेत्रों को अधिक से अधिक नैतिक व शुद्ध बनाएँ। वे जिस वर्ग में रहते हैं, जिस सार्वजनिक व सामाजिक कार्यक्रम में भाग लेते हैं उनमें घुसी हुई बुराइयों का उन्मूलन करने का प्रयास करें। प्रयास करने पर भी अगर ऐसा न हो सके तो कम से कम अपने आपको तो उन बुराइयों से अवश्य ही बचाएँ।

इस बार अणुव्रती संघ का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन यहाँ पर हुआ। इससे पूर्व तीन अधिवेशन दिल्ली, लुधियाना व सरदारशहर में हुए। इस बार यहाँ जो अधिवेशन का व्यापक रूप देखा गया वैसा पहले देखने में नहीं आया। दिल्ली में प्रथम अधिवेशन के अवसर पर भारत में ही क्या विदेशों में भी अनैतिकता के शत-शत आघातों से अस्त-व्यस्त युग में नैतिकता के इस पुनीत आन्दोलन पर हर्षमिश्रित विस्मय प्रकट किया गया किन्तु उस समय लोगों के हृदय सशंक थे। उन्हें आशा नहीं थी कि यह कार्यक्रम स्थायी रूप से अग्रसर हो सकेगा। मैं समझता हूँ कि लोगों में जो निराशा और संदेह थे, वे क्रमशः दूर हटते हटते इस बार के अधिवेशन में प्रायः निर्मूल हो गए हैं। लोगों को इसकी कार्य-पद्धति और इसके पीछे लगी शक्ति को देखकर यह आशा और विश्वास होने लगा है कि यह कार्यक्रम दिन-प्रतिदिन स्थायित्व ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ रहा है और इससे अब लोगों को बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ प्रतीत होने लगी हैं। अणुव्रती संघ का यही लक्ष्य है कि मानस का नैतिक धरातल और उसका चारित्रिक पक्ष सदा उज्ज्वल और विशुद्ध रहे।

आज देश में लोकभाव को जाग्रत करने के उद्देश्य से कई प्रकार के कार्यक्रम चल रहे हैं और जहाँ तक सफलताका सवाल है, मेरा यह निश्चित अभिमत है कि हिंसा-त्मक क्रांति का कार्यक्रम सही नहीं है यही कारण है कि उसे वास्तविक मानव-कल्याण करने में सफलता नहीं मिल सकी है। सही कार्यक्रम अहिंसात्मक क्रांति है जो जन-जन के हृदय को स्पर्श कर, उथल-पुथल मचाकर और उसमें आमूल-चूल परिवर्तन कर अपनी अभीष्ट मंजिल की तरफ गतिशील होती है, मेरा विश्वास उसी क्रांति में है।

यही क्रांति, वास्तविक मानव-कल्याण की स्थापना करने में सफलता प्राप्त करने का सामर्थ्य रखती है।

यद्यपि यह सच है कि मैं आपसे दूर चला, मगर मुझे यह भी विश्वास है कि मेरी भावना और मेरे विचार यहाँ काम करते रहेंगे। मैं सब लोगों से जोर देकर कहना चाहता हूँ कि वे चाहे किसी वर्ग के हों, चाहे किसी समाज के हों, चाहे नेता हों, चाहे मजदूर, वे इस बात को सदा याद रखें कि कहीं वे पर-सुधार की उधेड़बुन में फँसकर अपने आपको न भूल जायँ। कुछलोगों को ऐसी 'धुन' भी लग जाती है कि वे स्व-सुधार को ताकपर रखकर पर-उद्धार की बड़ी-बड़ी थोथी आवाजें बुलन्द करने में ही अपनी कुशलता और सफलता समझते हैं। यह अपने आपके साथ धोखा और विश्वासघात है। व्यक्ति-सुधार से बढ़कर दूसरा कोई सुधार नहीं है। व्यक्ति ही समाज और राष्ट्र-निर्माण की रीढ़ है। व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर ही समाज और राष्ट्र के रूप में परिणत होते हैं। अतएव व्यक्ति-सुधार की उपेक्षा कर समाज-सुधार की थोथी भावना को लेकर चलना सुधार की वास्तविक पद्धति के साथ खिलवाड़ करना है। यदि हरेक व्यक्ति अपना-अपना सुधार कर लेगा तभी राष्ट्र और समाज का उत्थान हो सकेगा। यदि आपको समाज और राष्ट्र-सुधार प्रिय है तो आप भगवान् महावीर के इस अमूल्य उपदेश को याद करें :—

"एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहाउ जिणित्ताणं, सव्व सत्तु, जिणामहं"॥

जो मनुष्य अपनी आत्मा को जीत लेता है वह समूचे संसार को जीत लेता है। जो अपनी आत्मा को नहीं जीत सकता वह चाहे फिर कुर्सी पर बैठकर करोड़ों मनुष्यों पर शासन क्यों न करे, फिर भी वह पराजित है। अतएव अपने आप पर नियन्त्रण रखकर मनुष्य अहिंसा और अपरिग्रह के राजमार्ग पर आगे बढ़े। मैं उसे हिंसक मानता हूँ जिसके द्वारा कोई दुःखी हो। उदाहरणतः अगर एक व्यक्ति इसलिये भूखा है कि आपने उसकी आजीविका यानी अविकल साधन-सामग्रियों का अपहरण कर लिया है तो उसके भूखे होने में आप साक्षात् निमित्त हैं और आप उस हिंसा के भागी हैं। अगर सूक्ष्मता से देखा जाय तो संग्रहवृत्ति ही अनेक दोषों का मूल है। संग्रह-वृत्ति से आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, अधिक आवश्यकताओं से शोषण पनपता है और शोषण से हिंसा की ज्वाला धू-धू कर जल उठती है। इन दोषों से बचने के लिये आप अपनी वृत्तियों को बटोरिए, उन्हें पहचानिए और उनका परिमार्जन कीजिए। वास्तव में असंग्रह-वृत्ति मानव-जीवन के लिये सफलता का मूल सूत्र है। उसे अपनाइए। इससे आपका जीवन सफल होगा।

अन्त में मैं सबसे यही अनुरोध करूँगा कि वे ऐसे प्रेरणादायक भव्य पन्थ का अनुसरण करें जिससे मैत्री व बन्धुता की भावना को विस्तार मिले और संकीर्णता तथा साम्प्रदायिकता की जड़ें निराधार और निर्बल होती चली जायें।

जोधपुर,
२१ नवम्बर, '५३

१५८ : सुख का मार्ग

जो अकिंचन फकीर होते हैं वे मात्र वाचिक स्वागत से कभी प्रसन्न और सन्तुष्ट नहीं होते। वे सन्तुष्ट होते हैं—हार्दिक उद्‌गारोंसे हृदय की अन्तरतम श्रद्धा व भक्तिरस से ओत-प्रोत भाव-लहरी से। सन्तों का स्वागत ऐसा ही होना चाहिए। ऐसा स्वागत, स्वागत नहीं बल्कि सन्तों के कार्य में वह सक्रिय सहयोग है। इससे बढ़कर फकीरों व अकिंचनोंका जो स्वागत होना चाहिये वह यह होगा कि जिसका स्वागत करने के लिये जिसके पास जाएँ वह स्वागत भी वैसा ही हो। वह उनके पास जाकर फकीरी व अकिंचनता का पाठ पढ़े। इसका मतलब यह नहीं कि भूखे फकीरों व भिखमंगों की भीड़ बढ़े। हमें वह नहीं बढ़ानी है। हमें तो अपरिग्रह की भावना को बल देना है। अपरिग्रहियों के पास जानेवाले अपरिग्रही बने यही हमारा काम्य है। अपरिग्रही बननेवाले न भूखे होते हैं न भिखमंगे और न गरीब ; वे त्यागी होते हैं। अतएव सन्तों का स्वागत त्याग के द्वारा होना चाहिये। दिन, मास या वर्ष तक यथाशक्य जीवन को त्यागमय बनाने वाले सन्तों के स्वागताभिनन्दन के सही तरीके ये ही होंगे। इससे भी बड़ा स्वागत करना चाहें तो वह है—बुराइयों का परिहार। बुराइयों का खजाना भरा पड़ा है। आज जन-जीवन बुराइयों से ओत-प्रोत हो रहा है। जीवन की एक-एक बुराई सन्तों के चरणों में रख देने से जहाँ आपका जीवन कुछ हल्का व उज्ज्वल होगा, वहाँ सन्त भी आपके इस सक्रियात्मक स्वागत से प्रसन्न होंगे।

अब मुझे उस कार्य की शुरूआत करनी है, जिसके प्रचार में गाँव-गाँव, देहात-देहात और नगर-नगर घूम रहा हूँ। आज उसी कार्य का मुझे यहाँ भी श्रीगणेश करना है। आज का युग कैसा जटिल और विषैला बना हुआ है। सहस्रों मीलोंमें यही एक आवाज गुंजायमान हो रही है—"हम दुःखी हैं, अशान्त हैं, हमें सुख और शान्ति नहीं मिल रही है।" मैं समझ नहीं पाता, लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं ? वे मन ही मन सुखी या दुखी होने की कल्पना ही करते हैं या दुःख से छुटकारा और सुख की उपलब्धि के लिये कुछ उद्योग भी करते हैं ? मैं तो जहाँ तक लोगों का अध्ययन कर

पाया हूँ, बहुधा लगता है कि लोग दुखी होना तो नहीं चाहते मगर चलते वे उसी मार्ग पर हैं जहाँ उन्हें दुःख ही दुःख मिले। दुखोत्पादन-मार्ग से सुखोपलब्धि की कल्पना कैसे साकार और सार्थक बन सकती है? आज तक भी ऐसा नहीं हुआ कि किसी ने जल मथकर मक्खन निकाला हो। अब पता नहीं, आज के वे वैज्ञानिक जो आकाश में प्लेटफार्म बनाने और चन्द्रलोक की यात्रा करने के लिये लक्ष्यबद्ध हुए हैं, शायद जल से भी मक्खन निकालकर दिखा दें। मगर वस्तुतः यह एक असम्भाव्य कल्पना है, जिसका सम्भव होना बहुत मुश्किल प्रतीत होता है। यह कभी भी होने का नहीं। त्रिकाल में भी जल से मक्खन प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये अगर लोग सुखी बनना चाहते हैं तो दृढ़तापूर्वक सुखका मार्ग अपनावें। उस पर वे चलें, अवश्य ही उनका जीवन दुःख और त्रास के थपेड़ों से मुक्त होकर सुखी और शान्त बनेगा।

आप पूछेंगे—सुख का मार्ग क्या है? मैं कहूँगा—सुख का मार्ग है—प्रतिस्रोत में बहना। दुनियाँ जहाँ अनुस्रोत में बह रही है, वहाँ उसे सुख नहीं मिल रहा है। पाश्चात्य देशवासी भोगलिप्सा बढ़ाकर उसकी तृप्ति में सुख पाना चाहते हैं मगर आपको भोगलिप्सा के स्थान पर त्यागवृत्ति को अपनाना होगा और इच्छाओं तथा लालसाओं पर नियन्त्रण रखकर सुख के मार्ग पर आगे बढ़ना होगा। वहाँ आपको सुख प्राप्त होगा। जहाँ भौतिकता के चंगुल में फँसे हुए पाश्चात्य देशों के निवासी अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा कर उनकी पूर्ति के साधनों के उत्पादन की वृद्धि द्वारा सुखी होना चाहते हैं वहाँ आपको अपनी आवश्यकताएँ घटाकर, सीमित कर, सुख-मार्गणा करनी होगी, सुखी बनना होगा। अतः आप चालू प्रवाह में न बह कर प्रतिस्रोत को अपनाइए। आज तक के इतिहास, शास्त्र और अनुभव यह उद्‌घोषणा करते आए हैं कि आवश्यकताओं को बढ़ाने से कभी वास्तविक सुख को हस्तगत नहीं किया जा सकता। ज्यों-ज्यों आवश्यकताएँ कम होती चली जाएँगी त्यों-त्यों सुखास्वाद तीव्र से तीव्रतर होता चला जाएगा। इसी तथ्य को लक्ष्य कर मैंने आज की अविकल समस्याओं का हल बताते हुए यह कहा है :

हल है हल्कापन जीवन का,
  है एकमात्र अनुभव मन का ;
आडम्बर और दिखावट तज,
  जीवन में सादापन लाओ।
ऐ दुनियाँवालो ! सुनो जरा,
  दिलकी दुविधा को दफनाओ ॥
जीवन में सत्य-अहिंसा को,
  ज्यादा से ज्यादा अपनाओ ॥

यह हल वाचिक और शाब्दिक नहीं है। इसका आधार सशक्त मानसिक अनुभव है। आप जरा आँख मूँदकर एक क्षण के लिये हृदय से सोचिए तो सही, लक्ष्य आपको अपने आप दिखाई देगा। आज आपके जीवन में दुख उतना नहीं है जितना कि आप जीवन में भारीपन बढ़ा रहे हैं। यह भारीपन क्रमशः भारीपन को ही बढ़ाएगा जिसका निश्चल परिणाम निकलेगा—जीवन में दुःख का सद्भाव और सुख का अभाव। अतएव जीवन को सुख-तुष्ट और सुखानुकूल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि आप आडम्बर और दिखावटी-रूप तथा जीवन के बोझिल पक्ष को विषैला, विषधर समझकर उससे बचने का सतत प्रयास करें और जीवन के सुसंगठित तथा कुम्हलाये हुए सादापन के पक्ष को अधिक से अधिक जाग्रत ओर विकसित करें। हमारा अनुभव हमें यह साक्षात् बताता है कि घर में २० मनुष्यों के बीच परिग्रह-उपार्जन और परिग्रह के संग्रह तथा व्यय में जो सुख नहीं मिलता वह इस अपरिग्रही अवस्था में इतना मिलता है कि जिसका हम वर्णन नहीं कर सकते। आप कहेंगे आप सुखी क्यों न होंगे? आपको करना क्या पड़ता है? हाथ में तो आपने तुम्बा ले रखा है और आसानी से मिलती हैं आपको रोटियाँ। हाथ में तुम्बा लेनेवाले को चिन्ता किस बात की? कवि ने अपने पद्य में यही तो प्रकट किया है—

तुम्बो तरै अरु तुम्बो तारे, तुम्बो भूख कदे नहीं मारै ॥
जिण घर माहे तुम्बो बसे, उस घर चोर कदे नहिं धंसे ॥

तुम्बें में वह शक्ति होती है कि वह न तो स्वयं डूबता है और न जिसके पास में वह होता है उसको डूबने देता है; वह न किसी को भूखा मारता है और न जहाँ वह रहता है वहाँ चोर-डाकुओं को घुसने का अवसर ही देता है। ऐसा कहनेवाले लोगों से मैं पूछता हूँ कि फिर आप क्यों नहीं तुम्बा धारण कर लेते हैं? कहना सरल और करना बड़ा कठिन होता है। मालूम है तुम्बा लेने के लिये कितने आत्मबल की आवश्यकता होती है? उसे सर्वप्रथम अपने घर और समूचे संसार के साथ जुड़े समस्त ममतामय तुम्बों को बिखेरना पड़ता है और पथगत भयंकर कष्टों की उत्ताल तरंगों के बीच अडोल मेरू की तरह स्थिर रहने के लिये प्रस्तुत रहना पड़ता है। अतएव त्याग और अपरिग्रह की भावना को जाग्रत कर सत्य अहिंसा की पावन पुनीत अध्यात्म-धारा से जीवन को सुखी और शान्त बनाने की कोशिश कीजिए।

आप यह स्पष्ट समझें कि सुख और शान्ति आपको बाहर से मिलनेवाली नहीं है। वह आपकी अन्तरात्मा में ही विद्यमान है। सुख और शान्ति का खजाना अपनी अन्तरात्मा ही है। वहीं पर आप निष्ठापूर्वक खोजें। आपको वहाँ वे अवश्य मिलेंगे। उनके लिये आपको न अमेरिका जाना पड़ेगा, न रूस और न जापान। सुख तो व्यक्ति के

भीतर है। केवल दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। आज व्यक्ति और समाज की दृष्टि बहिर्मुखी है। दृष्टि जिस समय अन्तर्मुखी हो जाएगी उस समय सुख और शान्ति का मापदण्ड ही बदल जाएगा।

इसके साथ-साथ जो दूसरी बात मुझे कहनी है वह यह है कि आज यश और पद की भूख विकराल रूप से बढ़ रही है। यह भूख रोटी की भूख को भी मातकर गई है। यह ठीक है कि जो निष्पक्ष और क्रियाशील व्यक्ति होंगे, जनता उन्हें स्वयं अपना सहयोग देकर देश की सेवा करने का अवसर देगी और साथ-साथ उच्चपद और प्रतिष्ठा का भी उपभोक्ता बनाएगी। मगर पद और प्रतिष्ठा की भूख तथा लालसा का होना व्यक्ति, समाज और देश की व्यक्तिगत या समष्टिगत प्रगति के लिये भयंकर रूप से खतरनाक और हानिप्रद है। आज देश का हर भाग भूख और अवांछनीय तृष्णा से त्रस्त, उद्विग्न और अशान्त है। पद और प्रतिष्ठा के उम्मीदवार स्वयं की असफलता के साथ-साथ सम्बद्ध समाज और देश की क्रियाशीलता को भी असफल और कुंठित बना बैठते हैं। अचरज तब होता है जब मैं काम करनेवाले विशिष्ट व्यक्तियों में भी इस भूख को देखता हूँ। मैं उन सबसे कहूँगा—बन्धुओ! यह निश्चित समझिए, पद और प्रतिष्ठा की भूख रखने से वे आप से सदा दूर-दूर भागेंगे और अगर आप उनसे सदा दूर भागने की कोशिश करेंगे तो अनायास वे आपके पीछे दौड़ेंगे और फिर आप उनका साथ छुड़ाना चाहकर भी नहीं छुड़ा सकेंगे। अतएव सबका लाभ इसी में है कि यह पद और प्रतिष्ठा की अनावश्यक भूख मानव-मात्र के हृदय से मिट कर समाप्त हो जाए।

इसके साथ आज जब मैं राजनीति की तरह धर्मनीति में भी इस भूख की काली करतूतें देखता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है—यह क्या कोई धर्मनीति है? या सिर्फ खोखले शरीर पर धर्मनीति का जामा पहनाया हुआ है? धर्मनीति की सीमा में भी क्या कभी विद्रोह, विक्षेप, विग्रह, लड़ाई, झगड़े, संघर्ष और कलह आदि क्षम्य हो सकते हैं? आज लोगों ने स्वार्थवश धर्मनीति को अपने स्वार्थपूर्ति का हथियार बना रखा है। वह क्या धार्मिक है जो विचारसहिष्णु भी न बन सके और वे कैसे धार्मिक हैं जो औरों के पास जाने मात्र से, औरों के विचार सुनने मात्र से अपनी श्रद्धा और धर्म खो बैठे हैं? वे कैसे हैं जो औरों की भली बातों को ग्रहण करने में स्वतन्त्र न हों? वह कैसे धार्मिक हैं जो साम्प्रदायिकता और संकीर्णता के तुच्छ दृष्टिकोण का पोषण करते रहते हैं। इन सबके विपरीत धार्मिक तो वह होगा जो अपने दिमाग को उदार, विशाल और असंकीर्ण रखता हुआ औरों की अच्छाइयों को सहर्ष आत्मसात् करने की क्षमता रखता है और ग्रहण की हुई बुराइयों का परिहार करता है। धार्मिकों का समाज व्यापकता की निश्चित शर्त है। उसमें भी जब जाति, वर्ग, रंग, धनी, निर्धन, बली,

निर्बल आदि को लेकर असद्भाव प्रचारित किया जाएगा तो फिर दूसरा ऐसा कौन सा समाज होगा जहाँ प्राणिमात्र के लिये समानता की गारण्टी प्रस्तुत की जाएगी ? आचार्य श्रीमद् भिक्षुस्वामी के स्वर्गारोहण की तिथि के अवसर पर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मैंने कहा था—प्रभुवर ! आपने धर्म की विशुद्धि और व्यापकता का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हुए हमें यही तो बताया था कि—

जातिवाद से, अर्थवाद से, व्यर्थवाद से दूर।
बलात्कारिता, चाटुकारिता, नहीं हमें मंजूर।
धर्म हृदय-परिवर्तन है, फिर क्या निर्धन-धनवान ?
धर्म हृदय-परिवर्तन है, फिर क्या निर्बल-बलवान ?
लो लाखों अभिनन्दन, आत्म-विजय का दो वरदान।

अर्थात्—धर्म हृदय-परिवर्तन है, धर्म विश्व-बन्धुता है तथा धर्म विश्व-मैत्री है। धर्म हर प्राणी के साथ भाईचारे का बर्ताव करता है। धर्म जातिवाद, वर्णवाद, अर्थवाद और व्यर्थवाद की सीमाओं से सर्वथा दूर है। उसको बलात्कार और प्रलोभन कभी किसी स्थति में भी स्वीकार्य नहीं। निर्धन और धनवान, निर्बल और बलवान हर किसी को धर्म के शोभायमान विराट् भवन में चरण धरने का निरपवाद अधिकार है। वह धर्म जो बुराइयों को चूर-चूर कर भस्मसात् करने की हर पल सत्प्रेरणा प्रदान करता है उस सत्य अहिंसामय परम-पावन धर्म को आप समझें, विचारें और फिर बिना किसी ननुनच के जीवन में उसका यथाशक्य अनुशीलन करने के लिये निर्भय अग्रसर हों।

ब्यावर,

१५९ : जीवन का निर्माण

मानव जीवन क्षणभंगुर है। डाभ के अग्रभाग पर स्थित ओसबिन्दु जैसे बड़ा सुन्दर लगता है, किन्तु धूप निकलते और हवा चलते ही उसका अस्तित्व मिट जाता है, ठीक उसी प्रकार आज जो जीवन आनन्दप्रद लग रहा है, कल न मालूम क्या हो सकता है ; अतः इस क्षणभंगुर परन्तु कीमती जीवन से कुछ लाभ उठाया जाय, नहीं तो यों ही चला जानेवाला है।

भौतिक सुख-सुविधाओं से जीवन सुखप्रद नहीं होता, यदि उसमें सत्य और अहिंसा का तत्त्व नहीं। सत्य केवल बाह्य आचरणों में न रहकर दैनिक कार्यक्रम, विचार और

भावना में आना चाहिए। अहिंसा के तत्त्व को लेकर मानव प्राणिमात्र के साथ अपना-सा व्यवहार करें। बस, ये दो तत्त्व जीवन में उतर गए तो समझिये जीवन बन गया। वह जीवन जो विषमता में से गुजर रहा है, जिसमें ईमानदारी सच्चाई और सात्त्विकता नाममात्र को रह गई है, ऊँचा उठेगा। पर मानव आज पथ-भ्रष्ट हो गया है। वह दिन-दिन विनाश को प्राप्त होनेवाली वस्तुओं से सबक सीख रहा है। मानव! जिसके नाम से प्राणियों को भय लगता था, काल से अपनी प्रतिरक्षा न कर सके। ओ मानव! तू आज क्यों अंधेरे में चला जा रहा है। तू एक दिन चला जायेगा। ये भौतिक सुख-सुविधाएँ तेरे क्या काम आयेंगी। वासनाएँ पीछे रह जाएँगी, तू चला जायगा। भलाई और बुराई पीछे रहेगी। तू दौरे पर जाता है, बड़े-बड़े प्रोग्राम बनाता है पर तुझे एक बहुत बड़े दौरे पर जाना है जहाँ से तू लौटेगा नहीं, तूने वहाँ के लिये क्या-क्या तैयारी की है? आयुष क्षण-क्षण कम हो रहा है—कुछ कर। मांस और शराब जैसी वस्तुओं को छोड़; ये तेरे खाने-पीने की नहीं हैं। इनसे मानवता मुक्त, संज्ञा सुषुप्त और ज्ञान खत्म हो जाता है। इनको छोड़कर जीवन में त्याग को स्थान दे। सत्य, अहिंसा को जीवन में उतार। क्रोध, मान, माया, लोभ को जीतने का प्रयास कर। इससे जीवन उठेगा वरना वह यों ही बरबाद हो जायेगा।

जोधपुर,

१६० : जीवन की सार्थकता

ईक्षु का खेत, खेत में ईक्षु रहने तक सुन्दर लगता है, नाट्यशाला का रंगमंच रात्रि में नाटक करने तक सुन्दर लगता है, बाजरी का हरा-भरा खेत खला निकलने के पूर्व तक सुन्दर लगता है, पर जोधपुरवासियों को इस तरह पहले रमणीक और फिर अरमणीक नहीं होना है। चातुर्मास काल में जो धार्मिक अभिरुचि दिखाई है उसे निरन्तर आगे बढ़ाते जाना है। जीना थोड़ा है। तुम्हें अपने इस अमूल्य जीवन को भौतिक सुख-सुविधाओं में नहीं खोना है। संसार की असारता को समझ धार्मिक कार्यों में जुट पड़ो, यही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है।

संयमहीन जीवन, जीवन नहीं। जीवन की सार्थकता है आत्म-नियन्त्रण में—संयम में।

स्वतन्त्रता के बाद लोगों में असाम्प्रदायिक भावना आएगी, ऐसी आशा की जाती थी। पर वह इसके बाद कुछ अधिक बढ़ी। धर्म में साम्प्रदायिक भावना अवांछनीय

है। देश के बड़े-बड़े नेता साम्प्रदायिकता को मिटाने के लिए भरसक प्रयास कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक कहलानेवाले यदि उसे प्रश्रय दें, बढ़ाएँ तो यह उनके लिए एक शर्म की बात होगी।

पोस्टरों पर देखा—'आचार्यजी के अमानवीय सिद्धान्त'; और न मालूम उनपर क्या-क्या लिखा था। बहुत से लोगों ने भी देखे और कुछ लोग तो इस इन्तजार में रहे कि दूसरी तरफ से क्या छपता है? पर उन्हें निराशा हुई, दूसरी तरफ से कुछ नहीं छपा। क्या मैं पूछूं; किसके ऐसे सिद्धान्त हो सकते हैं? वे पोस्टर क्यों छपे थे? क्या उनमें जन-मानस को उठाने का प्रयास किया गया था? या येनकेन प्रकारेण किसी के प्रति जन-मानस को भ्रान्त बनाना ही उनका लक्ष्य था? जिस किसी उद्देश्य से ऐसा किया गया हो पर किसी पर उनका कोई असर नहीं पड़ा। हमें इस तरह के किये जानेवाले प्रयासों से खेद नहीं करना है। क्योंकि गम्भीर-हृदय व्यक्ति ऐसे इश्तिहारों से भ्रान्त बनेंगे नहीं, और क्षुद्र हृदयवाले व्यक्ति भ्रान्त बन भी गये तो वे हमारे पास आकर भी क्या लाभ उठा सकते थे? हाँ, धर्म को आज जिस घृणित दृष्टि से देखा जाता है इसका बहुत कुछ श्रेय ऐसे साम्प्रदायिकता फैलानेवाले तथाकथित धार्मिकों को ही है।

आज इस बात की महती आवश्यकता है कि व्यक्ति धर्म पर आए। इसके साथ यह जानना आवश्यक है कि धर्म क्या है? धर्म मन्दिर और मठ नहीं है, धर्म मस्जिद और स्थल नहीं है, धर्म पुस्तक और पन्ने नहीं है, धर्म गङ्गा और गोदावरी नहीं है। धर्म अहिंसा है, धर्म सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह है। और धर्म है आत्माकी सद्‌प्रवृतियाँ। व्यक्ति आत्मा को पतित करनेवाले कारनामों से बचाये और ऊपर उठाने का प्रयास करे। हर-एक व्यक्ति विश्वबन्धुत्व का भाव रखे और इसके लिए वह साम्प्रदायिकता और संकीर्णता को त्यागे।

जोधपुर,

२८ नवम्बर, '५३

१६१ : समय को पहिचानो

जीवन चक्र अरहट की भाँति चलता रहता है। जैसे अरहट में कोई घड़ा खाली होता है तो कोई भरता रहता है, इसी तरह कहीं जन्म होता है तो कहीं मृत्यु होती है। बालक जवान होता है, जवान वृद्ध होता है और वृद्ध मृत्यु को प्राप्त करता है। यह है मानव-जीवन की नश्वरता। फिर भी मानव चेतता नहीं, वह मस्ती में अन्धा बना रहता है। इधर सन्तो का समागम भी तो दुर्लभ है। यही कारण है मानव ने धर्म, ध्यान, भजन आदि पवित्र कार्य छोड़ दिये और उसके जीवन में अनेक प्रकार की बुराइयाँ घर करती चली गई। उसने मानवता को लजानेवाले कार्य किये, मांस और मद्य जैसी घृणित वस्तुएँ सिर्फ खाई ही नहीं, अपितु उन्हें जीवन का एक आवश्यक अंग बना लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मानव से मानवता चल बसी। महान् कहलानेवालों की महानता मिट गई। अब भी समय है, समय को पहिचानो और इन घृणित वस्तुओं को हमेशा के लिए छोड़ दो। किसी का भी अहित मत करो। यदि जीवन में अच्छाइयों को स्थान दिया गया तभी वह सफल और सार्थक होगा।

सिलारी,

१ दिसम्बर, '५१

१६२ : परमात्म का अन्वेषण

मानव बुद्धिशील प्राणी है। वह अपनी दिमागी ताकत को अच्छी दिशा में मोड़कर अच्छा और बुरी दिशा में मोड़कर बुरा बन सकता है। पर आज वह लक्ष्यच्युत बन गया है। मानव का उद्देश्य है, परमात्म का अन्वेषण, दुःख से मुक्त पाने का प्रयास करना तथा बंधनों को तोड़कर आगे बढ़ना, निर्बन्ध बनना। उसका काम है स्वयं उठना और दूसरों को उठाना, स्वयं तरना और दूसरों को तराना, संयमी जीवन जीना और संयमी जीवन जीने में मदद करना। पर वह आज कर क्या रहा है? उसने अहिंसा की जगह हिंसा को प्रश्रय दिया, सत्य की जगह झूठ और कपट को अपनाया। त्याग के स्थान पर भोग और विलास को स्थान दिया। यही कारण है कि उसका जीवन भारभूत बन गया।

भारत ने आजादी पाई। वह स्वतन्त्र बना। विदेशी हुकूमत ने अपने बिस्तरे उठाये पर इतने मात्र से स्वतन्त्रता नहीं आयी। आजादी देश की आत्मा में आनी चाहिए थी। यह तो बाह्य स्वतन्त्रता हुई। यदि हुकूमत चले जाने मात्र से स्वतन्त्रता मिलती तो आज जन-जीवन में जुआ, चोरी, भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी जैसे दुर्गुण न मिलते।

स्वतन्त्रता का रुख बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी होना चाहिए। इसके लिए जीवन में धर्म को स्थान दिया जाय। आज धर्म शब्द को लोग हेय-दृष्टि से देखते हैं, पर मैं जिस धर्म के बारे में कह रहा हूँ :वह धर्म लांछनातीत है। वे साधु इसलिए हैं कि नियति ने उनके लिए ऐसा आदेश किया है। बौद्धधर्म की पुस्तकों में कहीं भी इस स्पष्ट तर्क का उल्लेख नहीं है, यद्यपि जैन टीकाकार शीलांक को यह ज्ञात था और उन्होंने नियतिवादियों द्वारा प्रयुक्त तर्कों में से एक इसका भी उद्धरण दिया है।

यद्यपि कट्टर हिन्दू-साहित्य में आजीवकों का उल्लेख कदाचित् ही आया है। हमारे पास कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनसे विदित होता है कि हिन्दू-धर्म इनसे एकदम अपरिचित नहीं था। सुश्रुत-संग्रह में विश्व की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में कई अन्य सिद्धान्तों के साथ नियति का सिद्धान्त भी वर्णित है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इतर धर्मावलम्बी कल्पना के अनुसार मूल कारणों की एक सूची दी गयी है जिसमें जैन टीकाकारों द्वारा अस्वीकृत अधिकांश अनुमानित तत्त्वों को मिला लिया गया है ; जैसे काल, प्रकृति, नियति, संयोग, पंचतत्त्व और सांख्य द्वारा पुरुष की स्वतःसिद्ध कल्पना। इस अनुच्छेद की टीका करते हुए शंकर निस्सन्देह भूल से नियति में विश्वास को मीमांसकों के साथ आरोपित करते हैं और इसे उन्होंने पुण्य और पाप के समान (पुरस्कार) रूप में निर्धारित 'कर्म' कहा है। उन्होंने संक्षेप में यह कहकर इस सिद्धान्त को त्याग दिया है कि (क्रिया रूप से) नियति परिवर्तनशील है।

आजीवकों के नियतिवाद पर जैन आलोचना तर्क और साधारण ज्ञान पर निर्भर है। इनमें प्राचीनतम तर्क उवासगदसाओ सूत्र का है जिसे कुण्डकौलिय नामक श्रावक तथा देव नामक आजीवक के बीच हुए शास्त्रार्थ से सम्बन्धित माना जाता है। देव गोशाल के नियतिवादी सिद्धान्त की प्रशंसा करता है और महावीर के गुणधर्मी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। इस पर कुण्डकौलिय ने देव से पूछा—क्या आपने अपना दिव्य पद अपनी ओर से किसी प्रकार का प्रयत्न कर प्राप्त किया है? उसने उत्तर दिया—मैंने स्वर्गीय आनन्द बिना किसी प्रयत्न के प्राप्त किया है। कुण्डकौलिय ने पूछा—फिर ये दूसरे प्राणी भी जिनमें प्रयत्न नहीं देखा जाता, वे देव क्यों नहीं हो गये? यद्यपि यह तर्क भद्दे रूप से असंगत है, फिर भी देव को अपने दृष्टिकोण की भूल समझाने के लिए पर्याप्त है। परन्तु इतना निश्चित है कि प्राचीन आजीवकों के पास इस प्रकार के निर्बल आक्रमणों का बचाव तो था ही।

इसी प्रकार के एक मनोरञ्जक तर्क का सम्बन्ध स्वयं महावीर से है, जो आजीवक कुम्भकार सद्दालपुत्त के धर्म-परिवर्तन के प्रसंग में है। महावीर उससे पूछते हैं—बताओ, कुम्भकार के बर्तन परिश्रम द्वारा बनते हैं या नहीं? उत्तर देते हुए आजीवक

कहता है—'बिना परिश्रम के बन जाते हैं।' इसके बाद महावीर सद्दालपुत्त से पूछते हैं—'यदि तुम्हारा कोई कारीगर तुम्हारे बर्तन को चुरा ले या तोड़फोड़ दे अथवा तुम्हारी पत्नी से अनुचित प्रस्ताव करे तो तुम क्या करोगे?' इस पर क्रोध के साथ कुम्भकार ने उत्तर दिया—'मैं उसे अपमानित करूँगा, पीटूँगा अथवा उस दुष्ट को मार भी डालूँगा।' महावीर ने तुरंत कहा—'परन्तु इस प्रकार के कार्य तो नियति और अक्रियावाद के सिद्धान्त से सर्वथा असंगत होंगे। जब सभी वस्तु अचल रूप से निर्धारित (नियम रूप से निर्धारित) हैं और क्रिया नहीं होती तो कोई भी वर्तनों को तोड़ या चुरा नहीं सकता और तुम अपराधी को अपमानित, दण्डित अथवा मार नहीं सकते। फिर भी दैनिक जीवन में ऐसी बातें होती रहती हैं, अतः यह दावा कि क्रिया नहीं होती और सभी वस्तुएँ पूर्व निर्धारित हैं, यह झूठा है।

इसमें सन्देह नहीं कि व्यावहारिक ज्ञान के अनुकूल इस कथन का उत्तर आजीवक के पास था जिससे डा० जानसन द्वारा वर्क के आदर्शवाद के विरोध की प्रसिद्ध बात याद आ जाती है। हम अनुमान कर सकते हैं कि नियतिवादी ने सत्य के दो वर्गों की स्थिति स्वीकार कर इच्छा की स्वतन्त्रता की प्रत्यक्ष स्थिति का विवेचन किया। अन्य उन्नततर भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में व्यावहारिक प्रयोगसिद्ध और पारमार्थिक सत्य के दुहरे सिद्धान्त वर्तमान थे। आजीवकों द्वारा इसका ग्रहण स्वयंसिद्ध निश्चयवाद और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की आन्तरिक मान्यता के प्रकट विरोध का समाधान करता है। दैनिक जीवन में और सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए स्वतन्त्र इच्छाशक्ति वर्तमान थी और सद्दालपुत्त जैसे आजीवक गृहस्थ इसी अनुमान के आधार पर कार्य करते थे; परन्तु अन्ततः स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति मायामय थी नियति ही एकमात्र निर्णयकारी सत्ता थी। और मानवीय शक्ति तथा प्रयत्न पूर्णतः निष्प्रभावपूर्ण थे।

बौद्धों की अपेक्षा जैन टीकाकार इस पर अधिक उत्तम छाप डालते हैं और जैन प्राकृत ग्रन्थों में नियतिवादियों के प्रति तर्कपूर्ण विवाद की शैली मिलती है। सूत्रकृतांग के भाष्य में शीलांक नियतिवादियों के तर्कों का उदाहरण देते हैं जिनका स्पष्ट परिचय तो नहीं दिया गया है, परन्तु वे अवश्य ही आजीवक होंगे। 'यदि मानवीय कर्म द्वारा आनन्द का अनुभव होता है तो (बराबर प्रयत्न किये जाने पर) फल में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं होना चाहिए और न बराबर प्रयत्न किये जाने पर फल का अभाव ही होना चाहिए वह चाहे दासों द्वारा किया जाय अथवा व्यापारियों या कृषकों द्वारा। फिर भी बहुधा यह देखा जाता है कि सेवा इत्यादि जीविका के किसी भी साधन का पालन न करने पर भी अधिक उत्तम फल प्राप्त किया जाता है। अतः मानवीय शक्ति के द्वारा कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यह तो सद्दालपुत्त के विरुद्ध महावीर द्वारा प्रयुक्त एक दूसरी बहस का उदाहरण है जो मानवीय अनुभव पर निर्भर है परन्तु यहाँ

पर आजीवकों द्वारा अपने विरोधियों के विरुद्ध अपनाया गया है। समान योग्यता-वाले व्यक्तियों की सफलता और विफलता सिद्ध करती है कि वह उनकी अपनी शक्ति पर निर्भर नहीं है। विश्वव्यापी क्रम में मनुष्य प्रभावशाली सत्ता नहीं है।

पिचाग,
४ दिसम्बर, '५३

१६३ : साधु-समागम

मानव आत्म-निर्माण करे। इस कीमती जीवन को यों ही न गँवाए। जीवन में धन, दौलत, मकान आदि भौतिक सुख सुविधाएँ मिल सकती हैं; पर यह सब जीवन की कीमत के सामने नगण्य हैं। जीवन की कीमत इससे कहीं अधिक है। इसे व्यर्थ में बरबाद न किया जाय। आज मानव अपने जीवन की कीमत को आंकना छोड़कर उसे यों ही गँवा रहा है। स्वर्णथाल से कीचड़ उंडेलनेवाला, अमृत से पैर धोनेवाला, रत्न से कौवे को उड़ानेवाला जैसा मूर्ख है, उसे इन चीजों की कीमत का पता नहीं, ठीक इसी प्रकार मानव भी इस कीमती जीवन को न समझ कर इसे खो रहा है।

आज मानव-समाज में नाना प्रकार की बुराइयाँ घर कर रही हैं। अतः उनको मिटाने के लिए साधु-समागम से लाभ उठाया जाय। त्यागी पुरुष साधुओं से जीवन उन्नत बनाने की कला सीखें तथा जीवन में सत्य, अहिंसा आदि सद्वृत्तियों को स्थान दें।

सारिया,
६ दिसम्बर, '५३

१६४ : शान्ति आत्मा में है

आज का मानव भौतिकता के चंगुल में फँसता जा रहा है। वह बाह्य साधनों से सुख की कामना रखता है। वह नहीं सोचता कि यह धन दौलत, मकान जायदाद वास्तविक सुख है या नहीं? यदि ये सुख और शान्ति के साधन होते तो अमेरिका जैसे देश के सामने शान्ति को प्राप्त करने की अपेक्षा न होती। वहाँ के निवासियों के जीवन में शान्ति ही शान्ति मिलती पर आज ऐसा नहीं है। आज धनवान और निर्धन दोनों दुःखी हैं। सब सुख और शान्ति के लिए लालायित हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख के साधन भौतिकवादी सुविधाएँ नहीं हैं।

भारतीय ऋषि-महर्षि यह कहते आये हैं कि शान्ति बाहर की वस्तु नहीं, अन्तर की चीज है। आज मानव मृग की तरह उसकी खोज में भटक रहा है। मृग कस्तूरी को खोजने के लिए वन-वन भटकता फिरता है। वह भले ही मर जाए पर क्या जंगल में उसे कस्तूरी मिल सकती है ? वह तो उसकी नाभि में है। इसी तरह शान्ति आत्मा में है बाहर नहीं। यदि मानव आत्मा में सन्तोष रखता है तो वह सुखी है और यदि उसे आत्म-तुष्टि नहीं है तो फिर चाहे कितना ही धन दौलत पास में क्यों न हो वह दुःखी ही है।

मानव सन्तोषी बने। वह जीवन में धर्म को उतारे और उसके मर्म को समझे। व्यक्ति के जीवन में घुसी हुई बुराइयों को मिटाने के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया है। आप भी उसका मनन करें तथा जीवन में उतारें। आपको अवश्य शान्ति मिलेगी।

गरणी,
८ दिसम्बर, '५३

१६५ : मानवता

मानव अपने को मानव समझता है, पर वह जरा देखे कि वह मानव है या नहीं, या मानव की आकृति में सिर्फ अस्थिपंजर-मात्र है। आज उसकी अधोगामी प्रवृत्तियों से स्पष्ट है कि उसमें मानवता की मात्रा बहुत कम रह गई है। वह दीखने में ही मानव है पर वास्तव में उसमें मानवता नहीं है। वह अपने पथ से प्रतिकूल चल रहा है। ऐसी स्थिति में उसे पथ-दर्शक भी वैसे ही मिल जाते हैं। उसे चाहिए कि वह त्यागी साधुओं के सम्पर्क में आए तथा उनके उपदेशों से जीवन को ऊँचा उठाये।

निमाज,
८ दिसम्बर, '५३

१६६ : कल्याण का सूत्र

जीवन क्षणभंगुर है, नश्वर है। मानव उसकी अस्थिरता समझ कर अपने कर्तव्य के प्रति सजग रहे। वह समझे कि सुबह अच्छी लगनेवाली चीजों में शाम को कितना ही परिवर्तन हो जाता है। वे या तो अच्छी नहीं लगतीं या बिलकुल बिगड़ जाती हैं। वह

मनुष्यों को मरते हुए देखता है, खुद उनका दाह-संस्कार करके आता है ; फिर भी वह सोचता है—मैं कभी नहीं मरूँगा। वह सही तत्त्व नहीं समझता। इसका कारण उसका अनादिकालीन मोह है, जिसके कारण वह अपने कर्तव्य को भूल जाता है।

व्यक्ति निष्क्रिय न बने। वह होनहार के भरोसे न रहे। होनहार तो हारे का विश्राम है। यद्यपि होना तो कर्म के आधीन है पर कर्म का कर्ता व्यक्ति है। उसे सिर्फ भाग्य के भरोसे नहीं रहना चाहिए। उसे सन्तजनों के जीवन से प्रेरणा लेना चाहिए। इससे पूर्व वह उनकी परीक्षा कर ले। नाव में बैठना हो तो मूर्ख नाविक से उसका न मिलना ही अच्छा है। नाविक के न मिलने से तो नाव नहीं चलेगी, इतना ही तो होगा, परन्तु यदि मूर्ख नाविक मिल गया तो पूरा ही खतरा रहेगा। इसी तरह संत की अपेक्षा है, असंत की नहीं। संत-साधु वह है जो जीवन में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के तत्वों को पूर्णरूपेण उतारता है। जिसका न किसी से राग है और न किसी से द्वेष, जिसके सामने धनिक-निर्धन का भेद नहीं ; जो किसी की निंदा नहीं करता और जिसका कार्य दिनरात अपने तत्त्व का प्रचार करना है। आप ऐसे संतों से सम्पर्क करें और उनकी शिक्षाओं को जीवन में उतारें, इसीमें आपका कल्याण है।

निमाज,

९ दिसम्बर, '५३

१६७ : मानव का कर्तव्य

जीवन थोड़ा है। इस थोड़े जीवन को व्यर्थ न खोया जाय। जीवन पशु का भी होता है और मानव का भी, पर उसमें अन्तर सिर्फ इतना ही है कि मानव में विवेक है और पशु में विवेक नहीं। पशु २० मन वजन खींच सकता है, पर पैर में एक रस्सी भी उलझ जाय तो वह उसे निकाल नहीं सकता। कहने को तो मनुष्य विवेकी है पर आज वह विवेक को काम में लेता है क्या? मनुष्य कहलाने मात्र से कुछ होना जाना नहीं। वह विवेकी है तो पहले अपना जीवन उन्नत बनाये। जीवन में दुर्गुणों को छोड़े। वह दूसरों की तरफ ध्यान न देकर पहले अपने आपको टटोले। यदि उसने ऐसा किया तो वह वास्तव में मानव कहलाने का अधिकारी होगा।

बर,

१० दिसम्बर, '५३

१६८ : प्रतिस्त्रोत की ओर

सन्तों को स्वागत करने की प्राचीन परंपरा चलती आयी है। लेकिन मैं शब्दों के स्वागत से संतुष्ट होनेवाला नहीं हूँ। मैं अकिंचन हूँ और मेरा स्वागत यही है कि आप स्वयं अकिंचनता का पाठ पढ़े, अपरिग्रह वृत्ति को अपनाएँ और त्याग करें। आज जन-जीवन दुर्गुणों और बुराइयों से भरा हुआ है। आप अपनी एक-एक बुराई सन्तों के चरणों पर अर्पित कर दीजिए। आपका बोझा हल्का हो जाएगा और वही सन्तों का सच्चा स्वागत होगा। आजका जन-जीवन विशृंखल होता जा रहा है। सभी सुखी बनना चाहते हैं परन्तु दुःख पैदा करनेवाला रास्ता अपनाए हुए हैं। लोग सुखी बनना चाहते हैं तो उन्हें रास्ता भी सुख का ही अपनाना पड़ेगा। पानी के मथने से घी नहीं निकल सकता। इसलिए अनुस्रोत में—दुनियाँ के चालू प्रवाह में मत बहिए। अस्तु। आपको भोगलिप्सा के स्थान पर त्यागवृत्ति अपनानी पड़ेगी और इच्छाओं तथा लालसाओं पर नियंत्रण रखकर सुख के रास्ते पर बढ़ना होगा।

सुख तो व्यक्ति के भीतर है। केवल दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। आज व्यक्ति और समाज की दृष्टि बहिर्मुखी है। जिस समय दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाएगी, उस समय सुख और शांति का दापदंड ही बदल जायेगा।

साभार
'दैनिक हिन्दुस्तान'

१६९ : शांति का महत्त्व

आपलोगों ने मेरा स्वागत किया। यह एक प्राचीन परम्परा है। मैं केवल वाचिक स्वागत से प्रसन्न होनेवाला नहीं, और न हार्दिक स्वागत ही मेरे कार्यक्रम में सहयोग भावना का द्योतक है। मैं तो सही स्वागत उसे मानता हूँ कि स्वागत करने वाले अपने जीवन में मेरे आदर्शों को लाएँ, परिग्रह एवं अकिंचन वृति को प्रश्रय दें। वास्तव में साधु-सन्तों का स्वागत तो जीवन में त्याग को उतारना ही है। मैं कहूँगा कि आप अपनी बुराइयों को सन्तों के चरणों पर डाल दें। अपने को बुराइयों से रहित एवं अच्छाइयों से परिपूर्ण बना लें।

आज मानवजाति शान्ति और सुख के लिये चिल्ला रही है, पर वह बढ़ रही है हिंसा और अनाचार के मार्ग पर।

ऐसी स्थिति में उसे शान्ति या सुख कैसे मिल सकता है ? जैसे पत्थर पर वृक्ष उगाना सरल नहीं वैसे संघर्षों में क्लेशपूर्ण वृत्तियों के अपनाने से शान्ति नहीं आ सकती। इन प्रवृत्तियों का परिहार कर जीवन में भ्रातृभाव लाएँ, सादगी लाएँ और संयम को लोग स्थान दें, तभी वे शान्ति के नजदीक आएँगे और उनका जीवन सुखी बनेगा।

नयावास ब्यावर
१२ दिसम्बर, '५३

१७० : संस्कृति : पैतृक सम्पत्ति

आचार और विचार की रेखाएँ बनती हैं और मिटती हैं। जो बनता है वह निश्चित मिटता है किन्तु मिटकर भी जो अमिट रहता है—अपना संस्थान छोड़ जाता है, वह है संस्कृति। अनेक समाज, अनेक धर्म और अनेक मत अनेक संस्कृतियाँ मानते हैं; पर वास्तव में वे अनेक नहीं हैं, सिर्फ दो हैं : भलाई की या बुराई की, सुख की या दुःख की। आदमी भला होता है या बुरा, सुखी होता है या दुःखी। संस्कार भी इसी रूप में ढलते हैं। संस्कृति पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिलती है। शताब्दियों की परम्परा के संस्कार मनुष्य के विवेक को बुझाते हैं और जगाते हैं। जगाने की बात सही होती है और बुझाने की गलत। फिर भी हीनाधिक मात्रा में दोनों ही चलते हैं। बुझाने की मात्रा घट जाय या टूट जाय और जगाने की मात्रा बढ़ जाय इसलिए सांस्कृतिक समारोहों का महत्त्व होता है।

संस्कृति ऊँची चाहिए—यह अभिलाषा सबको है। सब चाहते हैं—हमारे आचार-विचार सम्मानित हों, किन्तु यह तभी हो सकता है जब मनुष्य सबमें मिल जाय। आत्मा, आत्मा में घुल जाय। बाहरी बन्धन—भोगके साधन—आत्मा-आत्मा को अलग-अलग किये हुए हैं। भोग की वृत्ति से स्वार्थ, स्वार्थ से भेद और भेद से विरोध होता है। जैनधर्म बताता है—सब आत्मा समान हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है। जब मूल में विरोध नहीं है तब संस्कृति में कैसे हो सकता है ? वास्तव में नहीं होता, यह कोरी कल्पना है। उसे मिटाने के लिए त्याग का मन्त्र पढ़ाया गया। यही एक-मात्र परमार्थ का रास्ता है। लेने में "मैं अधिक लूं" की भावना होती है और वह मनुष्य को गिराती है, छोड़ने में "मैं अधिक छोड़ूं" की भावना आए, यह जरूरी है। परन्तु यह कठिनता से आती है। फिर भी समस्या का एकमात्र हल यही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

भारतीय संस्कृति में त्याग, आत्मविजय, आत्मानुशासन और प्रेम की अविरल धाराएँ बही हैं। भोग से सुख नहीं मिला तब त्याग आया, दूसरे जीते नहीं गये तब अपनी विजय की ओर ध्यान खिंचा। हुकूमत बुराइयाँ नहीं मिटा सकी तब 'अपने पर अपनी हुकूमत' का पाठ पढ़ाया गया। आग से आग नहीं बुझी तब प्रेम से आग बुझाने की बात सूझी है। ये वे सूत्र हैं, जिनमें चेतना है, जीवन है तथा दो को एक करने की क्षमता है।

आचार को विचार से पहला अथवा आचार के लिए विचार—यह माननेवाला भारतीय दृष्टिकोण—मिटता जा रहा है। केवल विचार के लिए विचार बढ़ रहा है। यह अनिष्ट प्रसंग है। जब आचार नहीं तो विचार से क्या बने? इसलिए थोथे विचारों के भँवर में न फँसकर आचारमूलक विचार करने की भावना जागे, संयम और स्व-शासन की वृत्ति बढ़े, यही सही अर्थ में संस्कृति के चिन्तन का सुफल है।

मानव, जीवन में सत्य को उतारे तथा अहिंसा को स्थान दे। भोग-विलास और संग्रह-वृत्ति की जगह त्याग और तपस्या को अपनाए तभी उसका जीवन उठेगा। इसके लिए हमारी ओर से अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया गया है, जो आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पाने जा रहा है। आप उस योजना का अध्ययन करिए और अच्छी लगे तो जीवन में उतारिए। इसके द्वारा आपको जीवन प्रशस्त करने के लिये एक नवीन पथ मिलेगा।

सरदारशहर,
१९ दिसम्बर, '५३

१७१ : जन-जन का मार्ग-दर्शक

आज जन-जीवन बुराइयों और दुष्प्रवृत्तियों से जर्जरित हुआ जा रहा है। जीवन से नैतिकता और ईमानदारी का लोप सा हुआ जा रहा है। मनुष्य नगण्य स्वार्थों के वशीभूत हो बड़ा से बड़ा अपराध करते भी नहीं सकुचाता। यह पतन की पराकाष्ठा नहीं तो क्या है—आज मनुष्य औरों पर नियंत्रण और अनुशासन रखने की भावना को बलवती बनाता है, पर अपने पर नियंत्रण और अनुशासन रखने का कभी विचार भी नहीं करता। यह वह स्थिति है जिसका उपचार होना आज नितान्त आवश्यक है। यद्यपि एक दृष्टि से साधु-सन्त समाज राष्ट्र व देश से परे हैं। उनपर नागरिकता के नियम लागू नहीं होते वे वर्णातीत, जात्यातीत, समाजतीत और राष्ट्रतीत होते हैं। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे देश में रहते हैं और देश का उपयोग किया

करते हैं। उनके सामने देश की अच्छी-बुरी स्थितियाँ आती हैं और उन्हें उनपर विचार भी करना पड़ता है। यही कारण है हमने भी विचार किया कि हम जिस देश में पर्यटन कर रहे हैं उस देश के वातावरण से अवगत होना क्या हमारा कर्तव्य नहीं? हमने पाया कि हमारा बहुत बड़ा कर्तव्य है। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने देश की परिस्थितियों का अध्ययन किया और साथ साथ यह चिन्तन किया कि आज के लोगों की भावनाएँ, आवश्यकताएँ, और अभिलाषाएँ क्या हैं? तथा उसको कैसे पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है हमने देखा, आज के लोग अशान्ति और दुःख से उत्पीड़ित हैं। उन्हें शान्ति और सुख की नितान्त आवश्यकता है। इसके साथ साथ हमने यह भी सोचा कि अगर जनता को कहीं सुख और शान्ति मिले तो वह वहाँ से लेने को तैयार है। इसपर हमने पाया कि सुख और शान्ति त्यागियों से ही मिल सकती है, भोगियों से उसकी आशा नहीं की जा सकती। इसी पृष्ठभूमिका पर हमने युग की मांग के अनुसार अणुव्रती संघ की योजना जनता के सामने प्रस्तुत की। यह एक ऐसी आध्यात्मिक योजना है जिसकी आज राष्ट्र के जन-जन को महती आवश्यकता है। यह योजना किसी सम्प्रदाय या वर्ग विशेष से बँधी हुई नहीं, यह विशाल उदार और असंकीर्ण भावना को लिये हुए है और यह जन-जन के जीवन में घुसी हुई बुराइयों के प्रतिकार-रूप में एक प्रेरणात्मक प्रयास है।

आज जीवन की अन्यान्य बीमारियों में एक यह बीमारी भी अपना घर किये हुए है कि 'अमुक वस्तु, अमुक योजना, अन्य धर्मवालों की या अन्य धर्मवालों द्वारा प्रवर्तित है। वह हमारे धर्म की नहीं। उसमें हमें भाग लेने की क्या आवश्यकता है?' यह संकीर्ण भावना मनुष्य के साम्प्रदायिक आग्रह की द्योतक है। जो व्यापक, असाम्प्रदायिक और असंकीर्ण वस्तु होती है, वह चाहे फिर कहीं से भी निकलती हुई हो, अगर वह कल्याणकारी और आज की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान करती है तो मनुष्य को विशाल हृदय बनकर निःसंकोचतया उसे अपने जीवन में समाहित करना चाहिए। वह सबके लिए उपादेय होती है।

यह सही है कि मैं जैनाचार्य हूँ और जैनधर्म का संचालन भी मेरे उत्तरदायित्वों में से एक प्रमुख उत्तरदायित्व है। जैनधर्म के गम्भीर अध्ययन से मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मेरी दृष्टि में जैनधर्म किसी संकुचित बाड़ाबन्दी के रूप में न होकर वह जनधर्म के रूप में अत्यन्त व्यापक और विशाल रूप लिये हुए है। जैनधर्म का पंच परमेष्ठी महामंत्र जिसे जैनधर्म का एक सारभूत सर्व प्रमुख मंत्र कह सकते हैं, उसमें जिन महापुरुषों को नमस्कार किया गया है, उनमें कोई यह तर्क तक नहीं कर सकता कि यह कोई साम्प्रदायिक मंत्र है। वीतराग परमात्मा धर्माचार्य उपाध्याय और सच्चे साधुओं को नमस्कार करने की घोषणा कर जैनधर्म ने अपने व्यापक स्वरूप का सजीव प्रमाण उपस्थित किया

है। दूसरे, जैनधर्म का जो अर्थ है, वह इतना व्यापक है कि उसमें सांप्रदायिकता और संकीर्णता का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। 'जिन' से 'जैन' शब्द बनता है, जिसका मतलब है—आत्मविजेता राग-द्वेष मोह आदि विकारो को जीतनेवाला। एक शब्द में कहें तो वीतराग। वीतराग द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर जो चलते हैं वे जैन कहलाते हैं। संक्षेप में यह है कि वे सब जैनधर्म के अनुयायी कहलाने के अधिकारी है जो वीतरागता के मार्ग पर अग्रसर हैं। इस असंकीर्णता को देखकर हमें यह सोचने का अवसर मिला कि हमने जन-साधारण की आध्यात्मिक सेवा करने के लिये इतने अवसर व तरीके संजो रखे हैं कि जिनका हम उचित उपयोग कर गलत रास्ते पर बहती हुई आज की दुनियाँ की गति को ठीक रास्तों पर वापिस मोड़ सकते हैं। यहाँ वह दृष्टि मिली, जिससे हमें एक रचनात्मक प्रयत्न करने की आशा भरी प्रेरणा मिली।

अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों की रचना नकारात्मक रूप में है। इसके पीछे एक बड़ा दृष्टिबल है। किसी चीज की सीमा नकारात्मक विधि से जितनी निष्कंटक हो सकती है उतनी हकरात्मक विधि से नहीं। जैसे सत्य बोलो, यह एक हकारात्मक विधि है। यह निष्कंटक नहीं, इसमें बाधा है। किसी शिकारी को मृग जानने का रास्ता बताना सत्य होते हुए भी अहिंसा की सीमा को तोड़नेवाला है। वह सच्ची गवाही जो किसी के प्राणों का अन्त होने में निमित्त बन सकती है अहिंसा का खण्डन होने के कारण हमारे लिए अकल्प्य है। इसके विपरीत 'झूठ मत बोलो' यह नकारात्मक विधि जितनी दोष-मुक्त है उतनी ही व्यापक है। दूसरे में जहाँ हकारात्मक विधि से किसी चीज को नियमित करने के लिये अनेक धाराओं की अपेक्षा रहती है वहाँ नकारात्मक विधि में कुछ ही धाराओं में काम बन जाता है। उदाहरणार्थ, 'मीठा बोलो' यह कहते ही उसमें अनेक प्रकार की शंकाएँ खड़ी होती हैं और फिर उनका निषेध करने के लिये अन्य धाराओं का और निर्माण करना पड़ता है। 'मीठा बोलो' इसमें जिस प्रकार कड़ु बोलने का निषेध होता है उसी प्रकार किसी को खुश रखने के लिए या अपने स्वार्थ के लिए मीठा बोलो, ऐसा भी तो इससे अर्थ निकाला जा सकता है। इसके विपरीत नकारात्मक विधि से 'कड़वे वचन मत बोलो' इस धारा में उपरोक्त शंकाओं या उन जैसी अन्य शंकाओं का कोई स्थान नहीं रहता। कड़ु बोलने का निषेध है, वह बोलने मात्र में व्यापक है। तीसरी बात यह है, कि संयमी व्यक्ति द्वारा नकारात्मक शैली से नियमों की रचना जितनी मानी हुई व बँधी हुई होती है, उतनी हकारात्मक शैली से नहीं। अतएव इन्हीं सब कारणों से अणुव्रती संघ के नियमों की रचनात्मक विधि का ही अधिक उपयोग किया गया है।

महाव्रत और अणुव्रत को लेकर भी एक उलझन पैदा हो सकती है। विनोबाजी से मुलाकात के अवसर पर उन्होंने इसी शंका को लेकर कहा—'आपने व्रतों को तोड़ क्यों

दिया है? व्रत तो एक होना चाहिए।" मैंने कहा—"व्रतों को तोड़ा नहीं गया है, यह तो इसलिए किया गया है कि जो पूरे व्रतों को न निभा सकें वे कम से कम इस सीमा तक तो उन्हें निभाएँ। अगर कोई महाव्रती न बन सके तो कम से कम अणुव्रती तो बने।" विनोबाजी ने तत्काल कहा—"अच्छा मैं समझ गया, यह व्रतों की न्यूनतम मर्यादा है जो गृहस्थ में जीवन बिताते हैं, वे कम से कम व्रतों की इस न्यूनतम मर्यादा को तो पालें ही।" कहने का तात्पर्य यह है कि अणुव्रतों की रचना करने का यही मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति जो गृहस्थ जीवन को छोड़कर महाव्रती नहीं बन सकता, वह भी कम से कम अणुव्रतों से तो वंचित न रहे।

अणुव्रती कौन बन सकता है? यह भी एक प्रश्न है। मेरी दृष्टि में अणुव्रती वही बन सकेगा जो आत्मश्रद्धालु होगा तथा जो आत्मश्रद्धालु नहीं होगा वह अहिंसानिष्ठ भी कैसे होगा? अतएव यह आवश्यक है कि जो व्रती बने वह आत्म-निष्ठ और अहिंसा निष्ठ हो। इसके अलावा मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, लिंग, रंग, धनी, गरीब आदि के बिना किसी भेद-भाव के प्रत्येक व्यक्ति व्रती बनने का अधिकारी है।

अणुव्रत-योजना सर्वधर्म समभाव को लिए हुए एक असाम्प्रदायिक योजना है। यह जात्यातीत एवं वर्णातीत है। इसमें सार्वजनिक नियमों का विधान किया गया है। नैतिक उत्थान सभी को प्रिय है। अहिंसा और सत्य पर किसीका अधिकार नहीं। वे सबके लिए हैं तथा इस आधार पर ही इसका संयोजन या संकलन किया गया है।

अणुव्रत का मतलब है—छोटे-छोटे व्रत। इनकी संख्या कुछ लग सकती है, लेकिन फिर भी यह आवश्यक है कि आज जिस प्रकार बुराइयों के रोग अधिक बढ़े हुए हैं, उसी प्रकार उनके प्रतिकार के लिये नियम भी अधिक बनाए जायँ। आज रोगी यह समझ नहीं रहा है कि मेरे पीछे कौन-कौन से रोग लगे हुए हैं। बस, इतनी सी बात को समझाने के लिये हमने उन सारे रोगों की सूची जनता के सन्मुख प्रस्तुत कर दी है और यह घोषणा कर दी है—कि बन्धुओ! आपके जीवन में ये रोग हैं, अगर आप इनसे बचना चाहें तो बचें। संख्या की अधिकता से घबड़ाने जैसी कोई बात नहीं। अगर इतने रोग नहीं होते तो इतनी संख्या की भी जरूरत नहीं होती।

मूलतः व्रतों की संख्या पाँच होते हुए भी उनके इतने विभाग करने का यही कारण है कि साधारण लोग 'हिंसा मत करो', 'झूठ मत बोलो' इतने कहने मात्र से समझने वाले नहीं। उनको एक-एक बात खोल-खोल कर बताने से ही समझाया जा सकता है। इसपर मुझे एक उदाहरण याद आ जाता है—गुरु का आदेश पाकर एक शिष्य भिक्षा के लिए गया। वापिस आते समय रास्ते में नटों का नाटक हो रहा

था। शिष्य का मन नाटक में लग गया अतः वह वहीं खड़ा होकर देखने लगा। नाटक समाप्त होने के बाद जब शिष्य गुरु के पास आया तो गुरु ने इतने विलम्ब होने का कारण पूछा। शिष्य ने बड़ी सरलता पूर्वक कहा—गुरुदेव! रास्ते में नटों का नाटक हो रहा था, उसे देखने के लिये मैं खड़ा रह गया। गुरु ने उसे समझाते हुए कहा—शिष्य! हम साधु हैं, हमारे लिये नटों का नाटक आदि देखना वर्जनीय है अतः आगे ऐसा काम कभी मत करना। शिष्य ने गुरुदेव के आदेश को सहर्ष स्वीकार किया। आदेश के पाँच ही दिन बीते थे कि रास्ते में नटनियों का नाटक हो रहा था, शिष्य फिर देखने लगा। विलम्ब से आने पर गुरु ने इसका कारण पूछा। शिष्य ने उसी तरह सरलता पूर्वक कहा—गुरुदेव! रास्ते में नटनियों का नाटक हो रहा था उसे देखने लग गया गुरु ने कुछ तेज होकर कहा – अरे तुझे याद नहीं, मैंने तुझे उस दिन नाटक देखने का निषेध किया था। शिष्य कुछ डरा पर अवसर पाते ही वह कह उठा—गुरुदेव! आपने तो नटों का नाटक देखने के लिये निषेध किया था, नटनियों के लिये कब कहा था? गुरु समझ गये, यह ऐसा नहीं है जो एक बात कहने से सब कुछ समझ जाय। इसे तो कड़ी-कड़ी खोलकर समझाना होगा। यही स्थिति आज की है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि वह बेचारा सरल था और आज के लोग कुटिलता के घर हैं। बच्चे-बच्चे में इतनी कुटिलता भरी है कि वे किसी भी बात में बहाना निकाल लेते हैं। इसी भावना को दृष्टि में रखते हुए हमने सोचा—"नियमों की संख्या चाहे बढ़े, लेकिन ऐसा न रहे कि लोग बात-बात में रास्ते निकालने लगें। यही कारण है कि संख्या की दृष्टि से नियम अधिक हुए हैं।

अणुव्रत-योजना का निर्माण सामाजिक या राजनैतिक सुधार के लिये नहीं हुआ है। उसका उद्देश्य एकमात्र आत्मसुधार, व्यक्ति सुधार या जीवन सुधार है। यह दूसरी बात है कि व्यक्ति, समाज या राष्ट्र से अलग नहीं। अतः व्यक्ति-सुधार का मतलब होगा—समाज या राज्य सुधार। व्यक्ति जब समाज व राज्य से जुड़ा हुआ है तो उसकी बुराइयों से भी समाज या राज्य भी अछूते नहीं रह सकते। बुराइयाँ, बुराइयाँ हैं और सुधार, सुधार। जैसे बुराइयों, बुराइयों में भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती वैसे ही सुधार-सुधार में भी नहीं। व्यक्तिगत बुराइयाँ भी बुराइयाँ हैं और समाज गत तथा राज्यगत बुराइयाँ भी बुराइयाँ। इसी प्रकार व्यक्तिगत सुधार भी सुधार है और समाज तथा राज्यगत सुधार भी सुधार है। बुराइयाँ चाहे कहीं भी हों उन्हें मिटाना इस योजना का उद्देश्य, व्यक्ति सुधार के उद्देश्य में अपने आप अन्तर्निहित हो जाता है। वास्तव में व्यक्ति-व्यक्ति में आत्मश्रद्धा आए, वह चरित्रनिष्ठ बने; उसका जीवन सचाई, सादगी और नैतिकता से ओत-प्रोत हो; यही एक उद्देश्य है कि जिसे लक्षित कर इस योजना का प्रवर्तन हुआ है। जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा

तब तक समाज और राष्ट्र-सुधार के नारे का क्या अर्थ रहेगा? आज व्यक्ति-व्यक्ति को नैतिक उत्थान और चरित्र विकास के इस पुनीत-कार्य में अपने आपको लगा देना है। व्यक्ति ही समष्टि का मूल है। व्यक्तिगत सुधार की एक सामूहिक प्रतिक्रिया ही समाज-सुधार है। जब व्यक्ति सुधरेगा तब समाज और राज्य में एक नई चेतना आएगी।

आज के युग की विचित्रताओं का कुछ पार नहीं। युग की देन ही समझिए—आज मनुष्य के हृदय, जबान तथा आचरणों में कोई संतुलन नहीं रह गया है। इसी प्रकार जबान में कुछ और ही है और आचरणों में कुछ और। परिणामतः हृदय तथा आचरणों के विद्रोही होने पर भी मनुष्य जबान के द्वारा सुधार की आवाजें लगाने में आज किसी प्रकार के भी संकोच का अनुभव नहीं करता। यही कारण है आज का सुधारक सभा मंचों पर खड़ा होकर लच्छेदार भाषा में लम्बे-लम्बे भाषण देना खूब जानता है। राष्ट्र और समाज उत्थान के राग अलापने में भी वह कुछ कसर नहीं छोड़ता। पर अपने सुधारने की जब बात आती है तो वह बगलें झाँकने लगता है। वह सोचता है—समाज सुधर जाए, राष्ट्र सुधर जाए फिर कहीं मेरा नम्बर आए। यह आज की दयनीय स्थिति का एक नमूना है। सही बात तो यही है कि सुधार कार्य सबसे पहले अपने जीवन से शुरू करना होगा। हर व्यक्ति को आत्म निष्ठा के साथ यह ठान लेना है कि उसका सबसे पहला और जरूरी कार्य है—अपने जीवन को बुराईयों के गड्ढे से बाहर निकाल भलाइयों, सद्वृत्तियों एवं सद्गुणों में ढालना। अतएव आज के सुधारक हृदय आचरण और जबान में संतुलन स्थापित कर जबतक इस मार्ग का अवलम्बन नहीं करेंगे तबतक कुछ बनने का नहीं।

सुख और शान्ति के लिए आज समूचा संसार लालायित है। क्या भारत और क्या अन्य देश, सब जगह आज सुख और शान्ति की अत्यन्त आवश्यकता महसूस की जा रही है। मगर सुख और शान्ति के साधनों का विश्लेषण करते समय यह चित्र सहज-तया दिमाग में अंकित हो जाता है कि जहाँ अन्य देश भौतिक अभिसिद्धियों के प्राचुर्य से भूतवाद व भोग से चिरस्थायी शान्ति का स्वप्न देखते हैं वहाँ भारत भौतिक अभिसिद्धियों की कमी करने में, अध्यात्मवाद, त्याग साधना व तपस्या में चिर-स्थायी शान्ति की स्थापना में विश्वास रखता है। जहा अन्यत्र भोगियों की प्रमुखता रही, वहाँ भारत में त्यागियों के चरणों पर बड़े-बड़े सम्राट अपने विजयी मुकुट रखकर उनका सम्मान व प्रतिष्ठा बढ़ाते रहे हैं। यही कारण है कि यहाँ के लिए समूचे संसार में यह आवाज गूँजती रही कि अगर किसी को चारित्र की शिक्षा लेनी है तो वह भारत के त्यागियों से उसे ग्रहण करे। प्रसन्नता की बात है कि आज भी भारत के जन-नेता

सत्य और अहिंसा में दृढ़ रहकर उनके आधार पर संसार की समस्या को सुलझाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं। मैं यहाँ के लोगों से जोर देकर कहूँगा कि वे पश्चिम से आने वाली भौतिकवाद की चकाचौंध में फँसकर अपना आत्मविश्वास न खो बैठें। उनका आत्मविश्वास ही उनकी मूलभूत पूँजी है। उसे पहिचानते हुए त्याग, तपस्या साधना, संयम और आत्मनियंत्रण तथा आत्मानुशासन के मार्ग पर अग्रसर हों। यही वह दृष्टिकोण है जिसके मजबूत आधार पर अणुव्रत-योजना का निर्माण किया गया है।

अणुव्रती-संघ व्रतियों का एक सामूहिक संगठन है। वह इसलिए कि आज इसकी घोर आवश्यकता है। जहाँ तक देखा जाता है—यह खेद पूर्वक प्रगट करना पड़ता है कि बुराइयों में जितनी परस्पर मिलने की संगठित होने की ताकत होती है उतनी भलाइयों में नहीं। चोरों डाकुओं और शराबियों के टोले के टोले आपस में मिल जाते हैं। उन्हें कोई दिक्कत नहीं महसूस होती, जिनके आगे शशस्त्र सरकार को भी मुँह की खानी पड़ती है, लेकिन अचरज की बात यह है कि भली प्रवृत्तियों को लेकर चलनेवाले लोग ३६ के अंक की तरह आपस में मिल नहीं पाते। यह स्थिति उनकी भयंकर त्रुटि, संकीर्णता और कमजोरी का परिचायक है।

अतएव अन्त में मैं उन लोगों से जो नैतिकता और चरित्रनिष्ठा में विश्वास रखने वाले हैं; अनुरोध करूँगा कि वे एक सूत्र में आबद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतर पड़ें। दूसरे शब्दों में वे अणुव्रती-संघ के असंकीर्ण व सार्वजनिक मंच द्वारा बढ़ती हुई अनैतिकता हिंसा व चरित्र भ्रष्टता के खिलाफ एक संगठित प्रतिरोधात्मक मोर्चे का निर्माण करें और अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के अनुकूल एक नये समाज का नव-निर्माण कर आज की समस्याओं से उत्पीड़ित दुनियाँ के सामने एक उदाहरण उपस्थित करें।

ब्यावर,
२० दिसम्बर, '५३

१७२ : व्यष्टि ही समष्टि का मूल

आज जन-जीवन बुराइयों और दुष्प्रवृत्तियों से जर्जरित बना जा रहा है और जीवनसे नैतिकता एवं सत्प्रवृत्तियों का लोप-सा हुआ जा रहा है। मनुष्य नगण्य स्वार्थों के वशीभूत हो आज बड़े से बड़ा अपराध करने में भी नहीं सकुचाता। यह पतन की पराकाष्ठा नहीं तो क्या है! दूसरी ओर आज का सुधारक सभा-मंचों पर खड़े होकर लच्छेदार लम्बे-लम्बे वक्तव्य देना खूब जानता है। राष्ट्र व समाज सुधार के राग अलापने में भी कसर नहीं रखता, पर जहाँ अपने सुधरने की बात आती है तो फौरन पीछे हटता है। सोचता है समाज सुधर जाये, राष्ट्र सुधर जाये, फिर कहीं मेरा नम्बर आये। यह आज दयनीय दशा का नमूना है। सुधार का कार्य सबसे पहले अपने से

करना होगा। व्यक्ति को दृढ़ निष्ठा के साथ यह ठान लेना होगा कि बुराइयों के गड्ढे से बाहर निकल कर भलाइयों, सद्वृत्तियों एवं सद्गुणों में अपने को ढालना है। आज सुधारक जबतक इस मार्ग का अवलोकन नहीं करेंगे, तबतक कुछ उत्थान सम्भव नहीं।

व्यक्ति व्यक्ति में आत्मश्रद्धा जागे, वह चरित्रनिष्ठ बने, उसका जीवन त्याग, सच्चाई एवं सच्चरित्रता से ओत-प्रोत हो यही एक उद्देश्य है, जिसे लक्षित कर अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ। जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तो समाज तथा राष्ट्रसुधार की बात क्या अर्थ रखेगी? आज व्यक्ति को प्राण पण से इस नैतिक-उत्थान के पुनीत कार्य में अपने को लगा देना है। व्यष्टि ही समष्टि का मूल है। जब व्यक्ति-व्यक्ति सुधरेगा, समाज में एक नई चेतना आयेगी और आजका धूमिल वातावरण उजला होगा।

सखेद कहना पड़ता है कि बुराइयों में जितनी मिलने की ताकत है, भलाइयों में वह नहीं। चोरों, डाकुओं, शराबखोरियों आदि के टोले के टोले को आपस में मिलने में दिक्कत नहीं होती, पर भली प्रवृत्तियों को लेकर चलनेवाले लोग ३६ के अंक की तरह मिल नहीं पाते। यह एक कमजोरी रही है, जिसे आपको मिटा देना है। नैतिकता और चारित्रनिष्ठा में विश्वास रखनेवालों को एकसूत्र में अबद्ध हो कार्य क्षेत्र में उतर पड़ना है। तभी आज की विषम समस्याओं से उत्पीड़ित जन-जीवन राहत पा सकता है।

अजमेर,
२१ दिसम्बर, '५३

१७३ एक अमोघ साधन

ज्ञान और साधना किसीकी बपौती नहीं, वह तो उसीका है जो उसकी आराधना करता है। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि पश्चिम के दार्शनिक एवं विद्वानों की यह विशेषता रही है कि वे तत्त्वों के गम्भीर चिन्तन व गवेषणा में अपना जीवन तक अर्पित कर देते हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि वे तटस्थ और निरपेक्ष होकर तत्त्व का चिन्तन करते हैं। दर्शन का सही उपयोग है जैसा कि भारतीय दार्शनिकों ने बताया है—दर्शन संसार की आध्यात्मिक भूख को शान्त करने का एक अमोघ साधन है। पर कब? जब कि पक्षपात रहित होकर तत्त्वों का सही साक्षात्कार किया जाय। मैं चाहता हूँ—लोग दर्शन के गूढ़ रहस्य को निष्पक्षता के साथ हृदयंगम करें, पूर्व-पश्चिम का भेद मिटाकर सत्य का अन्वेषण करें। मानव जाति का इसमें महान हित है।

ब्यावर,
३० दिसम्बर, ५३

१७४ : नागरिकता के जीवन-सूत्र

नगर में जन्म लेने या रहने मात्र को नागरिकता की निशानी नहीं समझना चाहिए, नागरिक वही है जो नागरिकता के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व को पूर्णतः पाले। नागरिक में विवेक, चिन्तन, कर्तव्य-निष्ठा एवं मैत्री-भावना होनी चाहिए। वह प्रत्येक कार्य करते समय यह ध्यान रखे कि उससे कोई ऐसा कार्य तो नहीं हो रहा है जो दूसरों के मार्ग में बाधा पैदा करनेवाला हो। इस बात के लिए भी हर एक नागरिक को जागरूक रहना होता है कि जो कुछ वह करता है उसका दूसरों पर क्या प्रभाव होगा ? अपनी बुराई से, बिगाड़ से जिस तरह वह बचते रहने की कोशिश करता है, दूसरों का भी बुरा न हो इसके लिए वह सावधान रहता है।

कहते हुए दुःख होता है कि आज के नागरिक का जीवन वास्तव में नागरिकता से शून्य-सा है। उसमें मैत्री, भाईचारा, अद्वेष-भावना आदि वे सद्गुण कहाँ हैं जो नागरिकता के जीवनसूत्र हैं ! नागरिको ! चेतो ! भूलो नहीं, चरित्र नागरिकता का प्राण है। चरित्र एवं नैतिकता शून्य नागरिक नगर के लिए, राष्ट्र के लिए और स्वयं अपने लिए भी अभिशाप नहीं तो और क्या है ?

आज का जन-मानस अर्थवाद की दुर्दम बेड़ियों से बुरी तरह जकड़ा है। चरित्र का कितना पतन हो गया है कि कौड़ी भर के स्वार्थ के लिए एक भाई दूसरे भाई के खून से अपने हाथ रंगते नहीं सकुचाता। क्या यह अनैतिकता की पराकाष्ठा नहीं है ? आज राजनैतिक दृष्टि से भारतीय जनता स्वतन्त्र है पर अर्थवाद की गुलामी का जूआ उतार फेंकना अभी बाकी है। जब तक अर्थ की गुलामी से इन्सान नहीं छूटेगा, हजार कोशिश करने पर भी उसे शान्ति और राहत नहीं मिल सकेगी। हाँ, माना कि लोक-जीवन में अर्थ एक साधन है। उसके बिना काम नहीं चलता, पर अर्थ को साधन के आसन से उठाकर साध्य के आसन पर बैठा देना सरासर अनुचित एवं अन्यायपूर्ण है। आज अर्थ साधन नहीं रहा, साध्य बन गया है। यही कारण है सबकी दृष्टि उसपर लगी है। क्या मैं आशा करूँ कि राष्ट्र के नागरिक अर्थ की दासता से अपने आपको मुक्तकर नैतिकता, सदाचार एवं चरित्र को आदर्श बनाएँगे तथा आकाश के समान असीम लालसाओं को समेट कर संतोष एवं त्याग को अपनाएँगे।

ब्यावर,

(नगरपालिका)

१७५ : जैन-दर्शन और अनेकान्त

आज इस कॉलेज हॉल में यह तीसरी बार प्रवचन हो रहा है। पिछले प्रवचनों से इस बार के प्रवचन में कुछ भिन्नता है। पिछले प्रवचन चारित्र-निर्माण व जीवन-शुद्धि के विषय को लेकर दिये गये थे जबकि इस बार दार्शनिक विषय पर प्रवचन करने लिये निमंत्रित किया गया हूँ।

मैं मानता हूँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए दार्शनिक अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि दार्शनिक अध्ययन के बिना सामने आनेवाली अनेक समस्याओं का हल समझ में नहीं आ सकता। जीवन में कुछ आगे कदम रखते ही जीवन के अनेक द्वन्द्व और विश्व की विविध विचित्रताओं को देखकर संभव है प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में इन्हें समझने की जिज्ञासा जागृत हो। उस स्थिति में इन उलझनों को सुलझाने के लिये 'दर्शन' की विशेष अपेक्षा रहती है। यही है दूसरे शब्दों में दर्शन-उत्पत्ति का प्रमुख प्रयोजन।

यद्यपि कम विचार व कम अध्ययन के कारण आज का मानव यही मान बैठा है कि विश्व वही है, जो दृश्यमान है और इसी तरह जीवन भी वही है जो स्थूल शरीर के रूप में विद्यमान है, किन्तु दर्शन का एक विद्यार्थी इस तुच्छ धारणा और नगण्य विचार से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। भारतीय दार्शनिक विचार-धारा यह सदा से उद्घोषित करती आई है कि दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त और भी कोई जगत् है तथा स्थूल शरीर के परे भी राग-द्वेष, चिन्ता, वासना, संस्कार आदि का समष्टि रूप कोई दूसरा जीवन भी है। इन सब समस्याओं का समाधान पाने के लिए दर्शन-शास्त्र का अध्ययन व मनन अत्यन्त आवश्यक है।

मैं सबसे पहले आपको यह बताने की कोशिश करूँगा कि दर्शन क्या है। यह सही है कि प्रारम्भ में दर्शन का विषय अत्यन्त रूखा व नीरस-सा प्रतीत होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी तह में पहुँचा जाता है, त्यों-त्यों वह रसीला, स्निग्ध, रुचिकर व आनन्दप्रद अनुभव होने लगता है। दर्शन की परिभाषा आप यों समझिए कि प्रत्येक चेतना की सहज वृत्ति एषणा है। चेतना का स्वभाव ही ऐसा कि वह कुछ न कुछ अन्वेषण (खोज) करती रहती है। यह एषणा-वृत्ति सिर्फ मानव तक ही सीमित नहीं बल्कि पशु-पक्षी भी एषणा वृत्ति के कारण कुछ न कुछ अन्वेषण करते रहते हैं। वास्तव में, परमार्थ क्या है? शास्त्रों में बतलाया गया है—"अप्पणा सच्च मेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए" अर्थात् सत्य का अन्वेषण करना और प्राणिमात्र के साथ मैत्री रखना यह दर्शन का मूल सूत्र है। यों एषणा दो भागों में विभक्त की गई है—

एक लोकेषणा तथा दूसरी सत्येषणा। वित्तेषणा, सुतेषणा आदि लोकेषणा के अन्तर्गत है। आज मुझे लोकेषणा के विषय में कुछ भी नहीं कहना है। आज जो विवेच्य विषय है वह है सत्येषणा। सत्येषणा का अर्थ है ; सत्य की खोज। इस उदार और महान् लक्ष्य को हृदयंगम कर भारतीय ऋषि-महर्षियों ने सत्य की खोज करने में अपना अमूल्य जीवन लगा दिया। परिणामतः उन्होंने एक अमूल्य तत्त्व को ढूँढ़ निकाला। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया। यह साक्षात्कार ही साधारणतया दर्शन शब्द की वास्तविक और मुख्य परिभाषा है। आज हमारे सामने जो दर्शन की उपलब्ध स्थिति है उसे हम स्पष्ट करें तो कहना होगा कि सत्य के साक्षात्कारी वीतराग ऋषि-महर्षियों ने अपनी वाणी द्वारा सत्य का जो प्रतिपादन किया वह सब दर्शन बन गया। अतः दूसरे शब्दों में हम दर्शन की परिभाषा करें तो यों की जा सकती है कि जो वीतरागों की स्वानुभूत सत्यमूलक वाणी है, उसका ही नाम दर्शन है।

प्रश्न उठता है जब दर्शन का मुख्य अर्थ सत्य का अन्वेषण, सत्य का साक्षात्कार तथा सर्व दोष मुक्त वीतरागों की वाणी है, तो दर्शनों में परस्पर इतने विभेद क्यों हैं? एक दर्शन पूर्व की ओर जाता है तो एक पश्चिम की ओर। इन विभेदों को देखकर विचारा जिज्ञासु दिग्भ्रान्त हुआ किसी एक निर्णय पर पहुँचा जाय, इसमें कैसे विश्वास किया जाय? मैं मानता हूँ—दर्शन जगत् में परस्पर मतभेद विद्यमान हैं मगर सोचना यह है कि जो दर्शन शब्द से अभिहित किये जाते हैं क्या वे वास्तव में सबके सब दर्शन हैं? दर्शन एक ऐसा गूढ़ और प्रसिद्ध शब्द बन गया है कि जिसके कारण पूर्वोक्त परिभाषाहीन जिस किसी के द्वारा कथित शब्दावली को स्वार्थियों ने दर्शन के लेबल से मण्डित कर दिया! ये सब मेरे विचार में दर्शन नहीं, दर्शनाभास हैं।

अब यदि अपेक्षावादी दृष्टिकोण से कुछ विचार कर देखा जाय तो मुख्यतः दर्शनों में जो अन्तर देखा जाता है वह बहुधा बहुत कम मौलिक तथा परिभाषाओं और शब्दों में अधिक है।

उदाहरणतः बौद्ध दर्शन हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय (जिनको कि दूसरे शब्दों में दुःख, समुदाय, मार्ग और निरोध, कहा जाता है) इन चार को आर्य सत्यों के रूप में प्रतिपादित करता है। इन्हीं तत्त्वों को जैन-दर्शन शब्दभेद से क्रमशः बंध, आस्रव मोक्ष और संवर तथा निर्जरा के रूप में प्रतिपादित करता है। सिर्फ शब्दभेद के अतिरिक्त तात्त्विक सामंजस्य में कोई मतभेद नहीं। जैन-दर्शन का बन्ध, बन्धन है अतः हेय या दुःख है। इसी तरह आस्रव, बन्धन हेतु है इसलिये हेयहेतु या समुदय है। मोक्ष बन्धनातीत अवस्था

है अतः हान या निरोध है तथा संवर-निर्जरा बन्धन तोड़ने के कारण हैं अतः हानोपाय या मार्ग हैं। कम सोचनेवाले जैन या बौद्धदर्शन के अध्ययनशील व्यक्ति इस शब्दभेद को लेकर दोनों दर्शनों में परस्पर विरोधी तत्त्व होने का आरोप लगाएँगे। लेकिन तथ्य यह है कि केवल पारिभाषिक मतभेद के अलावा तात्त्विक मतभेद नाममात्र को भी नहीं है। यही क्यों? वैदिक साहित्य का भी उदाहरण लीजिए। जैन-साहित्य में कहा गया है:

आस्रवो बन्ध हेतुः स्यात्,
संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिः
शेषं सर्वं प्रपञ्चनम्॥

अपनी असत् प्रवृत्तियाँ बन्धन का कारण हैं और उन असत् प्रवृत्तियों का अवरोध मोक्ष का कारण है। इसके अलावा अन्य सब प्रपंच मात्र हैं। इन्हीं वाक्यों को उपनिषद् साहित्य में इस प्रकार दुहराया गया है:—

अविद्या बन्धहेतुः स्याद् विद्या स्याद् मोक्षकारणम्।

अर्थात् 'अविद्या' और 'आस्रव' तथा 'विद्या' और 'संवर' में सिवाय शब्द भेद के और कोई पारमार्थिक अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार उपनिषदों में कहा गया है: 'एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति', तथा 'य आत्मवित् स सर्ववित्।' इन्हीं वाक्यों को जैन-साहित्य में 'जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ' शब्दान्तर से इस प्रकार दुहराया गया है। इन वाक्यों का अर्थ है—जिसने आत्मा आदि एक पदार्थ को समस्त पहलुओं से जान लिया है उसने एक आत्मा को ही नहीं बल्कि समस्त ज्ञेय पदार्थों को जान लिया है। इस तरह सामंजस्य की दृष्टि से अन्वेषण करने पर यह प्रमाणित होता है कि बहुधा परिभाषिक भेद के अलावा दर्शन में मौलिक अन्तर बहुत ही कम है। वास्तव में योगी प्रत्यक्ष के द्वारा जो प्रवचन स्रोत प्रवाहित हुआ है वही दर्शन है और वही मुख्यतः दर्शन की परिभाषा है।

दर्शन सत्य का साक्षात्कार होते हुए भी परस्पर दर्शनों में जो विभेद, झगड़े, संघर्ष, टक्कर और विग्रह देखे जाते हैं वे सब कृत्रिम, अहंजन्य तथा पारस्परिक खींचा-तानी व अनुदारता के परिणाम हैं। प्रश्न उठता है, क्या इन्हें मिटाकर परस्पर समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकता? इसी प्रश्न की जिज्ञासा में जो एक प्रकाशपुञ्ज दिखाई देता है वह है स्याद्वाद के रूप में अपेक्षा-दृष्टि या अनेकान्तवाद।

अनेकान्तवाद, जैन-दर्शन की या यों कहें समस्त दार्शनिक जगत् की एक सर्वथा मौलिक विचार-पद्धति है। इस सुसंगत पद्धति के द्वारा ही विविधता में एकता और

एकता में विविधता का दर्शन कराया जा सकता है। इसीसे ही सर्वदर्शन-समन्वय की गति को आगे बढ़ाया जा सकता है। अपेक्षा-दृष्टि से सब दर्शनों के भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से प्रतिपादित किये गये तत्त्वों को मिलाना, उनका संयोजन या एकत्व करना, इसे ही कहते हैं अपेक्षावाद। दूसरे शब्दों में इसीको कहते हैं जैन दर्शन। अभी-अभी पश्चिम से जो सापेक्षवाद आया है उसमें यहाँ के लोगों की विशेष अभिरुचि व दिलचस्पी है। विश्व के महान् वैज्ञानिक प्रो० आइन्सटीन इसके प्रवर्तक हैं। आज उसकी विशेष चर्चा है। मगर अचरज इस बात का है कि जो अपेक्षादृष्टि अपने घर की पूँजी थी, जो भारत की आत्मा में घुलीमिली थी उसको लोग भूल गये। मैं सबसे अनुरोध करूँगा कि वे इस तथ्य की उपेक्षा न कर अपने घर की पूँजी को टटोलें, देखें चिन्तन, मनन और अध्ययन करें।

जैन-दर्शन पदार्थ-बहुत्ववादी है। वह अनन्त, वास्तविक, मौलिक अखंड पदार्थों को स्वीकार करता है। अचेतन और चेतन ये प्रत्यक्ष दो पदार्थ हैं। दो से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इस तरह छह या नव हो सकते हैं और इनसे फिर अनेक भेद किये जा सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है : जैन-दर्शन पदार्थ को नित्य मानता है या अनित्य ? जैन-दर्शन पदार्थ को न केवल नित्य ही मानता है और न केवल अनित्य, अपितु दोनों का समन्वय कर परिणामी नित्यत्ववाद की स्थापना करता है। इसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी, अर्थात् पदार्थ के शाश्वत रहते हुए भी उसमें प्रतिक्षण अवस्थान्तर होता रहता है। पदार्थ उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी तथा उस परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता, वह विद्यमान रहता है। पदार्थ को ही शब्दान्तर से 'सत्' कहा जाता है। सत् वही कहलाता है जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाए जाते हैं। ताज्जुब होगा कि जो नित्य है उसमें परिवर्तन कैसे हो सकता है। देखिये आप अपना ही उदाहरण लीजिये—*आप में प्रतिक्षण नई-नई अवस्थाएँ आ रही हैं* और पूर्ववर्ती अवस्थाएँ विनष्ट हो रही हैं फिर भी आपका जो अस्तित्व है उसको कोई खतरा नहीं रहता ; वह ज्यों का त्यों अपने नित्यत्व रूप में अवस्थित है। प्रत्येक मनुष्य में बाल, युवा और वृद्ध रूप में तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय होता रहता है, फिर भी मनुष्य में मनुष्यत्व वही का वही रहता है, उसका कभी नाश नहीं होता। इसी प्रकार स्वर्ण के कंकण रूप में उत्पाद तथा कटक रूप में विनाश होने पर भी स्वर्ण का स्वर्णत्व स्वरूप सदा स्थिर, शाश्वत व नित्य रहता है इसलिये इन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जैन-दर्शन पदार्थ को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य न मानकर परिणामी नित्यत्व मानता है।

जैन-दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तात्मक है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण व अवस्थाओं का पिण्ड है। दीप से लेकर आकाश तक के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सब पदार्थों में अनन्त गुण व अनन्त अवस्थाएँ जुड़ी हुई हैं। यह असम्भव है कि मनुष्य पदार्थ के समस्त धर्म स्वयं अवस्थाओं का वर्णन एकदम या एक साथ एक क्षण में कर सके। उदाहरणतः एक व्यक्ति कलाकार, वक्ता तथा लेखक है; मगर एक साथ हम उसको कलाकार, वक्ता व लेखक नहीं बतला सकते। हम क्रमशः ही उसे भिन्न-भिन्न समय में कलाकार वक्ता और लेखक कह सकते हैं।

यहां यह स्वाभाविक जिज्ञासा हो सकती है कि क्या कोई ऐसी पद्धति नहीं जो पूरा वर्णन कर सके? इसी के उत्तर में बताया गया है कि 'स्यात्' एक ऐसा सांकेतिक शब्द है जिसको अभीधेय पदार्थ के साथ जोड़कर पदार्थ का पूरा वर्णन किया जा सकता है। स्यात् युक्तवाद को स्याद्वाद कहा जाता है। स्यात् का अर्थ है कथंचित् किसी दृष्टि से। किसी दृष्टि से कहते ही यह अपने आप निकल आता है कि किसी दृष्टि से अमुक पदार्थ ऐसा है; दूसरी दृष्टियों से दूसरी प्रकार का भी हो सकता है। जब किसी भी पदार्थ का सम्पन्न वर्णन नहीं किया जा सकता है ऐसी स्थिति में स्यात् शब्द की पदार्थ प्रतिपादन में कितनी बड़ी आवश्यकता है, यह अपने आप समझा जा सकता है। स्यात् शब्द यह निश्चित रूप से बताता है कि पदार्थ केवल इसी धर्म वाला ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि अविवक्षित शेष धर्मों का प्रतिनिधित्व या संरक्षण स्यात् शब्द करता है।

स्याद्वाद को पूर्ण हृदयंगम न करने के कारण कुछ विद्वानों ने 'स्यात्' शब्द के साथ बड़ा अन्याय किया है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक विचारक ने अपने शंकराभाष्य में स्याद्वाद को सम्भव व संशयवाद बतलाकर जैनों को कोसने का प्रयत्न किया है। जीव है, नहीं भी, अन्य भी, इस प्रकार वे इस गुत्थी में उलझकर, गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न न कर स्याद्वाद को ही संशयवाद कह बैठे। सोचने की बात है स्याद्वाद, संशयवाद हो भी कैसे सकता है? जब कि संशय को अप्रमाण व दोष माना गया है। मैं कहूँगा—स्याद्वाद संशयवाद नहीं, बल्कि यथार्थवाद है। वास्तव में ऐसा होना ही चाहिए। पदार्थ एक अपेक्षा से अमुक है, एक अपेक्षा से नहीं है और इसी तरह एक अपेक्षा से अमुक से भिन्न भी है। जैसे—स्यात् रूपवान घट अर्थात् चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने से या रूप गुण की सत्ता होने से घड़ा रूपवान है पर केवल रूपवान ही नहीं है उसमें रस, गंध, स्पर्श आदि अनेक गुण और भी विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणों की रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। संशय तो उसे कहते हैं जहाँ दूर पड़ी किसी वस्तु का प्रकाशादि के अभाव में पूरा विश्वास न होने के कारण रज्जुर्वा, सर्पोवा, (यह रस्सी है या सर्प) इस प्रकार एक निर्णय न कर सकना। दूसरे शब्दों में संशय

वह है जहाँ एक में दो का अनुभव होना और यह है या वह है इस अनिर्णीत अवस्था में झूलते रहना। वास्तव में जहाँ स्याद्वाद को संशयवाद बतलाया गया है वहाँ स्याद्वाद के साथ अन्याय किया गया है तथा अर्थ का गला घोंटा गया है।

स्याद्वाद का ही दूसरा नाम है अनेकान्तवाद। यह मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों एवं अनन्त अवस्थाओं से जुड़ी हुई है। आश्चर्य की बात यह है कि वस्तु में जो अनन्त धर्म स्वीकार किए गए हैं उनमें केवल अविरोधी व समान धर्म ही नहीं बल्कि विरोधी व असमान धर्म भी स्वीकार किए गए हैं। अन्य योग व्यवच्छेदिका में इसी तथ्य की पुष्टि इन शब्दों में की गई है—

स्यान्नास्ति नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।

जो वस्तु नित्य है वही अनित्य है और जो अनित्य है वही नित्य है। इसी प्रकार प्रत्येक-प्रत्येक से समान भी हैं और प्रत्येक-प्रत्येक से असमान भी है। प्रत्येक वचनीय भी है और प्रत्येक अनिर्वचनीय भी। प्रत्येक है भी और नहीं भी। इन तत्त्वों को गहराई से न सोचा जाय तो अवश्य भ्रान्ति हो सकती है। क्या यह सम्भव है कि जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है? इसको हृदयंगम करने के लिये पहले यह सोचना होगा कि एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी दर्शन नित्य और अनित्य शब्द की क्या परिभाषा करते हैं? नित्यवादी दर्शन ने नित्य की परिभाषा करते हुये लिखा है—"अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैक रूपं नित्यं" अर्थात् जो न तो कभी नष्ट ही होता है और न कभी उत्पन्न ही हो, जो सदा स्थिर एक रूप रहता है उसे कहते हैं 'नित्य' और इसी परिभाषा के विपरीत अनित्यवादी दर्शन ने अनित्यकी परिभाषा करते हुये कहा है—जो क्षणभंगुर यानी निरन्वय क्षणिक, केवल उत्पाद-विनाश स्वरूप होता है उसे अनित्य कहा जाता है। अनित्य जैनदर्शन को ये दोनों ही बातें स्वीकार्य नहीं। उसकी दृष्टि में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य ही हो। उदाहरणतः दीपक की लौ को ही लीजिये। एकान्त अनित्यवादी दर्शन कहेगा—दीपक की लौ एकांत अनित्य है। वह आती है और चली जाती है। मगर जैन-दर्शन कहेगा—वह नित्य भी है क्योंकि लौ चली गई परन्तु दीपक तो वही है। इसके अलावा, लौ चली भी कहाँ गई? उसका अस्तित्व लौ के रूप में न सही, किन्तु कज्जल के परमाणुओं के रूप में तो विद्यमान ही है। लौ का अस्तित्व ही जबखत्म नहीं हुआ तब लौ एकान्त विनाशी कैसे कहा जा सकता है? इसी तरह एकान्त नित्यवादी दर्शन की दृष्टि में आकाश एकांत नित्य है। वह व्यापक है कभी नष्ट नहीं होता। मगर जैन-दर्शन की दृष्टि में आकाश भी अनित्य है। अनित्य का यह मतलब नहीं कि सर्वथा नष्ट हो जाना। अनित्य की परिभाषा की गई है : 'परिणमनमनित्यं याति

स्व स्वरूपम् । स्वस्वरूप में स्थिर रहते हुये भी वस्तु में जो परिवर्तन होता रहता है उसे कहा जाता है अनित्य। आकाश पर विचार कीजिए। उसमें परिवर्तन होता है या नहीं? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कल जो खुला आकाश था आज वहाँ मकान बन गया। फलतः आकाश खुला न रहकर बन्द आकाश हो गया। यह जो आकाश में परिवर्तन या रूपान्तर होता रहता है इसीको लेकर जैन-दर्शन आकाश को नित्य ही नहीं बल्कि अनित्य भी मानता और सिद्ध करता है। इस तरह जैन-दर्शन नित्य और अनित्य धर्म, जो न परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं, अपेक्षादृष्टि से एक वस्तु में ही स्वीकार करता है।

अनेकान्तवाद के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु प्रत्येक से समान भी है और असमान भी है। देखिए, सबकी शक्ल पृथक्-पृथक् है, किसी से मिलती नहीं। इस दृष्टि से यह साबित होता है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक मनुष्य से असमान है। इसी तरह दूसरी दृष्टि से देखें तो हमें प्रत्येक मनुष्य में समानता ही समानता मिलती है। सब मनुष्य हैं और मनुष्यता के नाते सब समान हैं। सबके हाथ की जगह हाथ और नाक-आँख की जगह नाक-आँख हैं। इस दृष्टि से यह स्वीकार्य होगा ही कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक मनुष्य के समान भी है। मनुष्य की यह समानता और असमानता सिर्फ मनुष्य तक ही सीमित नहीं बल्कि पशु व अन्य पदार्थों के साथ भी उसकी समानता व असमानता सिद्ध की जा सकती है।

प्रत्येक वस्तु वाच्य भी है और अवाच्य भी। अखण्ड वस्तु का हम प्रतिपादन नहीं कर सकते इस दृष्टि से वह अवाच्य है और वस्तु के एक-एक धर्म का प्रतिपादन कर सकते हैं इस दृष्टि से वह वाच्य है।

अनेकान्तवाद कहता है: प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। दूसरे शब्दों में कहें तो प्रत्येक वस्तु है भी और नहीं भी। प्रत्येक वस्तु स्व-रूप से है, पर-स्वरूप से नहीं। यह समझने की बात है कि प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक धर्म का विरोधी धर्म भी दृष्टि भेद से सम्भव है। जैसे—'घट स्यादस्ति एव' घट है ही अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से। जिस प्रकार घट में स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व धर्म है उसी तरह घट-व्यतिरिक्त अन्य पदार्थों का नास्तित्व भी घट में है। अगर घट-भिन्न पदार्थों का नास्तित्व घट में न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जाएँगे। अतः 'घट स्यादस्ति' और 'स्यान्नास्ति' दोनों रूपवाला है। इसी प्रकार कोई विद्वान अपनी विद्वत्ता की अपेक्षा विद्वान है मगर पड़ोसी विद्वान की विद्वत्ता की अपेक्षा से नहीं। मुझे यहाँ एक पद्य स्मरण आ रहा है:

भागे सिंहो नरो भागे, योऽर्थो भागे द्वयात्मकः।
तमभागंविभागेन, नरसिंहं प्रचक्षते॥

अवतारवाद में जो नरसिंहावतार आया है, मैं पूछूँगा—वहाँ पर यदि हम 'है भी' और 'नहीं भी' की दृष्टि का प्रयोग न करें तो क्या तथ्य तक पहुँच सकते हैं? नरसिंहावतार को हम न तो केवल सिंह ही कह सकते हैं और न केवल नर ही। इसी तरह हम यह भी नहीं कह सकते कि वह न सिंह ही है और न नर ही। इसलिये हमें यहाँ अपेक्षा दृष्टि से इस प्रकार कहना होगा कि नरसिंहावतार के एक भाग में सिंहत्व है और एक भाग में नरत्व, अतः नरसिंहावतार केवल सिंह या नर न होकर दोनों ही है।

अब सवाल यह उठ सकता है कि दूसरे दर्शनों ने ऐसा क्यों नहीं माना? इनके मतानुसार एक वस्तु में विरोधी धर्मों का सामंजस्य क्यों नहीं सिद्ध होता? इसका कारण यह है कि उनके सामने विरुद्ध धर्मध्यास की एक ऐसी जटिल समस्या नाचती रही, जिसमें वे उलझे रहे। एक वस्तु गर्म भी, ठण्डी भी, इन विरोधी धर्मों को एक साथ एक वस्तु में स्वीकार करना, उन्हें सदोष लगा। उन्हें कोई समन्वय-दृष्टि नहीं मिली जिससे वे दोष के भय से मुक्त होकर वस्तु में विरुद्ध धर्मों का सामंजस्य देख सकें। जैनदर्शन इस दोष से कभी नहीं घबराया, उसके पास अपेक्षादृष्टि थी। अपेक्षादृष्टि से ऐसा मानने में उसे कोई दिक्कत नहीं हुई।

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्राणभूत, सब जटिल व जटिलतम गुत्थियों को सुलझानेवाला एक महान् सिद्धान्त है। अनेकान्तवाद आपसी विरोधों का समन्वय द्वारा शमन कर एक नई दिशा को सूचित करता है। आचार्यों ने अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुये लिखा है :—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमंथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

जिस प्रकार व्यक्ति ने हाथी के विभिन्न अवयवों को लेकर झगड़ते हुए जात्यन्धों का संघर्ष समाप्त कर उनको हाथी का सम्पूर्ण ज्ञान करा दिया, उसी प्रकार जो दुर्नयग्रस्त एक-एक दृष्टि लेकर लड़ते हुये विभिन्न वादों का विवाद मिटाकर उनमें समन्वय स्थापित करता है उस अनेकान्तवाद को हमारा नमस्कार है।

अनेकान्तवाद का व्यावहारिक रूप क्या है? इसपर कुछ और विचार कर लें। अनेकांत के दृढ़ आधार पर हम निश्चय और व्यवहार, ज्ञान और क्रिया, कर्तव्य और धर्म का सही स्वरूप समझ कर एक नई सूझ और एक नया सामंजस्य पैदा कर सकते हैं। कई लोग केवल निश्चय को ही उपादेय समझते हैं और कई लोग व्यवहार को। इस प्रकार कई ज्ञान को ही ग्राह्य समझते हैं और कई क्रिया को। जैन-दर्शन कहता है : अपने-अपने स्थान पर सबका महत्त्व है। इसलिये किसी एक दृष्टि को पकड़ कर आग्रह करना उचित नहीं। इसी तरह अनेकांतवाद कहता है किसी व्यक्ति के लिये जो

कर्तव्य है वही दूसरे व्यक्ति के लिये किसी दृष्टि से अकर्तव्य हो सकता है। यह ठीक है कि धर्म सब कर्तव्य हैं मगर यह कभी नहीं हो सकता कि कर्तव्य सब धर्म हो जाय। इस तरह व्यवहार में अनेकांतदृष्टि से सब दृष्टियों का मेल कर बहुत कुछ सामंजस्य उत्पन्न किया जा सकता है।

आज अनेकान्तवाद के अध्ययन, मनन और मन्थन की बहुत बड़ी आवश्यकता है। आप पूछेंगे लाभ क्या है? देखिए—सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि उसके अध्ययन से आपकी दृष्टि माध्यस्थ हो जायगी। माध्यस्थ दृष्टि के होने से आपमें आग्रह की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। आप किसी वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न वर्णन सुनकर यही सोचेंगे कि किसी दृष्टि से ऐसा होना भी संभव है और किसी दृष्टि से ऐसा होना भी। दूसरा लाभ जो है वह है बौद्धिक अहिंसा। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को भी समझाने की चेष्टा करो। यही है अपेक्षावाद। यही अनेकान्त दृष्टि है और इसी का नाम बौद्धिक अहिंसा है। केवल दार्शनिक संघर्ष ही इस दृष्टि से नहीं सुलझते अपितु राजनैतिक, सामाजिक तथा कौटुम्बिक संघर्ष भी इस बौद्धिक दृष्टि का विकास कर सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते हैं। संघर्ष और विभेद कारण आग्रह ही है। किसी में कुछ और किसी में कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस दृष्टि को लेकर हर क्षेत्र में बौद्धिक अहिंसा-दृष्टि का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। जब तक मानव हृदय में बौद्धिक अहिंसा का अवतरण नहीं होता तब तक वह किसी दूसरे धर्म के प्रति सहिष्णु, उदार और विशाल नहीं बन सकता। 'हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैन-मन्दिरम्' यह बौद्धिक अहिंसा को न अपनाने और न समझने का ही दुष्परिणाम है। जहाँ बौद्धिक अहिंसा नहीं वहाँ संकीर्णता और असहिष्णुता का नग्न-नृत्य होता रहता है। इसी प्रकार गीता के इस 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' पद्य को लेकर कुछ लोग स्वार्थवश धार्मिक असहिष्णुता का परिचय देते रहते हैं। यह दुराग्रह का द्योतक है। वास्तव में गीता का यह पद्य मुझे बहुत सुन्दर लगता है। इसका अर्थ भी बड़ा व्यापक और असंकीर्ण है। मगर स्वार्थी व आग्रही लोग इसका अर्थ बड़ा खतरनाक समझते हैं। वे कहते हैं—भाइयो! जिस धर्म में पैदा हुए हो उसी धर्म में स्थित रहकर मर जाना भी श्रेयस्कर है। किन्तु उसको त्याग कर धर्म ग्रहण करना महान् भयंकर है। क्या कभी बाप और गुरु भी एक जन्म में दो किये जा सकते हैं? वास्तव में मैं इसका यह अर्थ मानने को कभी तैयार नहीं। मेरी दृष्टि से इसका अर्थ इस प्रकार है—स्वधर्म अर्थात् आत्म स्वभाव—अहिंसा, सत्य, मैत्री, नीति, सदाचार आदि में स्थिर रहते मर जाना परम श्रेय है। मगर इनको छोड़ जो पर धर्म यानी आत्मातिरिक्त स्वभाव, अर्थात् हिंसा, झूठ, अनीति, दुराचार, पाप आदि हैं, उनमें प्रविष्ट होना महान् खतरा और अत्यन्त भयावह है। वास्तव में यह साम्प्रदायिक अभिनिवेश ही पारस्परिक संघर्ष, विग्रह

व झगड़ों का एकमात्र कारण है। बौद्धिक अहिंसा हमें सिखाती है कि हम प्रत्येक विचार-धारा को सहिष्णुता और उदार हृदय बनकर सुनें, मनन करें और उसमें जो ग्राह्य हो उसको ग्रहण करें।

अन्त में मैं उपस्थित दर्शन-साहित्य के अध्ययनशील जिज्ञासु प्रवक्ताओं व विद्यार्थियों से यही अनुरोध करूँगा कि वे भारतीय मौलिक विचारधाराओं का गहराईपूर्वक अभ्यास, अध्ययन और अन्वेषण करें। मैं आशा करता हूँ कि स्याद्वाद, पारस्परिक खींचतान व विग्रह को मिटाकर जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझानेवाला दार्शनिक जगत्का एक अलौकिक सिद्धान्त है। उसके गहन गम्भीर रहस्य को आप हृदयंगम करें। यह जो व्याख्यानमाला प्रारम्भ की गई है, उसमें गहरे दिल से यदि आप पैठें तो दार्शनिक मीमांसा व नवशोध द्वारा बहुत कुछ लाभ उठा सकेंगे।

जोधपुर,

(राजपूताना विश्वविद्यालय : दार्शनिक व्याख्यानमाला)